॥श्रीमद्भगवद्गीता॥

॥यथार्थ गीता॥

५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००

वर्षाणां
दीर्घान्तरालानन्तरं
श्रीमद्भगवद्गीतायाः
शाश्वती व्याख्या

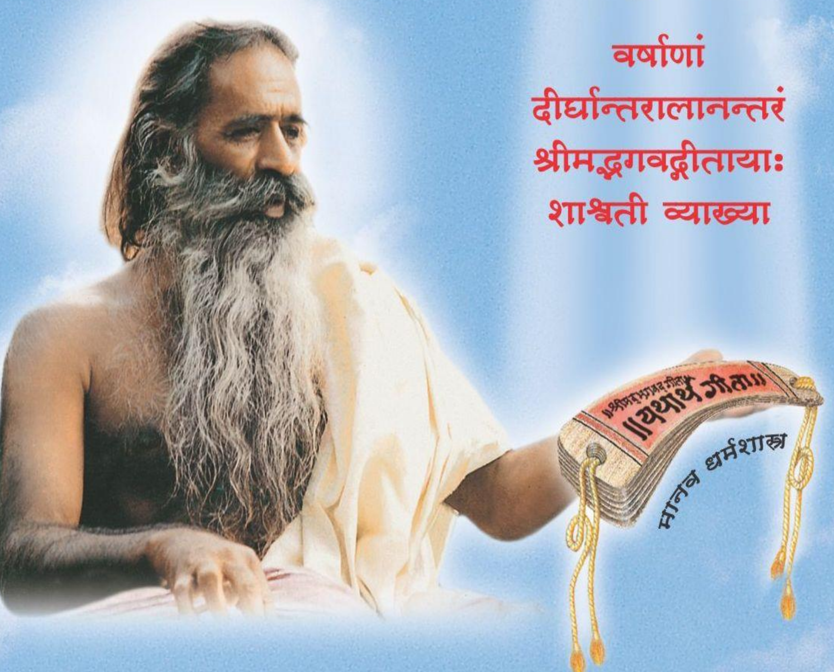

॥श्रीमद्भगवद्गीता॥

॥यथार्थ गीता॥

मानव धर्मशास्त्र

स्वामी अड़गड़ानन्द

SANKRIT

लेखक प्रति ...

'यथार्थगीतायाः लेखकोस्त्येकः सत्पुरुषः, यः शैक्षिकोपाधिभिरसम्बद्धोऽपि सद्गुरुकृपास्वरूपेश्वरीयादेशैः सञ्चालितोऽस्ति। सत्पुरुषोऽयं लेखनम्, साधनायां-भजने च व्यवधानं मन्यमान आसीत्; किन्तु गीताया भाष्येऽस्मिन्निर्देशनमेव निमित्तं बभूव। परमात्मा भवन्तमनुभव-माध्यमेनासूचयत्, यद्भवतः सर्वा वृत्तयोऽअभूवन् शान्ताः, केवलं लघुतमैका वृत्तिरस्ति शेषा, गीतायाः लेखनम्। आदौ तु स्वामिचरणा इमां वृत्तिं भजनेन छेत्तुं प्रयत्नं कृतवन्तः, किन्तु शेषायां वृत्तौ गीताभाष्यलेखनमभवदपरिहार्यं भगवदादेशेन। भाष्यं यत्रापि जाता त्रुटिः, भगवान् शोध्यते। स्वामिनः स्वान्तः सुखायेयं कृतिः सर्वान्तः सुखाय भूयात्, अनया शुभकामनया सह-

-प्रकाशक पक्षतः

||ॐ श्रीगुरवे नमः||

श्रीमद्भगवद्गीता

यथार्थगीता

व्याख्याकारः
परमपूज्यस्य श्रीपरमहंसमहाराज्ञः कृपाप्रसादः
स्वामी श्रीअड़गड़ानन्दः
श्री परमहंस आश्रम
ग्राम-पत्रालयः-शक्तेषगढ़, जिला-मीरजापुर
उत्तर प्रदेश, भारत
फोन : (०५४४३) २३८०४०

प्रकाशकः

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी पूर्व, मुम्बई – 400069
फोन – (022) 28255300 ई–मेल–contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट–www.yatharthgeeta.com

भगवान् श्रीकृष्णो यस्मिन् काले गीतायाः सदुपदेशं प्रादात्, तदानीं तस्य मनोभावाः कीदृशा आसन्? ते सर्वे मनोगता भावा वक्तुं न शक्यन्ते। केचन सन्ति भावा वर्णयितुं योग्याः केचन भावभङ्गिमयैव प्रकटयितुमर्हाः, अपरे शेषा भावाः क्रियात्मकाः सन्ति, तान् भावान् कोऽपि जनस्तत्पथमारुह्यैव ज्ञातुं शक्नोति। यस्मिन् स्तरे श्रीकृष्ण आसीत्, तदेव स्तरमात्मसात् कृत्वैव कश्चित् साधनाधनो महापुरुष एव जानाति, यत् गीता किं कथयति? स महापुरुषो गीतायाः वाक्यमेव वारम्वारं नावर्त्तयति, प्रत्युत् गीतोक्तभावान् स्पष्टरूपेण दर्शयति। कुतोहि या स्थितिः कृष्णस्य समक्षमासीत् सैव स्थितिस्तस्य महापुरुषस्य पुरतश्चकास्ति। एतस्मादेव स महापुरुषः सन्निरीक्षते जनान् दर्शयिष्यति, जनेषु तत् सञ्जागरयिष्यति च तत्पथे चालयिष्यत्यपि।

पूज्यश्रीपरमहंसजी महाराजा अपि तत् स्तरस्यैव महापुरुषा आसन्। तेषां वाणीभिरन्तः प्रेरणाभिश्च गीतायाः, योऽर्थः सम्प्राप्तः, तस्यैव संकलनं 'यथार्थगीता' अस्ति।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

हमारे प्रकाशन

पुस्तकें		भाषा
यथार्थ गीता	❖ भारतीय भाषायें	हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, उर्दू, संस्कृत, उड़िया, बंगला, तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़, आसामी, सिन्धी।
	❖ विदेशी भाषायें	अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, नेपाली, स्पेनीश, फारसी,डच, नार्वेजीयन, चायनीज, इटालियन, रूसी, पुर्तगाली।
शंका समाधान		हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी।
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति		हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी।
अंग क्यों फड़कते हैं? क्या कहते हैं?		हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, जर्मन।
अनछुये प्रश्न		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
एकलव्य का अंगूठा		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
भजन किसका करें?		हिन्दी, मराठी, गुजराती, जर्मन, अंग्रेजी, नेपाली।
योगशास्त्रीय प्राणायाम		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
षोडशोपचार पूजन-पद्धती		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
योगदर्शन-प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या		हिन्दी, गुजराती, संस्कृत।
ग्लोरिस् ऑफ योगा		अंग्रेजी।
प्रश्न समाज के – उत्तर गीता से		हिन्दी।
बारहमासी		हिन्दी।
अहिंसा का स्वरुप		हिन्दी, मराठी, गुजराती, नेपाली।

ऑडियो कैसेट्स

यथार्थ गीता	हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी।
अमृतवाणी (श्री स्वामीजी के मुखारविन्द से नि:सृत अमृतवाणियों का संकलन वाल्यूम १ से ६० तक।)	हिन्दी।
गुरुवंदना (आरती)	

ऑडियोसीडीज् (Mp3)

यथार्थ गीता	हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी, जर्मन, बंगला।
अमृतवाणी	हिन्दी।

© सर्वाधिकार-लेखक
(उपरोक्त पुस्तकों का कोई भी अंश प्रकाशन, रिकार्डिंग, प्रतिलिपि प्रकाशन तथा संशोधन बिना लेखक की अनुमति के वर्जित है।)

अनन्तश्री विभूषितस्य

योगिराजस्य, युगपितामहस्य

परमपूज्यश्रीस्वामिनः परमानन्दजी सन्तशिरोमणेः

श्रीपरमहंस आश्रम अनुसुइया (चित्रकूटस्य)

परमपावन चरणेषु सादरं समर्पितम्।

–अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।

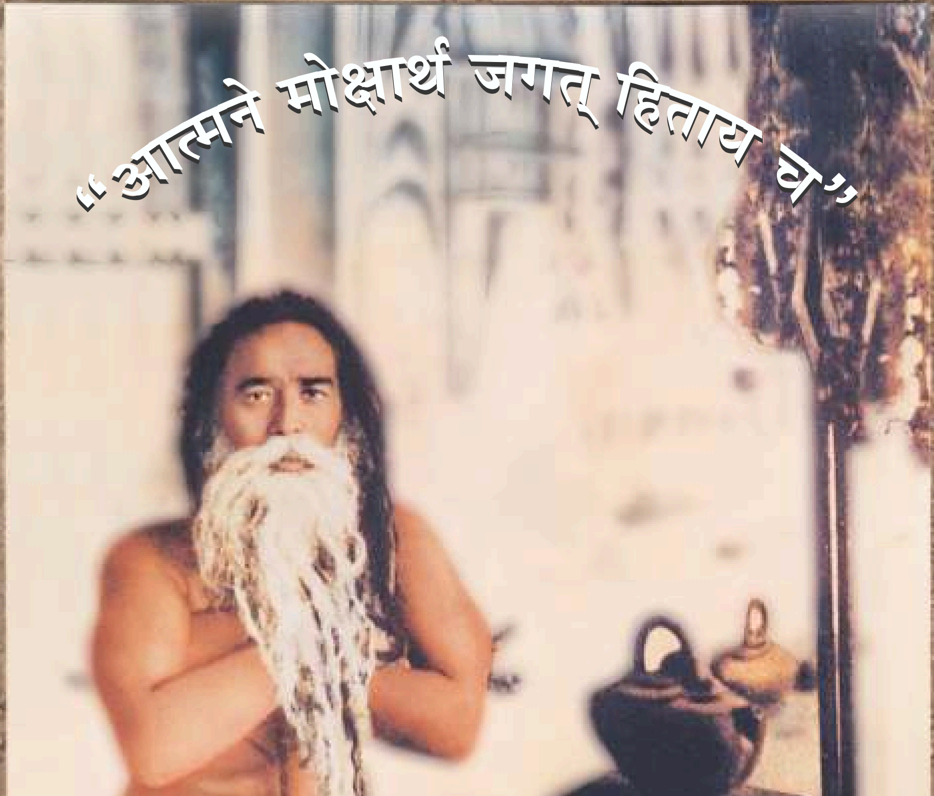

श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

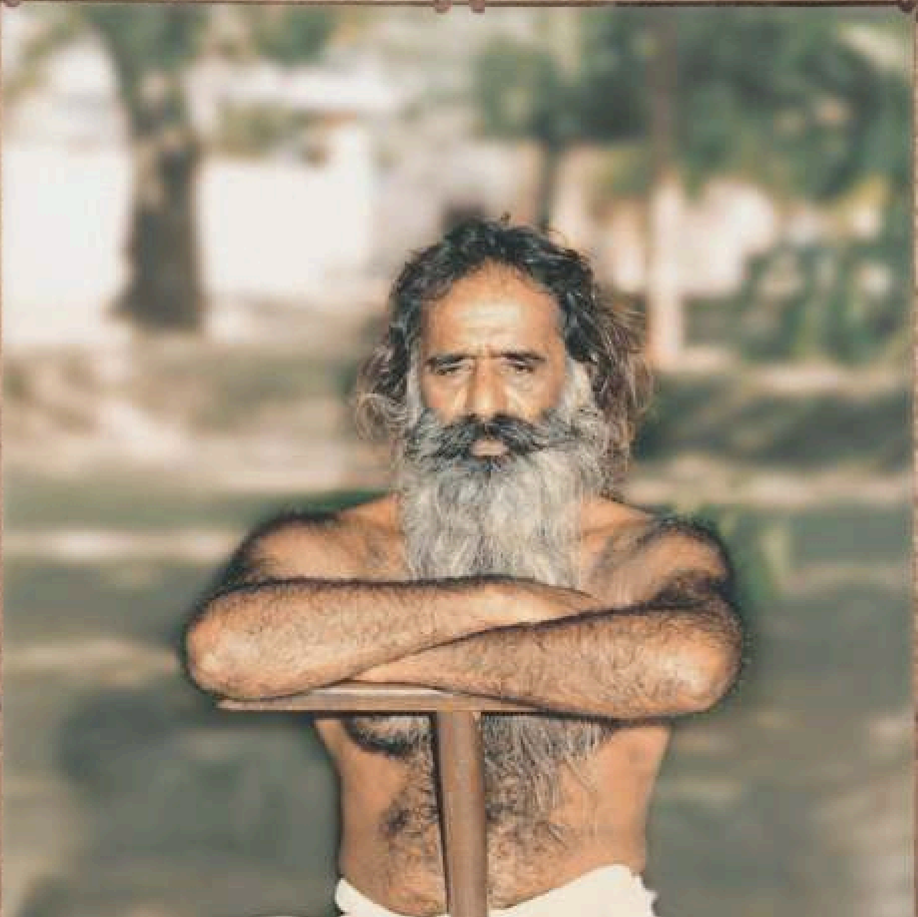

श्री स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज

(परमहंस महाराज का कृपा–प्रसाद)

श्री हरि की वाणी
वीतराग परमहंसों का आधार
आदिशास्त्र गीता- संत मत

१०-२-२००७- तृतीय विश्वहिन्दू सम्मेलन दिनांक १०-११-१२-१३ फरवरी २००७ के अवसर पर अर्धकुम्भ २००७ प्रयाग भारत में प्रवासी एवं अप्रवासी भारतीयों के विश्व सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर विश्व हिन्दु परिषद ने ग्यारहवी धर्मसंसद में पारीत गीता हमारा धर्मशास्त्र है प्रस्ताव के परिप्रेक्ष्य में गीता को सदैव से विद्यमान भारत का गुरुग्रन्थ कहते हुए यथार्थ गीता को इसका शाश्वत भाष्य उद्घोषित किया तथा इसके अन्तर्राष्ट्रीय मानव धर्मशास्त्र की उपयोगिता रखने वाला शास्त्र कहा।

(अशोक सिंहल)
अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष–विश्व हिन्दू परिषद

॥ श्री काशीविश्वनाथो विजयते ॥

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्रार्थविद्यावतार-विश्वविश्रुत-महामहोपाध्यायादिविरुदविभूषक
पण्डितसम्राट-प्रातःस्मरणीय श्री शिवकुमारशास्त्रिमिश्रप्रतिष्ठापिता
वाराणसेयसर्वविधविद्वत्समाज-प्रतिनिधिभूता-

श्री काशीविद्वत्परिषद्

टे.नं. : २४५२११३
मो. : ९४१५२८५८५६

पत्राचार कार्यालय :
डी.१७/५८, दशाश्वमेध,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश,
भारत

दिनांक 1.3.04

१-३-२००५- भारत की सर्वोच्च श्री काशी विद्वतपरिषद ने दिनांक १-३-२००४ को "श्रीमद् भगवद् गीता" को आदि मनुस्मृति तथा वेदों को इसी का विस्तार मानते हुए विश्वमानव का धर्मशास्त्र और यथार्थ गीता को परिभाषा के रूप में स्वीकार किया और यह उद्घोषित किया कि धर्म और धर्मशास्त्र अपरिवर्तनशील होने से आदिकाल से धर्मशास्त्र "श्रीमद् भगवद् गीता" ही रही है।

गणेशदत्त शास्त्री
मंत्री
श्री काशीविद्वत्परिषद
भारत

आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी दर्शनरत्नम वाचस्पति
अध्यक्ष
श्री काशीविद्वत्परिषद
भारत

विश्व धर्म संसद
WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

३-१-२००१- विश्वधर्म संसद में विश्व मानव धर्मशास्त्र "श्रीमद् भगवद् गीता" के भाष्य यथार्थ गीता पर परम पूज्य परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज जी को प्रयाग के परमपावन पर्व महाकुम्भ के अवसर पर विश्वगुरु की उपाधि से विभूषित किया।

२-४-१९९८- मानवमात्र का धर्मशास्त्र "श्रीमद् भगवद् गीता" की विशुद्ध व्याख्या यथार्थ गीता के लिए धर्मसंसद द्वारा हरिद्वार में महाकुम्भ के अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में परमपूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी महाराज को भारत गौरव के सम्मान से विभूषित किया गया।

१-४-१९९८- बीसवी शताब्दी के अन्तिम महाकुम्भ के अवसर पर हरिद्वार के समस्त शंकराचार्यो महामण्डलेश्वरो ब्राह्मण महासभा और ४४ देशों के धर्मशील विद्वानों की उपस्थिति में विश्व धर्म संसद द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में पूज्य स्वामी जी को "श्रीमद् भगवद् गीता" धर्मशास्त्र (भाष्य यथार्थ गीता) के द्वारा विश्व के विकास में अद्वितीय योगदान हेतु "विश्वगौरव" सम्मान प्रदान किया गया।

26-1-2001

Chairman
Presentation Committee
or
Presiding Authority

महाकुम्भ मेला
प्रयाग

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman (Indian Region)
World Religious Parliament

माननीय उच्च न्यायालय इलाहाबाद का ऐतिहासिक निर्णय

माननीय उच्चन्यायालय इलाहाबाद ने रिट याचिका संख्या ५६४४७ सन २००३ श्यामलरंजन मुखर्जी वनाम निर्मलरंजन मुखर्जी एवं अन्य के प्रकरण में अपने निर्णय दिनांक ३० अगस्त २००७ को "श्रीमद् भगवद् गीता" को समस्त विश्व का धर्मशास्त्र मानते हुए राष्ट्रीय धर्मशास्त्र की मान्यता देने की संस्तुति की है। अपने निर्णय के प्रस्तर ११५ से १२३ में माननीय न्यायालय ने विभिन्न गीता भाष्यों पर विचार करते हुए यथार्थ गीता को इसके सम्यक एवं युगानुकुल भाष्य के रुप में मान्य करते हुए धर्म, कर्म, यज्ञ, योग आदि को परिभाषा के आधार पर इसे जाति पाति मजहब सम्प्रदाय देश व काल से परे मानवमात्र का धर्मशास्त्र माना जिसके माध्यम से लौकिक व पारलौकिक दोनों समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

नोट - उपरोक्त निर्णय माननीय उच्च न्यायालय ईलाहाबाद की बेवसाईट पर उपलब्ध है।

Extract from Historical Judgment of Hon'ble High Court, Allahabad

Hon'ble Mr. Justice S.N. Srivastava, (in his judgment dated 30.8.2007 passed in writ petition No. 56447 of 2003 Shyamal Ranjan Mukherjee Vs. Nirmal Ranjan Mukherjee & others) has been pleased to hold that:

"Shrimadbhagwad Gita is a Dharmshastra not only for Hindu but for all human beings. Message of Gita is relevant for all Religions of the world and is not limited for any particular Religion".

"Yatharth Geeta" by Swami Adgadanandji Maharaj, a great saint of India,is Dharm and Dharmshastra for all, irrespective of their caste, creed, race, religion, Dharm & community and is for all times and space.

N.B.:- The aforesaid decision is available on the Website:

http://www.allahabadhighcourt.in

गीता मानवमात्रस्य धर्मशास्त्रमस्ति–महर्षिवेदव्यासः

श्रीकृष्णकालिकं महर्षिवेदव्यासात्पूर्वं किमपि शास्त्रं पुस्तकरूपेण नोपलब्धमासीत्। श्रुतज्ञानस्येमां परम्परां भञ्जयन्नसौ वेदचतुष्टयम्, ब्रह्मसूत्रम्, महाभारतम्, भागवतमेवं गीता सदृशेषु ग्रन्थेषु पूर्वसञ्चितभौतिकस्य तथाऽ–ध्यात्मिकस्य च ज्ञानराशिं संकलितं कृत्वा परिणामेऽर्थादन्ते स्वयमेव निर्णयं दत्तवान् यत् '**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः**' सर्वेषां वेदानां प्राणभूता, उपनिषदां सारभूता, वरीवर्ति गीता–यां गोपालः श्रीकृष्णो दुदोह, अशान्तं जीवं परमात्मनः दर्शनोन्मुखसाधनस्य स्थितिं, शाश्वत शान्तेः स्थितिं यावदानयत्। असौ महापुरुषः स्वकृतिषु गीतां शास्त्रस्य संज्ञां ददानः स्तुतिं कृतवान् सगर्जं घोषितवान् च– ''**गीता सुगीता कर्त्तव्या**'' गीता सम्यगध्ययनानन्तरं हृदये धारणार्हा। या पद्मनाभस्य भगवतः श्रीमुखान्निसृता वाण्यस्ति पुनरन्यशास्त्राणां संग्रहस्य किं प्रयोजनम्?

गीतायाः सारांशो निम्नश्लोकेन व्यज्यते–

एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतं
एको देवो देवकीपुत्र एव।।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

अर्थादेकमेवशास्त्रमस्ति यत् देवकीपुत्रस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य श्रीमुखाद्गायिता सैव गीता, एक एव प्राप्तव्यो देवो। तस्मिन् गायने यत् सत्यं प्रतिपादितं तदेवास्त्यात्मा। आत्मानं ऋते किमप्यपरं शाश्वतं नास्ति। तस्मिन् गायने स महायोगेश्वरः किं जपनाय कथितवान्? ओम्। अर्जुन ! 'ओम्' अक्षय परमात्मनो नामाऽस्ति, तस्य जपं कुरु ध्यानञ्च मम धारय। गीतायां वर्णितो धर्म एक एवाऽस्ति परमदेवस्यैकस्य परमात्मनः सेवा। तं श्रद्धया स्वहृदये निधेहि।

अस्तु, प्रारम्भत एव गीता भवतां शास्त्रं समासीत्। भगवतः श्रीकृष्णस्य सहस्त्रवर्षानन्तरं परवर्त्तिनो ये महापुरुषा एकमेवेश्वरं सत्यमब्रुवन्, ते सर्वे गीतायाः सन्देशवाहका आसन्। ईश्वरादेव लौकिकतथापारलौकिकसुखानां कामनाविधानम्, ईश्वराद्भयकरणम्, अन्य कमपि ईश्वरं न स्वीकरणम्, इयज्जावत सर्वे महापुरुषाः शिक्षितवन्तः किन्तु ईश्वरीयसाधना, ईश्वरं यावत् गन्तुं लक्ष्यनिर्धारणमेतत् सर्वं केवलं गीतायामेव साङ्गोपाङ्गं क्रमबद्धं सुरक्षितं वर्तते। गीतातः सुखशान्तिस्तु मिलत्येव किन्त्वीयमक्षयमनामयं पदमपि ददाति। पश्यन्तु गीतायाः प्राप्त गौरवप्राप्ताटीका '**यथार्थगीता**'।

यद्यपि संसारे सर्वत्र गीतायाः समादरो वर्तते, पुनरपीयं कस्यचिद्धर्मस्य सम्प्रदायस्य वा साहित्यपदं न प्राप्तवती। कुतोहि सम्प्रदायाः, ययाऽपिकयाचिद्रूढ्या निबद्धाः सन्ति। भारते प्रादुर्भूता गीता विश्वमनीषायाः न्यासभूता विराजते। अतोह्यस्यै राष्ट्रियशास्त्रस्य सम्मानं समर्प्य उत्तमाधमयोः (ऊँच-नीच), भेदभावस्य तथा कलहपरम्परातः पीडितविश्वस्य सम्पूर्णजनताभ्यः शान्तिप्रदानाय प्रयासः करणीयः।

धर्मसिद्धान्तः- एकः

१. सर्वे जीवाः प्रभुपुत्राः सन्ति-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।१५/७।।

सर्वे मानवा ईश्वरस्य सन्ततयः सन्ति।

२. मानवशरीरस्य सार्थकत्वम्-

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।९/३३।।

आनन्दविरहितं नश्वरमपि दुर्लभं मानवशरीरं लब्ध्वा मां भजस्व, अर्थात् भजनस्याधिकारो मानवशरीरधारिणामेवाऽस्ति।

३. मनुष्यस्य केवले द्वे जात्यौ स्तः-

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।१६/६।।

मनुष्याः केवलं द्विप्रकारकाः सन्ति, देवास्तथाचासुराः। यस्य हृदये दैवीसम्पत् कार्यं करोति स देवता, यत्रासुरीसम्पत् कार्यं करोति स असुरः, तृतीया काऽपि जातिः सृष्टौ न विद्यते।

४. निखिलकामनापूर्तिः परमात्मनः सुलभाः-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।९/२०।।

मामुपास्य जनाः स्वर्गमपि वाञ्छन्ति, अहमपि तेभ्यः स्वर्गं वितरामि अर्थात् सर्वे कामा ईश्वरात् सन्ति सुलभाः।

५. भगवतः शरणागत्या पापक्षयः-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।४/३६।।

सकलपापजनेभ्योऽधिकाधिकं पापं कुर्वाणोऽपि जनः ज्ञानरूपया नौकया पारं गच्छत्यसंशयम्।

६. ज्ञानम्-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१३/११।।

आत्मन आधिपत्ये सदाचरणं तथा तत्त्वार्थरूपं मम परमात्मनः प्रत्यक्षदर्शनं ज्ञानमस्ति, अत अतिरिक्तं यत् किञ्चिदस्ति तत् सर्वमज्ञानम्। अत ईश्वरस्य प्रत्यक्षीकरणमेवास्ति ज्ञानम्।

७. सर्वेषामस्ति भजने समानाधिकारः-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।९/३०।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।९/३१।।

अतिदुराचारोऽपि जनः मां भजित्वा त्वरितं भवति धर्मात्मा एवं सत्स्वरूपां शाश्वतीं शान्तिं प्राप्नोति। अतः स एव धर्मात्मा कत्थ्यते यः परमात्मनि समर्पयत्यात्मानम्।

८. भगवत्पथे न बीजक्षयः-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।२/४०।।

अस्यात्मदर्शनस्य स्वल्पाचरणमपि जन्ममृत्योर्महद्भयात् समुद्धारं करोति।

९. ईश्वरस्य निवासः–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।१८/६१।।

ईश्वरः सर्वेषां भूतप्राणिनां हृदये निवसति।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।१८/६२।।

सम्पूर्णभावेन तस्यैकस्य परमात्मनः शरणं प्राप्नुहि, यस्य कृपया त्वं परमां शान्तिं शाश्वतं परंधाम प्राप्स्यसि।

१०. यज्ञः–

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।४/२७

सर्वेषामिन्द्रियाणां व्यापारसमूहं तथा मनसश्चेष्टासमूहञ्च ज्ञानप्रकाशप्रकाशिते आत्मसंयमस्वरूपे योगाग्नौ जुह्वति।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।

प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।४/२९।।

बहवो योगिजनाः श्वासे प्रश्वासं जुह्वति, प्रश्वासं श्वासे जुह्वति च। अनयारीत्या जातायामुन्नतावस्थायां केचन योगिनः श्वासप्रश्वासगतिमवरुध्य प्राणायामपरायणाः जायन्ते। इत्थं योगसाधनस्य विधिविशेषः समुच्यते यज्ञः। तस्य यज्ञस्य क्रियान्वयनं कर्म कथ्यते।

११. यज्ञ करणस्याधिकारः-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।४/३१।।

यज्ञरहितजनाः पुनः मानवशरीरं न लभन्ते अर्थात् ये मानवशरीरधारिणः सन्ति त एव यज्ञकरणाधिकारिणः।

१२. ईश्वरः द्रष्टुं शक्यः-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।११/५४।।

अनन्यभक्तिद्वारेणाहं प्रत्यक्षं द्रष्टुं, ज्ञातुं प्रवेष्टुञ्च सुलभोऽस्मि।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२/२९।।

इममनश्वरमात्मानं केचन विरलाः पुरुषा आश्चर्यवत् पश्यन्ति, अर्थादिदमेव प्रत्यक्षं दर्शनमस्ति।

१३. आत्मैव सत्यं सनातनञ्चास्ति-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२/२४।।

आत्मैव सत्यमस्ति सनातनश्चास्ति।

१४. विधात्रा समुत्पन्ना सृष्टिरस्ति नश्वराः-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।८/१६।।

स्वयं ब्रह्मा तथा तेन कृता सृष्टिः देवाः, दानवाश्च दुःखानामाकराः क्षणभङ्गुरा नश्वराः सन्ति।

१५. देवपूजा-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।७/२०।।

कामनाभिर्येषां बुद्धिर्भवत्याक्रान्ता, एवंविधमूढबुद्धय ईश्वरमतिरिच्यान्यान् देवानर्चन्ति।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।९/२३।।

देवानामाराधकाः मामेवाराधयन्ति। किन्तु पूजनमेतत् विधिविहीनमस्ति अतोहि नश्यति।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।१७/६।।

सात्विकश्रद्धावन्तः देवान् पूजयन्ति; किन्तु तादृशान् पूजकान् त्वमसुरं विद्धि।

१६. अधमः-

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१६/७-१९

ये जनाः यज्ञस्य नियतविधिं परिहाय कल्पितविधिभिर्यजनं कुर्वन्ति, त एव क्रूरकर्माणः पापाचारास्तथा मनुष्याधमाः सन्ति।

१७. कोऽस्ति नियतो विधिः-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८/१३।।

ओम् इत्यक्षरं ब्रह्मपरिचायकं तस्य जपस्तथा मयि एकस्मिन् परमात्मनि स्मृतिः स्मरणं वा तत्त्वदर्शीनां महापुरुषाणां संरक्षणे ध्यानम्।

१८. शास्त्रम्-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।१५/२०।।

शास्त्रं गीताऽस्ति।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि।।१६/२४।।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्धारणे शास्त्रमेवास्ति प्रमाणम्। अतोहि गीतायां निर्धारित–विधिद्वाराकर्त्तव्यमाचरणम्।

१९. धर्मः-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।।१८/६६।।

धार्मिकप्रपञ्च–बाहुल्यं विहाय ममैव शरणं व्रज, अर्थादेकस्मिन् परमेश्वरे–पूर्णसमर्पणं धर्मस्य मूलमस्ति। तमीश्वरं प्राप्तुं नियतविधानुसारेणाचरणमेव धर्माचरणमस्ति (द्वितीयाध्यायस्य चत्वारिशत्तमः श्लोकः) एवं यो धर्माचरणं करोति स बहुपापोऽपि धर्मात्मा भवति।

२०. धर्मप्राप्तिः कुतः करणीया-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।१४/२७।।

तस्याविनाशिनो ब्रह्मणः, अमृतस्य, शाश्वतधर्मस्याखण्डैकरसानन्दस्या–श्रयोऽहमेवास्मि। अर्थात् परमात्मनि लीनः, गुरुरेवेतस्य सर्वस्याश्रयोऽस्ति।

टिप्पणी- विश्वस्य सर्वेषां धर्माणां सत्यधारागीतायाः प्रसारणमेवास्ति।

प्राचीनकालतः समारभ्येदानींतनमनीषिमाध्यमेन प्रदत्तः तैथिकक्रमानुसारेण सन्देशः

(श्रीपरमहंसाश्रमजगतानन्दः, ग्राम-पत्रालयश्च-बरैनी कछवा, जनपदः मिर्जापुर, स्वनिवासावधौ स्वामीश्रीअड़गड़ानन्देन प्रवेशद्वारस्यान्तिके तालिका-मिमां गङ्गा दशहरा (१९९३ख्रीष्टाब्दे) पावनपर्वणि सङ्केतपट्टे समुल्लेखितम्।)

।।विश्वगुरुः भारतम्।।

● **वैदिक ऋषिः (अनादिकालीननारायणसूक्तम्)-**

कणे-कणे व्याप्तं ब्रह्मैव सत्यमस्ति। तस्य ज्ञानादृते मुक्तेर्नान्यो कश्चिदुपायः।

● **भगवान् श्रीरामः (त्रेता-लक्षवर्षपूर्वम्-रामायणम्)-**

एकस्य परमात्मनो भजनं विना यः कल्याणमिच्छत्यसौ मूढोऽस्ति।

● **योगेश्वरः श्रीकृष्णः (पञ्चसहस्त्रवर्षपूर्वम्-गीता)-**

परमात्मैव सत्यमस्ति। चिन्तनस्य पूर्तौ तस्य सनातनब्रह्मणः प्राप्तिः सम्भवा। देवी-देवानां पूजनं मूढबुद्धेरनुदानमस्ति।

● **महात्मा मूसा (सहस्त्रत्रयवर्षपूर्वम्-यहूदी धर्मः)-**

युष्माभिः ईश्वरतः श्रद्धापसारिता, मूर्तीरचिता एतेन ईश्वर अप्रसन्नोऽस्ति। प्रार्थनायां संलग्नो भव।

● **महात्मा जरथुस्त्र (सप्तविंशति शतवर्षपूर्वम्-पारसीधर्मः)-**

अहुरमजदायाः (ईश्वरस्य) उपासनाद्वारा हृदयेस्थितविकारान् नाशय, ये दुःखस्य हेतवः सन्ति।

- **भगवान् महावीरः (षड्विंशतिशतवर्षपूर्वम्-जैनग्रन्थः)-**

आत्मैव सत्यमस्ति। कठोरतपस्यया वर्तमानजन्मनि ज्ञातुं शक्यते।

- **गौतमबुद्धः (२५०० वर्षपूर्वम्-महापरिनिब्बान सुत्त)-**

मया तदविनाशिपदं प्राप्तं यत्पदं पूर्वमहर्षिभिः प्राप्तमासीत्, अयमेव मोक्षः।

- **मसीह ईसा (२००० वर्षपूर्वम्-ईसाई धर्मः)-**

ईश्वरः प्रार्थनया प्राप्यते। मम अर्थात् सद्गुरोः सविधे आगच्छ, येने-श्वररस्य 'पुत्रः' कथयिष्यसे।

- **हजरत मुहम्मद साहब (१४०० वर्षपूर्वम्-इस्लाम धर्मः)-**

'ला इलाह इलल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह'– कणे–कणे व्याप्तखुदां (ईश्वरं) परित्यज्य न कोऽपि पूज्यः। मुहम्मदः, अल्लाहस्य सन्देशवाहकोऽस्ति।

- **आदिशङ्कराचार्यः (१२०० वर्षपूर्वम्)-**

जगन्मिथ्याऽस्ति। अत्र सत्यमस्ति केवलो हरिस्तस्य नाम च।

- **सन्तकबीरः (६०० वर्षपूर्वम्)-**

राम नाम अति दुर्लभ, औरन ते नहिं काम।

आदि मध्य और अन्तहूँ, रामहिं ते संग्राम।।

रामेण सह संघर्षं कुरु, तदेव कल्याणकारकम्।

- **गुरुनानकः (पञ्चशतवर्षपूर्वम्)-**

एक ओंकार सतगुरु प्रसादि।

एकमोंकारमेव सत्यमस्ति, किन्तु तत् सद्गुरोः प्रसादोऽस्ति।

● **स्वामी दयानन्द सरस्वती (द्विशतवर्षपूर्वम्)-**

अजरामराविनाशिन एकस्य परमात्मन उपासना करणीया। तस्येश्वरस्य मुख्यं नामास्ति ॐ।

● **स्वामीश्रीपरमानन्दः (१९११-१९६९ ई.)-**

भगवान् यदा कृपां करोति तर्हि शत्रवोऽपि भवन्ति मित्राणि, विपदः सम्पदो भवन्ति। भगवान् सर्वत्रः पश्यति।

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ-संख्या
प्राक्कथनम्	....	क - ढ
प्रथमोऽध्यायः	(संशयविषादयोगः)........................	१
द्वितीयोऽध्यायः	(कर्मजिज्ञासा)............................	२६
तृतीयोऽध्यायः	(शत्रुविनाशप्रेरणा)........................	६८
चतुर्थोऽध्यायः	(यज्ञकर्मस्पष्टीकरणम्)...................	९५
पञ्चमोऽध्यायः	(यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थमहेश्वरः)...........	१२८
षष्ठोऽध्यायः	(अभ्यासयोगः)............................	१४२
सप्तमोऽध्यायः	(समग्रबोधः)..............................	१६२
अष्टमोऽध्यायः	(अक्षरब्रह्मयोगः).........................	१७५
नवमोऽध्यायः	(राजविद्याजागृतिः)........................	१९४
दशमोऽध्यायः	(विभूतिवर्णनम्)..........................	२१४
एकादशोऽध्यायः	(विश्वरूपदर्शनयोगः)......................	२३२
द्वादशोऽध्यायः	(भक्तियोगः)..............................	२५८
त्रयोदशोऽध्यायः	(क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः)....................	२६६
चतुर्दशोऽध्यायः	(गुणत्रयविभागयोगः)......................	२७९
पञ्चदशोऽध्यायः	(पुरुषोत्तमयोगः).........................	२९१
षोडशोऽध्यायः	(दैवासुरसम्पद्विभागयोगः)................	३०३
सप्तदशोऽध्यायः	(ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगः)..........	३१३
अष्टादशोऽध्यायः	(संन्यासयोगः)...........................	३२३
उपशमः	....	३५७

ॐ

प्राक्कथनम्

वस्तुतः साम्प्रतं श्रीमद्भगवद्गीतायाष्टीकाकरणस्य न काप्यावश्यकता प्रतीयते, कुतोहि गीतोपरि शताधिकाष्टीकाः सन्ति विलिखिताः। यासु टीकासु पञ्चाशदधिकाः सुरभारत्यामेव विलसन्ति। गीतामाधारीकृत्य बहूनि मतान्यपि साम्प्रतं प्रचलन्ति, यद्यपि सर्वेषां मतानां मूलाधाररूपेण गीतैव विराजते। विचारणीयोऽयं प्रश्नः, यद् भगवता योगेश्वरेण किमप्येकमेव सार्वभौमं तत्त्वं प्रतिपादितम्, पुनरपि कालान्तरे मतभेदाः कुतः प्रादुरभवन्? यथार्थतस्तु वक्ता किमप्येकमेव परिनिष्ठितं तत्त्वमभिव्यञ्जयति, किन्तु दशाधिकसंख्याकाः श्रोतारस्तु दशाधिकप्रकारेण वक्तुराशयं विभाजयन्ति। जनानां बुद्धिपटले सत्त्वगुणस्य, रजोगुणस्य तमोगुणस्य च यादृशः प्रभावः प्रभवति, ते तेनैव स्तरेण तत्तथ्यं स्वीकुर्वन्ति प्रचारयन्ति च। ततोऽधिकं ते ज्ञातुं न प्रभवन्ति। अतोहि मतभेदाः सहजरूपेण भवितुमर्हाः।

विभिन्न मतवादकारणात् कदाचित् कदाचिच्च एकस्यैव सिद्धान्तस्य विभिन्न समये विभिन्न भाषासु च व्याख्यानात् सामान्यजनाः संशयापन्ना भवन्ति। नाना-टीकायां मध्ये तस्य सत्यस्य धाराऽपि प्रवहति; किन्तु वास्तविकार्थप्रकाशकः कोप्येकोऽपिग्रन्थः सहस्राधिकटीकानां मध्ये चेत् संस्थापितो भवेत्तदा तेषु टीकाग्रन्थेषु यथार्थप्रकाशको ग्रन्थः कोऽस्ति?- निर्णयोऽयं कठिनतरो भवति। वर्तमानकाले गीतायाः समुपलभ्यन्ते बहुसंख्याकाष्टीकाः, सर्वाश्च ताष्टीकाः स्वकीयं स्वकीयमेव सत्यमुद्घोषयन्ति; किन्तु ताः सर्वाष्टीकाः गीतायाः शुद्धार्थतो बहुदूरं दृष्टिपथायन्ते। निःसन्देहं कतिपयमहापुरुषाः सत्यस्य स्पर्शं कृतवन्तः; किन्तु कारणबाहुल्यात्ते सत्यामृतकल्पं गीतायाः यथार्थमर्थं समाजस्य पुरतः प्रस्तोतुं नाशक्नुवन्।

गीतायां श्रीकृष्णस्य मूलाशयस्य हृदयङ्गमकरणे विफलतायाः प्रमुखं कारणमेतदस्ति यत् श्रीकृष्णः परमयोगीश्वर आसीत्। श्रीकृष्णो यस्य स्तरस्य वार्त्तामारभते, तस्यां वार्त्तायामनुस्यूतं तथ्यं प्रकाशयितुं यदा कश्चन् महापुरुषः

सोपानबद्धक्रमेण श्रीकृष्णस्य स्तरमारुह्यैव गीतायाः प्रतिपाद्यमक्षरशः प्रकाशयितुं कामयिष्यते तदा स एव महापुरुषः सफलो भविष्यति गीतायाः यथार्थ रहस्योद्‌घाटने। सेनयोरुभयोर्मध्ये पार्थमुपदिशतः कृष्णस्य मनोभावाः कीदृशा आसन्? ते सर्वे मनोभावाः सामान्यैर्जनैर्वक्तुं न शक्यन्ते, अस्तु तदानीन्तनाः केचन भावा प्रकाशनार्हाः, केचन भावा भावभङ्गिमया प्रकाश्यन्ते, शेषाश्च भावाः क्रियामाश्रयन्ते। तद्भावं कश्चिद्गीताभावजिज्ञासुः, गीतागीतपथपथिक एव ज्ञातुं शक्नोति। श्रीकृष्णः यस्यां स्थितौ विद्यमान आसीत्, तामेव स्थितिं सम्प्राप्य कश्चिन्महापुरुष एव जानाति यत् गीता किं कथयति? स गीतायाः श्लोकानेव नाभ्यसति प्रत्युत्तेषां भावमात्मसात्कृत्य लोकहिताय प्रकाशयति, कुतोऽहि यदृश्यं कृष्णस्य समक्षमासीत्तदेव दृश्यं गीतात्तथ्यज्ञमहापुरुषस्याऽपि समक्षं नरीनृत्यते। अतोऽसौ पश्यति द्रक्ष्यति दर्शयिष्यति भवत्सु जागरयिष्यति च, तस्मिन् पथि चलितुं प्रेरयिष्यति च।

पूज्याः श्रीमन्तः स्वनामधन्याः प्रातःस्मरणीया श्रीपरमहंस महाराजा अपि श्रीकृष्णस्तरीया महापुरुषा आसन्। तेषां प्रवचनोपदेशात्तथान्तःकरणप्रेरणातः योह्यर्थो मयाज्ञातस्तस्यैव संकलनं यथार्थ गीताऽस्ति। अत्र मदीयं किमपि नाऽस्ति। इदं क्रियात्मकमस्ति। साधनस्वीकुर्वतां सर्वेषां पुरुषाणां गमनमस्यां परिधावेवा-निवार्यम्। यावदसौ साधनपथपथिको नाऽस्ति, तावत् सुस्पष्टमस्ति यदसौ किमपि साधनं न साधयति, प्रत्युत् वावावचनप्रमाणपुष्टां निरर्थकां कामपि रेखां पीडयति, अतः कस्यचिन्महापुरुषस्य शरणमवश्यमेव ग्रहणीयम्। श्रीकृष्णः किमप्यपरं सत्यं नोक्तवान्, '**ऋषिभिर्बहुधागीतम्**'– ऋषिगणाः यस्य गानं बहुवारं कृतवन्तस्तस्यैव गानं कर्त्तुमहमारभे। कृष्णः कदाऽपि नेत्थमुक्तवान् यत् तज्ज्ञानमहमेव केवलं जानामि तथाऽहमेवोपदेक्ष्यामि, प्रत्युत् स उक्तवान् यत् "कस्यचित्तत्त्वदर्शिनः सन्निधौ याहि, निष्कपटभावेन तस्य सेवां कृत्वा तज्ज्ञानं लभस्व"। श्रीकृष्णो महापुरुषशोधितं सत्यमेव समुद्‌घाटितवान्।

गीता सुबोध संस्कृतभाषायां समुल्लिखिता विद्यते। यद्यन्वयार्थमेव स्वीकुर्यां तदा गीताया अधिकांशः स्वयमेव बोद्धुं शक्यः, किन्तु जनाः समीचीनमर्थं न गृह्णन्ति। उदाहरणार्थं पश्यन्तु, श्रीकृष्णेन सुस्पष्टं कथितं यत्– यज्ञस्य प्रक्रियैव

कर्म समुच्यते; पुनरपि भवन्तो भणन्ति यत् कृषिकरणमेवास्ति कर्म। यज्ञ-विवेचनं स उक्तवान् यत् यज्ञे बहवो योगिजनाः प्राणानामपाने हवनं कुर्वन्ति, बहवः, अपानस्य प्राणेषु हवनं कुर्वन्ति, बहवो योगिनः प्राणापानौ द्वौ निरुध्य प्राणायामपरायणा भवन्ति। बहवो योगिन इन्द्रियाणां सकलां प्रवृत्तिं संयमाग्नौ जुह्वति। अनेनप्रकारेण श्वासप्रश्वासयोश्चिन्तनं यज्ञः प्रोच्यते। मनसा सहितेन्द्रियाणां संयमो यज्ञोऽस्ति। शास्त्रकारः स्वयं यज्ञरहस्यं विवेचितवान्, पुनर्भवन्तः साह्लादं सोत्साहञ्च घोषयन्ति यत्- विष्णुहेतवे स्वाहोच्चारणमेव तथाग्नौ यवतिलादीनां हवनं यज्ञ इति। योगेश्वरः श्रीकृष्णो नैतादृशं किमपि शब्दं क्वाऽपि च नोक्तवान्।

किमस्ति कारणं यद्भवन्तो नावबुध्यन्ते। लोमत्वक्कर्तनवत् वाक्यानां रटनं कृते सति किमस्ति कारणं यद् भवतां हस्ते केवलं वाक् विन्यास एव लगति? भवन्तः स्वकं कस्मात् कारणात् यथार्थज्ञानवञ्चितमनुभवन्ति? वस्तुतो मानवो जन्मलब्ध्वा क्रमशस्तरुणो भवति, तदा पैतृकसम्पत्तिः (गृहम्, आपणम्, भूमिः, उद्यानम्, पदम्, प्रतिष्ठाः, गावः, महिष्यः, यन्त्रोपकरणानि इत्यादि) तेनोत्तराधिकारित्वेननायासमेव संगृह्यते। इत्थमेव सहजरूपेणासौ मानवसमाजे नैकाः रुढिपरम्पराः पूजापद्धतीश्चोत्तराधिकाररूपेण लभते। भारतवर्षे त्रयस्त्रिंशत्कोटिपरिमिताः सुराः सुराङ्गनाश्च प्राप्तमान्यताकाश्च मिलन्ति, विश्वस्मिन् तेषां देवसमूहानां बहूनि रूपाणि वर्णितानि सन्ति। शिशुः शनैःशनैः स्ववृद्धिविकासावसरे मातृपितृभातृस्वप्रतिवेश्मि सन्निधष्व, तैराचरितां पूजापद्धतिं पश्यति। परिवारे समाजे च प्रचलितानां पूजापद्धतीनामटलः संस्कारस्तस्य मस्तिष्के भवत्यङ्कितः। उत्तराधिकारे यदि 'भूतपूजा' प्राप्यते तदासौ 'भूत-भूत' इति रटति। इत्थमेव कश्चिच्छिवं कश्चित् कृष्णं कश्चिदन्यं कमपि देवादिकं संगृह्य तिष्ठति। तत्पूर्वदुराग्रहं स नोज्झितुं शक्नोति।

उक्त प्रकारेण भ्रान्तिग्रस्ताः पुरुषाः कल्याणकरं श्रीगीतास्वरूपं शास्त्रं चेत्प्राप्नुयुस्तदा ते भ्रान्त मानसाः सुधोपमं गीतारसं नास्वादयन्ति। पैतृकसम्पदं कश्चित् सम्भ्रान्तः पुरुषः कदाचिच्छक्नोति त्यक्तुम्, किन्तु पूर्वोक्तोत्तराधिकाररूपेण प्राप्तं रूढिसमूहं, साम्प्रदायिकप्रपञ्चसमूहञ्च छेतुं न प्रभवति। पैतृकसम्पत्तिं परित्यज्य कश्चित् जनः सहस्राधिकक्रोशमितं दूरस्थानं प्रव्रजितुं शक्नोति, इति

सुगमः पन्थाः, किन्तु मनसि मस्तिष्के चाङ्कितास्तेरूढिगताभावास्त्यक्त गृहस्य तस्य जनस्य पिण्डं न जहति। यस्मिन् शिरसि ते रूढिगताविचाराः सन्ति लुक्कायिताः तच्छिरश उत्कर्त्तनं सर्वथाऽसम्भवम्। अतो मानवो यथार्थ शास्त्र–सम्मतज्ञानमपि तासु पूर्वोक्तरूढिसु, रीतिसु, पूजापद्धतिषु, मान्यतासु च सम्मिश्र्य विलीय वा लब्धुं वाञ्छन्ति। यदि रूढ्यनुरूपमर्थः क्वचित् संगच्छते, वार्त्ताक्रमः समन्वितो भवति, तदा जनस्तत् स्वीकरोति यत् सत्यमेतत् नो चेत् सङ्गच्छते तर्हि तत् सर्वमलीकम्। एतस्मात् रूढिभ्रान्तदृष्टिवैषम्यात् जनो गीतारहस्यं नावबोद्धुं शक्नोति। गीतायाः, रहस्यं, रहस्यं भूत्वा दुर्लभायते। अतो गीतारहस्यस्य वास्तविकपारदृश्वानः सन्तजनाः सद्‌गुरव एव सन्ति, त एव वक्तुं समर्थाः सन्ति, यत् गीता किं कथयति। सर्वे गीतारहस्यं नावबोद्धुं शक्नुवन्ति। सर्वेषां कृते गीताज्ञानस्य सुलभोपायोऽयमेवास्ति यत् कस्यचिन्महापुरुषस्य सान्निध्यं सम्प्राप्य सश्रद्धमध्येयम्, श्रीकृष्णोऽपि महापुरुषस्य सान्निध्यप्राप्तये बलमददत्।

गीताग्रन्थः कस्यचिद् व्यक्तिविशेषस्य, वर्गविशेषस्य, जातिविशेषस्य, पथविशेषस्य, देशकालविशेषस्य च, रूढिग्रस्तकस्यापि सम्प्रदायविशेषस्याऽपि नास्ति, प्रत्युत् गीता सार्वलौकिकः, सार्वकालिकः, सार्वजनीनश्च धर्मग्रन्थोऽस्ति। इयं गीता सर्वेषां भूमण्डलस्यदेशानां मानवजातीनां प्रत्येकं नराणां नारीणां च कल्याणाय वरीवर्त्ति। केवलमपरोपदेशं श्रावं–श्रावं तथान्यप्रकारेण प्रभावितो भूत्वा नैतादृशः कोऽपि निर्णयः स्वीकर्त्तव्यो यस्य प्रभावः स्वकीयमस्तित्वमपि विचालयेत्। पूर्वाग्रहस्य भावनातो मुक्तो भूत्वा सत्यान्वेषिणां कृते गीताग्रन्थः, आर्षग्रन्थत्वात् प्रकाशस्तम्भरूपेण वाभाति। हिन्दूनामाग्रहोऽस्ति यद्वेदा एव प्रमाणम्। वेदस्यार्थोऽस्ति ज्ञानम्, परमात्मनोबोधः। परमात्मा तु न संस्कृते न च संहिताग्रन्थे राराजते। पुस्तकानि तु तस्य संकेतमात्राणि सन्ति। स परमात्मा तु हृदयदेशे जागर्ति।

विश्वामित्रश्चिन्तयन्नासीत्। तस्य भक्तिं दृष्ट्वा ब्रह्मा समाययौ, उवाच च, 'अद्यतस्त्वं ऋषिरसि'। किन्तु विश्वामित्रः सन्तुष्टो न बभूव, पुनश्चिन्तने लग्नः। किञ्चित् कालान्तरं देवगणैः साकं ब्रह्मा पुनरागतवानब्रवीच्च– "अद्यतस्त्वं राजर्षिरसि।"; किन्तु विश्वामित्रस्य समाधानं नाभवत्। विश्वामित्रः पूर्ववच्चिन्तने

संलग्नः। ब्रह्मा दैवीसम्पद्भिः साकं पुनराजगाम कथितवान् च, अद्यतो भवान् महर्षिरस्ति। विश्वामित्रः स्वाभिप्रायं प्रकटयनुक्तवान्, नहि मां 'जितेन्द्रियब्रह्मर्षि'रिति कथनीयो भवता। ब्रह्मणोक्तम्, "अधुना त्वं नासी ब्रह्मर्षि।" विश्वामित्रः पुनस्तप्तुमारेभे, तस्य शिरः प्रदेशात्तपोधूमो निःसरितुं ललाग, तदा देवाः, ब्रह्माणं निवेदयामासुः। तदा ब्रह्मा समुवाच विश्वामित्रं यत्, "साम्प्रतं त्वं ब्रह्मर्षिरसि।" विश्वामित्रेणोक्तं, "यद्यहं ब्रह्मर्षिरस्मि, तदा वेदा मां वृण्वन्तु।" इति कथन-समकालमेव सर्वे वेदा विश्वामित्रस्य हृदयदेशमाविविशुः। यत्तत्त्वमविदितमासीत् सर्वं तत्तत्त्वं ज्ञातमभूत्। एष एव वेदो, न तु वेद पुस्तकम्। यत्र विश्वामित्रः स्थितिस्तत्रवेदनिवासः।

श्रीकृष्णोऽपीदमेव तथ्यं प्रकाशयति यत् संसारोऽयमनश्वरः पिप्पलपाद-पोऽस्ति, यस्य मूलमुपरि परमात्मप्रतीकमधोभागे प्रकृतिप्रतीकाः शाखाः प्रसृताः सन्ति। योह्यस्याः प्रकृतेः पारं गत्वा परमात्मानं वेत्ति स वेदविद् समुच्यते, "अर्जुन! अहमपि वेदविदस्मि।" अतः प्रकृतेः प्रसारावसानाभ्यां सह परमात्मनः समनुभूतेर्नामवेदोऽस्ति। इयमनुभूतिः परमात्मप्रदत्ताऽस्ति अतएव वेदाः सन्त्यपौरुषेया इति कथयन्ति मनीषिणः। महापुरुषाभवन्त्यपौरुषेयास्तेषां माध्यमेन परमात्मनः सन्देशाः उपदेशाश्च सर्वसुलभा भवन्ति। ते मनीषिणः परमात्म सन्देशप्रसारकाः (ट्रान्समीटराः) भवन्ति। केवलं शब्दज्ञानस्याधारेण ज्ञानेन वा तेषां प्रवचनस्वरूपायां वाण्यां निहितं यथार्थं परीक्षितुं न शक्यते। तान् महापुरुषान् स एव ज्ञातुं समर्थो भवति, यः क्रियात्मकपथाचलित्वा पूर्वोक्तामिमामपौरुषेयां स्थितिं लब्धवानस्ति, यस्य पुरुषः (अहम्) परमात्मनि विलीनतां गतो भवेत्।

वस्तुतो वेदः अपौरुषेयोऽस्ति, किन्तु वेदमाधारीकृत्य वक्तारः शतसार्द्धशतसंख्याकामहापुरुषा आसन्। तेषां वचसां संकलनमेव वेदः समुच्यते। किन्तु यदा शास्त्रं लिपिबद्धं भवति, तदा सामाजिकव्यवस्थायाः, नियमा अपि तेनैव सह लिपिबद्धा भवन्ति। महापुरुषाणां नामाधारीकृत्य जनास्तेषां परिपालनं कर्तुमारभन्ते, यद्यपि धर्मेण साकं तेषां दूरस्थोऽपि सम्बन्धो न भवति। आधुनिक-युगे मन्त्रीणामग्रतः पृष्ठतः पर्यटन्तश्चाटुकारितया च सामान्यनेतारोऽपि

सक्षमाधिकारीद्वारेण स्वकीयं-स्वकीयं कार्यं कारयन्ति, यद्यपि मन्त्रिगणाः पूर्वोक्तान् सामान्य नेतृगणान् जानन्त्यपि नहि। इत्थमेव सामाजिकव्यवस्थानिर्मातारो महापुरुषाणां व्याजेन जीविकानिर्वाहस्य व्यवस्थामपि ग्रन्थेषु लिपिबद्धं कुर्वन्तः दृश्यन्ते। तेषां सामाजिकोपयोगस्तत्तत् समयानुकूलो भवति। वेदानां सम्बन्धेऽपि व्याजपूर्णा स्थितिः परिलक्ष्यते। वेदानां चिरन्तनं सत्यमुपनिषत्सु संग्रहीतमस्ति। तासामुपनिषदां सारांशो योगेश्वरः श्रीकृष्णस्य वाणी 'गीता' अस्ति। सारांशतो गीता, अपौरुषेय 'वेद' रसार्णवतः समुद्भूतोपनिषत्सुधासारसर्वस्वमस्ति।

अनया रीत्या प्रत्येकं महापुरुषाः, ये परमतत्त्वं प्राप्नुवन्ति ते स्वयमेव धर्मग्रन्थाः सन्ति। तेषां महापुरुषाणां वचसां सङ्कलनं संसारे कुत्रापि भवेत्तदेव संकलनं शास्त्रं समुच्यते; किन्तु कतिपयधर्मावलम्बिनां कथनमिदमस्ति यत् "कुरान नामक पुस्तके यल्लिखितमस्ति तदैव सत्यमस्ति, इदानीं कुरानस्यावतरणं न भविष्यति।" "ईसामसीहोपरि विश्वासं विना न स्वर्गसम्प्राप्तिः। स ईसामसीह ईश्वरस्यैकमात्रमासीत् पुत्रः। साम्प्रतमेतादृशः पुरुषोऽसम्भवः।" इति तेषां प्रौढा जटिला च रूढिवादिता। यदि परमात्मतत्त्वस्य साक्षात्कारो भवेत्तदासैवस्थितिः पुनरागमिष्यति।

गीता सार्वभौम ग्रन्थोऽस्ति। धर्माणां नामभिः प्रचलितेषु संसारस्य सर्वेषु धर्मग्रन्थेषु गीतायाः स्थानमद्वितीयमस्ति। इयं गीता केवलं धर्मशास्त्रमेवेति न ज्ञेयं प्रत्युदन्येषु धर्मग्रन्थेषु निहितसत्यस्य मानदण्डमप्यस्ति। गीता तन्निकषोपलमस्ति यस्मिन् प्रत्येकं धर्मग्रन्थेष्वनुस्यूतं सत्यमनावृतं भवति, परस्परविरोधीकथनानां समाधानं भवति। प्रत्येकं धर्मग्रन्थेषु संसारे जीवननिर्वाहस्य कलायाः, कर्मकाण्डस्य च बाहुल्यं विद्यते। जीविकानिर्वाहमाकर्षकं विधातुं तथा तत्र किं करणीयं किन्न करणीयमेतद्विषयकं रोचकं भयानकं वर्णनकौतूहलयुतं चित्रणं धर्मग्रन्थानामुदरं परिपूरयति। कर्मकाण्डानामिमां परम्परां जनता धर्मरूपेण मानयति। जीवननिर्वाहस्य कलार्थं निर्मित पूजापद्धतिषु देशकाल परिस्थित्यनुसारेण परिवर्तनं स्वाभाविकमस्ति, धर्मस्य नाम समवलम्ब्य समाजे कलहस्येतदेवैकं कारणमस्ति। गीतातूपर्युक्तक्षणिकव्यवस्थात उपरि चलित्वात्मिक पूर्णतायां प्रतिष्ठापयितुं क्रियात्मकमनुशीलनमस्ति। यस्या गीतायाः, एकोऽपि कोऽपिश्लोको

भौतिकजीवनयापनाय नाऽस्ति। अस्याः प्रतिश्लोको भवन्तमान्तरिकयुद्धमाराधयितुं प्रार्थयते प्रेरयति वा। तथाकथित धर्मग्रन्थानामिव गीतेयं स्वर्गप्राप्तिनरकान्मुक्तीति–द्वन्द्वात्मक जाले न निबध्नाति, प्रत्युत्तस्यामरत्वस्योपलब्धिं कारयति, यस्य पश्चाज्जन्ममृत्योर्बन्धनं सुतरां व्यवच्छिद्यते।

प्रत्येकं महापुरुषाणां स्वकीयाः स्वकीयाः शैली तथा स्वीयाः स्वीयाः केचन विशिष्टाः शब्दाः भवन्ति। योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽपि गीतायां 'कर्म', 'यज्ञ', 'वर्णसंकर', 'युद्ध', 'क्षेत्र', 'ज्ञान' इत्यादीनां शब्दानामुपरि वारम्वारं बलं दत्तवान्। एतेषां शब्दानां स्वकीयं विशिष्टं तात्पर्यमस्ति, स्वकीयं सौन्दर्यमेतेषां शब्दानां पुनरावृत्या न क्षीयते। हिन्दीरूपान्तरेऽपि तेषां शब्दानां तत्तदाशयस्तथैव सुरक्षितोऽस्ति तथाऽवश्यकस्थलानां व्याख्याऽपि प्रस्तुता विद्यते। गीतां–प्रत्याकर्षणवर्धनाय निम्नप्रश्नानां समाधानं मृग्यम्–

१. **श्रीकृष्णः–** एको योगेश्वर आसीत्।

२. **सत्यम्–** आत्मैव सत्यमस्ति।

३. **सनातनः–** आत्मैव सनातनः, परमात्मातु सनातनः।

४. **सनातनधर्मः–** परमात्मनः प्राप्तौ सहायकव्यापारः।

५. **युद्धम्–** दैवीतथासुरीसम्पदांसंघर्षः 'युद्धम् ' इति बोधव्यः, इमे दैवीसम्पदासुरीसम्पदामिधेद्वेप्रवृत्ती, अन्तःकरणस्थे, अनयोरुभयोः संहार एव युद्धस्य परिणामः।

६. **युद्धस्थानम्–** इमानि मानवशरीराणि समनांसीन्द्रियाणि च युद्धस्थानम्।

७. **ज्ञानम्–** परमात्मनः साक्षात्कारमेव ज्ञानं ज्ञेयम्।

८. **योगः–** संसारस्य संयोगवियोगाभ्यां विरहितमव्यक्तब्रह्मणो मिलनमेव 'योगः' समुच्यते।

९. **ज्ञानयोगः–** आराधनैव कर्माऽस्ति। स्वमाश्रित्य कर्मणि प्रवृत्तिर्ज्ञान–योगोऽस्ति।

१०. **निष्कामकर्मयोगः–** स्वेष्टे निर्भरो भूत्वा ससमर्पणं कर्मणि प्रवृत्तिर्निष्कामकर्मयोगः।

११. श्रीकृष्णेनोद्घोषितं सत्यं किमस्ति?– श्रीकृष्णस्तदेव सत्यमुद्घोषितवान् यस्य प्रत्यक्षीकरणं तत्त्वदर्शिभिः पूर्वमेवकृतं तथाऽग्रे करिष्यते।

१२. यज्ञः– साधनायाः सुविधिविशेषस्य नाम यज्ञः सम्बोधव्यः।

१३. कर्म– यज्ञस्य कार्यरूपेण क्रियान्वयनं कर्म समुच्यते।

१४. वर्णः– आराधनाया एको विधि–विशेष एव कर्मेति बोधव्यः, यस्याः समाराधनायाश्चतुःश्रेणीषु विभाजनं ता एव चतस्रः श्रेणयो वर्णनाम्ना सन्ति वर्णिताः।

१५. वर्णसङ्करः– परमात्मनः प्राप्तिमार्गतः परिच्युतिस्तथा साधने भ्रान्त्युदयो वर्णसङ्करः प्रसमुच्यते।

१६. मनुष्यस्य श्रेणयः– अन्तःकरणस्य स्वभावानुसारेण मनुष्याणां श्रेणीद्वये विभाजनं भवति। एका श्रेणी देवताश्रयी द्वितीयात्वासुरीवृत्तिसमाश्रिता। इमे मानवानां द्वे जाती, ये स्वभावद्वारेणैव निर्धारिते विद्येते। अयं स्वभावः क्षीयते वर्धते च।

१७. देवताः– हृदयप्रदेशे परमदेवत्वमर्जयितृणां गुणानां समूहो देवत्वेन ज्ञेयः। आत्मव्यतिरिक्तं वहिष्ठदेवाराधनं मूढबुद्धेरवदानम्।

१८. अवतारः– व्यक्तिनां हृदये भवति नान्यत्।

१९. विराड्दर्शनम्– योगिनां हृदये परमात्मप्रदत्तानुभूतिः। परमात्मा यदा साधकस्य दृष्टौ प्रविशति तदैव साधकः परमात्मनो विराड्दर्शनं करोति।

२०. पूजनीयेष्टदेवः– मात्रैक परात्परब्रह्मैव पूज्योऽस्ति। तस्यान्वेषणस्य स्थानं हृदयमेवाऽस्ति। तस्य परमात्मनः प्राप्तेः स्रोतस्तस्याव्यक्तस्वरूपे स्थितिं प्राप्तवतां महापुरुषाणां कृपया दृष्टिपथमायाति।

सम्प्रति भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वरूपस्य ज्ञानाय तृतीयाध्यायपर्यन्तं पठनीयं भविष्यति, त्रयोदशाध्यायाध्ययनेन सुस्पष्टं ज्ञास्यति पाठको यत् श्रीकृष्ण आसीत् योगीश्वरः। द्वितीयाध्यायतः एव सत्यं प्रकाशयिष्यति। सत्यसनातनौ परस्परमेको द्वितीयस्य पूरकतामावहतः, विषयोऽयं द्वितीयाध्यायतः सुस्पष्टौ भविष्यति एवन्तु

पूर्तिपर्यन्तं चलिष्यति विषयप्रवाहः। चतुर्थाध्यायं यावत् 'युद्धम्' स्पष्टतामेष्यति। एकादशाध्यायं यावदध्ययनेन संशयो निर्मूलतामेष्यति, एवन्तु षोडशाध्यायं यावत् सम्यगनुशीलनीयम्। युद्धस्थलस्य मीमांसाहेतवे त्रयोदशाध्यायस्य पठनं मननञ्च भूयोभूयः करणीयम्।

'ज्ञानम् ' चतुर्थाध्यायात् सुस्पष्टं भविष्यति, तथा त्रयोदशेऽध्याये विधिवत् परिलक्षितं भविष्यति यत् प्रत्यक्षदर्शनस्य नाम 'ज्ञानम्' अस्ति। 'योगः' षष्ठाध्यायं यावत् बोधसुलभो सम्भविष्यति, एवन्तु सामान्यतया पूर्तिपर्यन्तं योगस्य विभिन्नांशानां परिभाषा सुग्रथिता सुशोभते। 'ज्ञानयोगः' तृतीयाध्यायात् षष्ठाध्यायं यावदध्ययेन सम्यग् बुद्धिगम्यो भविष्यति, पुनरग्रे पर्य्यालोचनस्य न काप्यावश्यकता परिशेषायते। 'निष्काम कर्मयोगः' द्वितीयाध्यायतः समारभ्य पूर्तिपर्यन्तं वाभाति। 'यज्ञः' तृतीयाध्यायतश्चतुर्थाध्यायं यावदनुशीलनीयं तेन यज्ञस्य स्पष्टीकरणं सुतरां भविष्यति।

'कर्मणः' नाम द्वितीयाध्यायस्य ३९तमे श्लोके प्रथमवारं समुल्लिखितम्। अस्मात्श्लोकाच्चतुर्थाध्यायं यावत् पठेयुस्तदा सुस्पष्टं भविष्यति यत् कर्मणोऽर्थः आराधना तथा भजनं कस्मात् कारणात् भवति? षोडशसप्तदशाध्यायौ सम्मिल्य विचारमिमं द्रढयतो यदिदमेव सत्यमस्ति। 'वर्णसङ्करः' तृतीयाध्याये तथाऽवतारः चतुर्थाध्यायेसुतरां सुस्पष्टतामेष्यतः। वर्णव्यवस्थायाः विवेचनार्थमष्टादशाध्यायो द्रष्टव्यः, सामान्यतस्तृतीयचतुर्थाध्याये च मिलति सङ्केतः। मानवानां देवासुराणां जातिविभागज्ञानाय षोडशाध्यायःपठनीयः। 'विराड्दर्शनम्' दशमाध्याया-दारभ्यैकादशाध्यायस्य मध्यं यावदनुशीलनेन भविष्यति सुस्पष्टम्। सप्तमाध्याये नवमाध्याये पञ्चदशाध्यायेऽपि च विराड्दर्शनोपरि विवेचनं कृतं लभ्यते। सप्तमे नवमे पञ्चदशेऽपि चाध्याये विषयेऽस्मिन् प्रकाशो विद्यते कृतः। सप्तमाध्याये नवमाध्याये सप्तदशाध्याये च वाह्यदेवानामस्तित्वहीनता सुस्पष्टतां याति। परमात्मनः पूजनस्य मुख्यं स्थलं हृदयपटलमेवाऽस्ति, यत्र ध्यानम्, श्वासप्रश्वास-योश्चिन्तनादयः क्रियाकलापाः, यदेकान्ते सुखासीनः (मन्दिरस्थ प्रतिमायाः पुरतो नहि) साध्यन्ते, तृतीयेचतुर्थेषष्ठे तथाऽष्टदशाध्याये च बहुस्पष्टमस्ति।

अधिकंचिन्तनविचारयोः किं प्रयोजनम्? यदि षष्ठाध्यायं यावदपि गीतायाः सुचारुपठनं सम्पद्येत्, तदापि यथार्थगीतायाः प्रमुखाशयो बुद्धिक्षेत्रे समवतरिष्यति।

गीता जीविकासञ्चालन-संग्रामस्य साधनं नाऽवबोद्धव्या प्रत्युत् जीवनसंग्रामे शाश्वद्विजयस्य शिक्षास्ति, अस्मात्कारणादेव गीतेयं युद्धग्रन्थोऽपि वाभण्यते। अयं युद्धग्रन्थो वास्तविकं विजयं दापयति; किन्तु गीतोक्तं युद्धं खड्गधनुः-सायकपरश्वादिभिश्च विधीयमानं सामरिकं युद्धं नास्ति, न चास्मिन् युद्धे शाश्वतिक विजयस्योपलब्धिः। अयं गीताग्रन्थः सदसदुभयोः प्रवृत्योः संघर्षोऽस्ति, ययोः संघर्षयोः रूपकालङ्कारमनुश्रित्य वर्णनस्य विशदीकरणस्य वा चिरन्तना परम्परा प्रचलिता विद्यते। वेदे सुरेन्द्रवृत्रासुरयोः, विद्याविद्ययोः पुराणेषु देवासुरयुद्धानां, महाकाव्येषु रामरावणयोः, कौरवपाण्डवयोश्च निष्पन्नं संघर्षमेव गीतायां धर्मक्षेत्रकुरुक्षेत्रयोः दैवीसम्पदासुरीसम्पदोश्च संघर्षं तथा सजातीयविजातीययोश्च संघर्षं सद्गुणदुर्गुणयोश्च संघर्षं सविस्तरं वर्णितं दृष्टिपथायते।

अयं गीतोक्तसंघर्षो यत्र भवति, तत्स्थलं कुहचनस्ति? गीतायाः धर्मक्षेत्रं कुरुक्षेत्रञ्च भारतीयभूभागस्य न कोऽपि भागः प्रत्युत् गीताकारस्य सशक्तशब्देषु- ''**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**''- कौन्तेय ! इदं शरीरमेवैकं क्षेत्रमस्ति। यस्मिन् सुप्तं सदसद्बीजं संस्कारानुसारेण निरन्तरमङ्कुरति प्रोहति च। दशेन्द्रियाणि मनः, बुद्धिः, चित्तम्, अहङ्कारः, पञ्चविकाराः, त्रिगुणविकाराश्चास्य विस्ताराः कथ्यन्ते। प्रकृतिप्रसूतैरेभिस्त्रिगुणप्रभावैः प्रभावितं प्राणिजगत् विवशीभूय कर्मणि प्रवर्त्तते। अयं मानवलोकः किम्वा निखिलोजीवलोकः कर्मानुष्ठानं विना क्षणमपि न तिष्ठति। '**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननि जठरे शयनम्**' जन्म-जन्मान्तरैरेवेमां क्रियां कुर्वन्तः सन्ति प्राणिनः। इयमेवास्ति कुरुक्षेत्रम्। सद्गुरुणां सान्निध्येन साधनायाः समीचीनं पन्थानं समुपलभ्य यदा साधकः परमधर्मपरमात्मोन्मुखं भवत्यग्रेसरस्तदेदं क्षेत्रं धर्मक्षेत्रं भवति। इदं शरीरमेव क्षेत्रमस्ति।

अस्य शरीरस्यान्तराले अन्तःकरणस्य पुरातन्यौ द्वे प्रवृत्यौ विराजेते,

एका प्रवृत्तिः दैवसम्पद्रूपा द्वितीया त्वासुरी सम्पत्स्वरूपा च। दैवीसम्पदि पुण्यरूपिणः पाण्डुजाः, कर्त्तव्यस्वरूपा कुन्ती चेति जन्यजननीयुगलं बाभाति। पुण्यजागरण प्रभावात् पूर्वमेव मानवो यत् किञ्चित् कर्त्तव्यजातं परामृश्य करोति, स्वमत्याऽसौ कर्त्तव्यमेव विदधाति किन्तु तेन कर्त्तव्यो न भवति। कुतोहि पुण्यं विना कर्त्तव्यस्य सम्यग् बोधएव न भवति। कुन्ती पाण्डोः सम्बन्धात् पूर्वं यस्य कस्यचिदर्थस्योपार्जनं कृतवती स आसीत् कर्णः। आजीवनं कर्णः कुन्तीकुमारैः युधिष्ठिरादिभिर्युध्यमानोऽवर्त्तत। पाण्डवानां चेत् कश्चिद्दुर्धर्षः शत्रुरासीत्तदाऽसौ कर्ण एव। विजातीय कर्मैवाऽस्ति कर्णः। य एव बन्धनकारकोऽस्ति, येन परम्परागतरूढिनां चित्रणं भवति, पूजापद्धतयः पिण्डं न मुञ्चन्ति। जागृते पुण्ये धर्मस्वरूपः 'युधिष्ठिरः', अनुरागस्वरूपः 'अर्जुनः', भावरूपः 'भीमः', नियमरूपः 'नकुलः', सत्सङ्गस्वरूपः 'सहदेवः', सात्विकतास्वरूपः 'सात्यकिः', शरीरे सामर्थ्यस्वरूपः 'काशिराजः', कर्त्तव्य माध्यमेन संसारोपरि विजयप्रतीकः 'कुन्तिभोजः' इत्यादीनामिष्टोन्मुखमानसिकप्रवृत्तिवतां सदा भवत्युत्कर्षः, येषां गणना सप्ताक्षौहिणीसेनारूपेण कृता विद्यते। 'अक्ष' पदं दृष्टिबोधकमस्ति। सत्यमयदृष्टिकोणेन यस्य संगठनं भवति, सा दैवीसम्पद् समुच्यते। परमधर्मस्य परमात्मनः प्राप्तिलक्ष्यदूरींन्यूनीकरणाय सप्तैमे सोपानाः सप्तभूमिकाश्च सन्ति, न काऽपि गणना विशेषा। वस्तुतः उपर्युक्तेमाः प्रवृत्तयोः गणनातीताः।

अपरस्मिन् पक्षे राराजते 'कुरुक्षेत्रम् '। यस्मिन् दशेन्द्रियाणि तथैकं मनः सम्मिल्यैकादशाक्षौहिणी सेना वर्त्तते। मनसासहितेन दशेन्द्रिययुतेन दृष्टिकोणेन यस्याः संगठनं कृतं विद्यते साऽस्ति आसुरी सम्पद्, यत्रास्ति 'धृतराष्ट्रः' अज्ञानस्वरूपः, यस्तु सत्यं जानानोऽपि अन्धवदाचरति। तस्य सहचारिण्यस्ति 'गान्धारी'– इन्द्रियाधारवती प्रवृत्तिः। अनया सह मोहरूपी 'दुर्योधनः', दुर्बुद्धिरूपी 'दुःशासनः', विजातीयकर्मरूपी 'कर्णः,' भ्रमरूपी 'भीष्मः', द्वैतस्य आचरणरूपी 'द्रोणाचार्यः, आसक्तिरूपी 'अश्वत्थामा', विकल्परूपी 'विकर्ण':, अर्द्धसाधनायां कृपायाः आचरणरूपी 'कृपाचार्यः' तथा चैतेषां मध्ये जीवरूपी 'विदुरो' विराजते, यस्तु निवसत्यज्ञाने किन्तु यस्य सुदृष्टिः सततं पाण्डवानामुपरि वर्तते, पुण्यप्रवाहितां

प्रवृत्तिश्च समाश्रयते, यतोहि आत्मा परमात्मनः शुद्धो अंशोऽस्ति। अनया रीत्या आसुरीसम्पदोऽपि सन्त्यनन्ताः। इदं शरीरं तु क्षेत्रमेकमेवास्ति, अत्र युद्धोन्मुख्य द्वे प्रवृत्यौ वर्तेते। एका प्रवृत्तिः प्रकृतौ विश्वासं दापयति, सा निम्नाधमयोनिनां कारणं भवति, अपरा तु परमपुरुषे परमात्मनि विश्वासं प्रवेशञ्च कारयति। तत्त्वदर्शीमहापुरुषाणां संरक्षणे क्रमशः साधनविधानेन दैवीसम्पदः समुत्कर्षः तथासुरीसम्पदश्च सर्वथा शमनं भवति। यदा कश्चित् विकार एव नावशिष्टः, तदा मनसः सर्वथा निरोधो निरुद्धमनसश्चापि विलयो भवति तदानीं दैवीसम्पदः समाप्तेर्भवत्यावश्यकता। अर्जुनः दृष्टवान् यत् कौरवपक्षस्यानन्तरं पाण्डवपक्षीया योद्धारोऽपि योगेश्वरे कृष्णे समाहिताः भवन्तः सन्ति। पूर्त्यासह दैवीसम्पदपि विलीयते, अन्तिमं शाश्वतं परिणामं भवति हस्तगतम्। अतो महापुरुषश्चेत् किमपि कर्म करोति, तत् केवलमनुयायिनां मार्गदर्शनार्थमेव करोति।

लोकसंग्रहस्यानया भावनया महापुरुषाः सूक्ष्ममनोभावानां वर्णनं दृढस्थूलरूपं दत्वाऽकार्षुः। गीता छन्दोबद्धा वर्तते, व्याकरणसम्मता चाऽस्ति; किन्तु अस्याः पात्राणि प्रतीकात्मकानि सन्ति, अमूर्तयोग्यतानां मात्रमूर्तरूपाणि सन्ति। गीतायाः प्रारम्भे त्रिंशच्चत्वारिंशत्पात्राणां नामानि गृहीतानि सन्ति, येष्वर्धसंख्याकाः सजातीयास्तथार्धसंख्याकाः सन्ति विजातीयाः। केचन पाण्डवपक्षधराः केचन तु कौरवपक्षीयाः। विश्वरूपदर्शनावसरे पञ्चषा नामानि पुनरायान्त्येतेषाम्, अन्यथा सम्पूर्णायां गीतायामेतेषां नाम्नां चर्चाऽपि न मिलति। मात्रैकोऽस्त्यर्जुन एतादृशं पात्रं य आदितः समाप्तिं यावत् योगेश्वरस्य समक्षं राराजते। असावर्जुनोऽपि योग्यतायाः प्रतीकोऽस्ति, न तु कश्चिद् व्यक्तिविशेषः। गीतायाः प्रारम्भे सोऽर्जुनः सनातनकुलधर्मस्य रक्षणहेतवे विकलोऽस्ति; किन्तु योगेश्वरः कृष्णः इमामाकुलतां परमज्ञानमघोषयत्, उपादिशच्चायमात्मैव सनातनः, शरीरं नश्वरमतो युध्यस्व। अनेनादेशेन नैतत् स्पष्टायते यदर्जुनः कौरवानेव मारयेत्। पाण्डवपक्षीया अपि शरीरधारिण आसन्, पक्षद्वये परस्परं सम्बन्धिनः सन्ति। संस्कारोपरि निर्भरं शरीरं किं खड्गेन द्विधा कृते सति समाप्तिमेष्यति? यदा शरीरं नश्वरमस्ति, नास्ति यस्यास्तित्वं, तर्हि क आसीदर्जुनः? श्रीकृष्णः कस्य रक्षायामासीत् स्थितः? किं कस्यचिच्छरीरधारिणो रक्षायामासीत्तत्परः?

श्रीकृष्णः प्रावोचत्- ''यः शरीरयात्रार्थं परिश्रमं करोत्यसौ पापायुर्मूढबुद्धिः पुरुषः निरर्थकं जीवति।'' यदि श्रीकृष्णः कस्यचिज्जीवधारिणः संरक्षणे सन्नद्धो वर्तते तदासावपि मूढबुद्धिः, व्यर्थं जिजिविषुरस्ति। वस्तुत अनुरागएवार्जुनोऽस्ति।

अनुरागिणां कृते महापुरुषाः सदैवोपस्थिताः प्राप्यन्ते। अर्जुनः शिष्य आसीच्छ्रीकृष्णश्चैकः सद्गुरुश्च। विनयावनतो भूत्वासौ कथितवान् यद् धर्ममार्गे मोहितचेताः पृच्छाम्यहं भवन्तं, यच्छ्रेयः (परमकल्याणकारकं) भवेत्तदुपदेशं मामाख्याहि। अर्जुनः श्रेयस्काम आसीत्, प्रेयो (भौतिकपदार्थान्) नहि। केवलमुपदेशमात्रमेव नहि, प्रत्युत् साधयतु सम्भालयतु च। अहमस्मि शिष्यस्तव शरणागतश्च। इत्थमेव गीतायां स्थले-स्थले सुस्पष्टमस्ति यदर्जुन आर्त्तश्रेणी-कोऽस्त्यधिकारी, योगेश्वरः श्रीकृष्णश्चैकः सद्गुरुश्च। असौ सद्गुरुरनुरागिणा सह सदैव सन्तिष्ठते, तस्यानुरागिणः पथप्रदर्शनञ्च करोति।

यदा कश्चिन्मनुष्यो भावुकताभिभूतः पूज्यमहाराजस्य सन्निधौ संवासार्थमाग्रहं करोति स्म, तदा महाराजः कथयति स्म, ''गच्छ शरीरेण कुत्रापि निवस, मनसा मम पार्श्वे समागच्छन् विचर। प्रातः-सायं रामस्य, शिवस्य, ओमित्यस्य वा कस्यचित् द्वयक्षरस्य सार्द्धद्वयक्षरस्य नाम्नो जपं कुरु, मम स्वरूपं च हृदये निधेहि। मिनटमेकमपि ममस्वरूपं धारयिष्यसि, तदा यस्य नाम भजनमस्ति तदहं तुभ्यं दास्यामि। इतोऽधिकं धारयितुं इच्छति तदा हृदयेन सारथी भूत्वा त्वया सह स्थास्यामि।'' यदा सुरतो गृहीतो भवति तदा तदनन्तरं महापुरुष इत्थमन्तिकायते, यथा करचरणनासिकाश्रवणेन्द्रियाणि वर्तन्ते सन्निकटानि। भवान् महापुरुषतः सहस्राधिकक्रोशं दूरे वसतु किन्तु स समीपे वसति। मनसि विचाराणामुत्थानात् पूर्वमेव ते पथनिर्धारणं कर्तुमारभन्ते। अनुरागिणः हृदय-प्रदेशे स महापुरुषस्तादात्म्यभावेन जागर्ति। अर्जुनोऽस्त्यनुरागप्रतीकः।

गीतायाः एकादशाध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्णस्यैश्वर्यं समवलोक्यार्जुनः स्व छुद्रत्रुटीनां कृते क्षमायाचनां कर्तुं प्रारभते। श्रीकृष्णः क्षमां कृतवान् याचनानुरूपं सौम्यो भूत्वोक्तवान् च, ''अर्जुन ! ममेदं स्वरूपं न पूर्वं कश्चिद्ददर्श न च कश्चिद्रक्ष्यति।'' तदा तु गीतेयमस्माकं कृते व्यर्था, कुतोहि तस्य दर्शनस्य योग्यताऽर्जुने सीमिता प्रतीयते। यदा तु तस्मिन्नेवकाले सञ्जयोऽपि

समवलोकयन्नासीत्। पूर्वमपि तेनोक्तम्, ''बहवो योगिजना: ज्ञानरूपतपसापूता: सन्तो मम साक्षात् स्वरूपं लेभिरे।'' अन्ततोऽसौ महापुरुष: किं वक्तुमीहते? वस्तुत: अनुरागएव 'अर्जुन:' अस्ति। यो भवतां हृदये भावना विशेषोऽस्ति। अनुरागविहीन: पुरुष: कदापि पूर्वं न द्रष्टुं शशाक न चानुरागरहित: पुरुष: कदाऽपि भविष्येऽपि द्रष्टुं शक्ष्यति- ''**मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान विरागा।।**'' अत:, अर्जुन एक: प्रतीकोऽस्ति। यदि नास्तिप्रतीकता तर्हि गीताया अनुशीलनं त्यज्यतां, गीता नाऽस्ति भवत्कृते, तदा तु तस्य दर्शनस्य योग्यतासीत् सीमितार्जुनं यावत्।

अध्यायस्यान्ते योगेश्वरो निर्णयं ददाति- ''अर्जुन ! अनन्य भक्त्या श्रद्धया चाहमुक्तप्रकारेण दर्शनार्थं (यथा त्वं दृष्टवान्) तत्त्वत: सुस्पष्टं ज्ञातुं प्रवेष्टुञ्च सुलभोऽस्मि।'' अनन्यभक्तिरप्यनुरागस्य द्वितीया विधा समुच्यते, एतदेवार्जुनस्य स्वरूपमप्यस्ति। अर्जुन: पथिकस्य प्रतीकोऽस्ति। अनेन प्रकारेण गीताया: पात्राणि प्रतीकात्मकानि सन्ति। यथास्थानं तेषां सङ्केतो वर्त्तते।

भवेतान्नाम कृष्णार्जुनौ कौचिदैतिहासिकौ पुरुषौ, निश्चितरूपेणाभवत् सम्पन्नं किमपि विश्वयुद्धं, किन्तु गीतायां भौतिकयुद्धस्य चित्रणं नाऽस्ति कदाऽपि। तस्य युद्धस्य मुखाग्रे समुद्वेगितत्स्वासीदर्जुनो न तु सेना। सेना तु युद्धे तत्पराऽसीत्।

किं गीताया प्रमुखोपदेशं दत्वा श्रीकृष्ण: सव्यसाचिनि कौन्तेये सैन्ययोग्यताया: प्रावीण्यं प्राशिक्षयत्? वस्तुत: साधनोल्लेखनमशक्यम्। सकलाध्ययनानन्तरमपि पठन-पाठन यात्रा न भवति परिपूर्णा किञ्चिच्छेषायत एव। इयमेव प्रेरणा 'यथार्थगीता' ज्ञेया।

श्रीगुरुपूर्णिमा — सद्गुरुकृपाश्रयी जगद्बन्धु:

२४ जुलाई, १९८३ ई. — **स्वामीअड़गड़ानन्द:**

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

यथार्थगीता

[श्रीमद्भगवद्गीता]

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

धृतराष्ट्रः सञ्जयमपृच्छत्- "हे सञ्जय! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे संग्रामेच्छवः समवेताः पाण्डवास्तथा मामकाः कौरवाः किं कृतवन्तः?"

धृतराष्ट्रोऽस्त्यज्ञानस्य प्रतीकः, सञ्जयस्तु संयमस्य प्रतीको ज्ञेयः। अज्ञानं चेतसस्तिष्ठत्यन्तराले, धृतराष्ट्रस्त्वज्ञानाच्छादितमानसोऽस्ति, जन्मान्धश्चापीत्यव-धेयः, परन्तु संयमप्रतीकभूतस्य सञ्जयस्य माध्यमेन धृतराष्ट्रः पश्यति शृणोति च। सः सम्यग् जानाति यत् परमात्मैवैकं सत्यमस्ति, पुनरपि यदावधि मोहस्वरूपो दुर्योधनस्तस्य हृदयप्रदेशे विराजते, तदवधिं यावत् तस्य दृष्टिर्विकाररूपे कौरव एव संलग्नाऽस्ति।

शरीरमेकं क्षेत्रमस्ति। यदा हृदयदेशे दैवीसम्पदः प्राचुर्यं जायते, तदेदं शरीरं धर्मक्षेत्रायते, यदासुरीसम्पदः प्राचुर्यं भवति तदा कुरुक्षेत्रायते च। आदेशवाचकं 'कुरु' पदं कर्मणि प्रवृत्यर्थं कर्म कुरु, इति कर्म कर्त्तुं प्रेरकं क्रियापदमस्ति। श्रीकृष्णः कथयति यत् प्रकृतिप्रभूतैस्त्रिभिर्गुणैः परतन्त्रो मनुष्यः कर्म करोति, स क्षणमात्रमप्यकुर्वन् कर्म नावस्थातुं शक्नोति, गुणास्तु तेन मानवेन

बलात् कर्मकारयन्ति। सुप्तावस्थायामपि कर्मविरामो न भवति, तदपि पुष्टशरीरस्य बुभुक्षानिवारकखाद्यमात्रमस्ति। त्रयोगुणाः मानवं देवतातः समारभ्य कीटादि विविधशरीरेषु बध्नन्ति। यावत् प्रकृतिः, प्रकृतिजाः गुणाश्च सन्ति जीविताः तावत् 'कुरु' इत्यादेशोऽपि जीविष्यति। अतोहि जन्ममृत्युसहितं क्षेत्रं विकारग्रसितञ्च क्षेत्रं कुरुक्षेत्रं जानीयात्तथापरमधर्मपरमात्मनि प्रवेशयितुं पुण्यमयीनां पाण्डवप्रतीकभूतानां प्रवृत्तीनां क्षेत्रं धर्मक्षेत्रमस्ति।

पुरातत्वविदः पञ्चाम्बुप्रदेशे, काशीप्रयागयोरन्तराले तथा भारतभूखण्ड-स्यानेकेषु स्थलेषु कुरुक्षेत्रस्य शोधात्मकान्वेषणे रताः सन्ति, किन्तु गीताकारः स्वयं कथितवानस्ति यत् यस्मिन् क्षेत्रे युद्धमभवत् तत्क्षेत्रं क्वास्ति? ''**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**'' अर्जुन! इदं शरीरमेव क्षेत्रमस्ति। य इदं क्षेत्रं जानाति, स एव पारङ्गामी क्षेत्रज्ञः। अग्रे चलित्वा श्रीकृष्णः क्षेत्रस्य विस्तारमवर्णयत्, यथा यस्मिन् क्षेत्रे दशेन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः, अहङ्कारः, पञ्चविकारास्त्रयोगुणाश्च सततं वर्तन्ते। इदं शरीरमेव युद्धभूमिप्रतीकभूतं क्षेत्रमस्ति। अस्मिन् क्षेत्रे युयुत्सू द्वे प्रवृत्यौ विराजेते, एका दैवीसम्पन्नाम्नी, द्वितीयासुरीसम्पन्नाम्नी। पाण्डुधृतराष्ट्रयोः सन्ततयः, सजातीयविजातीयप्रवृत्यौ स्तः।

अनुभवधनस्य महापुरुषस्य शरणगमनानन्तरं पूर्वोक्तयोर्द्वयोः प्रवृत्योः संघर्षस्य सूत्रपातो भवति। अयं संघर्षः परमार्थतः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः संघर्षोऽस्ति, अयमेव संघर्षो यथार्थयुद्धं समुच्यते। अखिलं जगत् युद्धेतिहासपरिपूरितं विद्यते, किन्तु तेषु युद्धेषु विजेतारोऽपि शाश्वतीं शान्तिं विजयश्रियञ्च नाप्नुवन्ति। अयं संघर्षस्तु पारस्परिक प्रतिशोध एव। प्रकृतिं प्रशाम्य प्रकृतेः परायाः सत्तायाः दिग्दर्शनं तत्र प्रवेशप्राप्तिरेव वास्तविकविजयो बोध्यः। इमं विजयं पराजयः कदाऽपि न स्पृशति। इयमेव मुक्तिः, यदनुजन्ममृत्योर्बन्धनं नास्ति।

अनया रीत्याज्ञानावृतं प्रत्येकं मनः संयमद्वारेण जानाति यत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्युद्धे किमभवत्? अतः परं यस्य संयमस्य यावानुत्कर्षस्तस्य दृष्टिरपि तावती तत्त्वदर्शिनी भविष्यति।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

तस्मिन् समये राजा दुर्योधनो व्यूहरचनायुक्तां पाण्डवीं सेनां दृष्ट्वा द्रोणाचार्यस्य सविधे गत्वेदं वचनमवादीत्।

द्वैताचरणस्य प्रतीकमस्ति द्रोणाचार्यः। यदेदं ज्ञानं भवति यदहं परमात्मनः पृथगस्मि तदेयं प्रतीतिर्द्वैतबीजम्, तत्रैव परमात्मनः प्राप्तेर्व्याकुलता जागर्ति, तदैवाहं गुरुमन्वेष्टुं निःसरामि। प्रवृत्तियुगलमध्ये अयमेव प्राथमिकगुरुः, यद्यपि पश्चात् श्रीकृष्णः सद्गुरुरूपेण लप्स्यते, यस्तु योगविद् योगस्थश्च।

राजा दुर्योधनः द्रोणाचार्यस्य सन्निधौ याति। दुर्योधनस्तु मोहस्य प्रतीकः। मोहस्तु सकलानांव्याधिनांमूलम् तथा व्याधिराजोऽस्ति। दुर्योधनः–दुर् दूषितं दुष्टं वा धनं यस्य स दुर्योधनः, अथवा दुर्विचाररूपं योधनमस्त्रं शस्त्रञ्च यस्य स दुर्योधनः। आत्मज्ञानरूपा सम्पत्तिरेवाचला सम्पत्तिरस्ति, तस्यां येन दोष उत्पाद्यते स एव मोहः। अयं मोहः सर्वं जगत् प्रकृत्योन्मुखं करोति, वास्तविकज्ञानाय प्रेरणामपि ददाति। यावदेव मोहस्तावदेव पिपृच्छा, समाधानानन्तरं सर्वं परिपूर्णमेव।

अतोहि व्यूहरचनायुतां पुण्यप्रवाहितां सजातीयवृत्तियुक्तां सुसंगठितां पाण्डवीं सेनां दृष्ट्वा मोहस्वरूपो दुर्योधनः प्रथमं गुरुद्रोणाचार्यमुपेत्योक्तवान्–

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

भो आचार्य! श्रीमतो बुद्धिमता शिष्येण धृष्टद्युम्नेन व्यूहबद्धां पाण्डुपुत्राणां विशालां सेनामवलोकयतु।

शाश्वताचले पदे दृढास्था धारको दृढमनाः धृष्टद्युम्नोऽस्ति। अयमेव पुण्यप्रवृत्तीनां नायकोऽस्ति। ''**साधन कठिन न मन कर टेका**'' सूक्तिरियं सूचयति यन्मनसो दृढताऽनिवार्या। साधनानि न भवन्ति कठिनानि।

इतः सैन्यविस्तार-विवरणम्-

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

अस्यां सेनायां '**महेष्वासा**'-महदीश्वरे वासस्य दापयितुः, भावस्वरूपो भीमस्य, अनुरागस्वरूपस्यार्जुनस्य च सदृशा बहवो शूराः सन्ति, यथा सात्त्विकतास्वरूपः सात्यकिः, सर्वत्रेश्वरीयप्रवाहस्य धारणाप्रतीको विराट-नामाभूपतिरचलास्थितेर्द्योतको राजा द्रुपदो राजते तथा,

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

दृढकर्त्तव्यस्य प्रतीको धृष्टकेतुस्तथा विचरणशीलस्य चित्तस्य विचरणक्षेत्रात् समाकर्ष्य लक्ष्ये नियोजनकर्तृस्वरूपश्चेकितानः, कायरूपे काशिकाक्षेत्रे साम्राज्य-प्रतीकः काशिराजः, स्थूलसूक्ष्मकारणेति त्रिविधशरीरोपरि विजयप्रदापयितृस्वरूपः पुरुजित् तथा कर्त्तव्यद्वारेण संसारं जेतुकामः कुन्तिभोजः, सत्यव्यवहारपरायणः शैब्यश्च शोभन्ते।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

अपरञ्च युद्धानुरूपं मनसः समाधाने क्षमो बली च युधामन्युः, '**उत्तमौजाः**'-उत्तमोत्तमोजस्वी शुभकर्मणि प्रफुल्लः सुभद्रासुनूरभिमन्युरपि रणदुर्मदो वाभाति, वस्तुतः शुभाश्रये प्राप्ते सति मनो निर्भयं चरति- इत्थं शुभाधारपोषितनिर्भयं मनः, ध्यानस्वरूपाः द्रौपद्याः पञ्चपुत्राः वात्सल्य-लावण्यसहृदयतासौम्यतास्थिरतायाश्च प्रतीकाः महारथिनश्च सन्ति, साधनपथे सम्पूर्णयोग्यतया सह चलितुं सक्षमाः सन्ति।

अनेनप्रकारेण दुर्योधनः पाण्डवपक्षीयाणां पञ्चदश विंशति संख्याकानि नामानि स्मृतवान्। यानि नामानि दैवीसम्पदः सम्पूर्णान्यङ्गानि सन्ति। विजातीय-प्रवृत्तीनां पोषकत्वे सत्यपि दुर्योधनस्य मोहएव सजातीयप्रवृत्तीः सम्बोद्धुं बाध्यं करोति।

दुर्योधनः स्वपक्षस्य चर्चां संक्षेपतः करोति। कस्यचिद्वाह्ययुद्धस्य वर्णनं चेत् स्यात्तदा स्वसेनामधिकाधिकां वर्णयेत्। विकारास्तु न्यूनाः संकलिताः कुतो हि विकारोपरि विजयप्राप्तिलक्ष्यमस्ति, विकारास्तु सन्ति नश्वराः। केवलं पञ्चसप्तसंख्याकाः विकाराः संकलिता येषामन्तराले सम्पूर्णा बहिर्मुख्यः प्रवृत्तयोः विद्यमानाः सन्ति। यथा-

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

हे द्विजोत्तम! मम पक्षेऽपि ये ये प्रमुखाः सैनिकाः सन्ति तान् सर्वानपि भवान् जानातु। मम सेनायां ये सन्ति सेनानायकास्तान् भवतो बोधाय ब्रवीमि।

वाह्ययुद्धसन्दर्भे सेनापतिं प्रति द्विजोत्तमेति सम्बोधनमसामयिकमस्ति। वस्तुतो गीतायामन्तःकरणस्य प्रवृत्तियुगलस्य संघर्षः प्रतिभाति। यस्मिन् प्रवृत्ति-युगले द्वैताचरणस्य प्रतीको द्रोणोऽस्ति। आराध्याल्लेशमात्रमपि यावदहं पृथगस्मि तावत् प्रकृतेः सत्ता दृढतरा द्वैतञ्च सबलम्। एतद् द्वैतोपरि विजयप्राप्तेः प्रथमा प्रेरणा गुरोर्द्रोणाचार्यतो मिलति। अपरिपक्व ज्ञानमेव पूर्णज्ञानप्राप्तेः प्रेरकं भवति। द्विजोत्तमेति सम्बोधनस्थलन्तु युद्धक्षेत्रमस्ति न तु पूजागृहं देवमन्दिरं वा, इह तु वीरतासाहसादिसूचकं सम्बोधनं समीचीनमासीत्।

विजातीयप्रवृत्तीनां नायकाः के के सन्ति?—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

एकतस्तु द्वैताचरणप्रतीकभूतो भवानेव, भ्रमस्वरूपः पितामहो भीष्मश्च। भ्रम एव विकारानुत्पादयति जीवति, चान्तिमश्वासंयावदतोहिपितामहोऽस्ति। सम्पूर्णसेना मृत्युं प्राप्तवती, जीवनं दधानोऽयं भीष्मः शरशय्यायामचेतनः शयानश्चासीत्, तदाऽपि सजीवोऽभवत्। अयमेवाऽस्ति भ्रमरूपी भीष्मः। भ्रमोऽन्तावधि विद्यते। इत्थमेव विजातीयकर्मप्रतीकः कर्णस्तथा संग्रामविजेता कृपाचार्यश्च विराजेते। साधनावस्थायां साधकद्वारेण कृपायाः सदाचरणमेव कृपाचार्यो वर्त्तते। भगवान् कृपाधामेति निर्विवादा मान्यता, साधकाः कृपां

लब्ध्वा भगवत्स्वरूपा भवन्ति; किन्तु साधनासमये यावदहं पृथगस्मि तावत् परमात्माऽपि पृथगेव ज्ञेयः, विजातीयप्रवृत्तयः प्रबला, मोहस्य परितः समावरणं यदा भवति, तदैतादृश विषमस्थितौ साधकश्चेत् कृपायुतमाचरणं करोति तदा साधको विनङ्क्ष्यति। मैथिलीसीता रावणोपरि कृपां कृतवती, यस्याः कृपायाः प्रायश्चित्तं लङ्कायामुषित्वा कृतं सीतया। विश्वामित्रोऽपि दयां कृत्वा पतितोऽभवत्। योगसूत्राणां प्रणेता महर्षिपतञ्जलिरपि तदेव प्रतिपादयति, "**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः**" (३/३७) व्युत्थानकाले सिद्धयः प्रकटिता भवन्ति, तास्तु वस्तुतः सिद्धयः सन्ति किन्तु कैवल्यप्राप्तौ ताः सिद्धयः सन्ति विघ्नस्वरूपाः; यथा कामक्रोधमदलोभादयः पातयन्ति परमात्मपथः– इत्यलम्। गोस्वामी तुलसीदासोऽपि दृढं समर्थयति–

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तब माया।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।।

(रामचरित मानस, ७/११७/६–७)

माया बहून् विघ्नान् विदधाति, सकलाः ऋद्धीः प्रयच्छति, सिद्धपदञ्चार्पयति। एतादृक् सिद्धावस्थासम्पन्नः कश्चित् साधको मरणासन्नरोगिणः सन्निकटतश्च चेत् व्रजेत् तदा मरणासन्नो रोगाक्रान्तो जनोऽपि स्वास्थ्यलाभं प्राप्तुं शक्नुयात् इत्यपि सम्भवः; किन्तु साधको यदा रोगिणो रोगनिवृत्तिं स्वकृपां मनुते तदा साधको पथभ्रष्टो नष्टश्च भवति। एकस्य रोगिणः स्वास्थ्यलाभोत्तरं सहस्राधिका विपद्ग्रस्ता रोगिणोऽपरे च कामार्थिनो जनाः परितः साधकमाच्छादयिष्यन्ति। साधकस्य भजनचिन्तनयोः क्रमोऽवरुद्धो भविष्यति, एवं जनहिते प्रवहमाणस्य कीर्तिचयने संसक्तमनसः साधकस्य प्रकृतिरागोऽहर्दिवं प्रवर्धते। चेत् साधकस्य लक्ष्यं दूरे तिष्ठति, साधकस्तु कृपां करोति, तदा मात्रैक कृपाचरणबलेन "**समितिञ्जयः**"–सकलां सेनां जेत्स्यति। एतस्मात् साधकेन लक्ष्यपूर्तिपर्यन्तं सावधानेन भवितव्यम्। "**दया बिनु सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई।।**" किन्त्वर्द्धावस्थायामयं विजातीयप्रवृत्तेर्दुर्धर्षयोद्धाऽस्ति। एवमेवासक्तिप्रतीकोऽश्वत्थामा, विकल्परूपो विकर्णः, भ्रममयश्वासप्रतीको भूरिश्रवा च। इमे सर्वे बहिर्मुखप्रवाहस्य सन्ति नायकाः।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

अपरेऽपि सशस्त्रा बहवो योद्धारस्त्यक्तजीवनाशाः ममहिताय युद्धं कर्त्तुं समुद्यताः सन्ति। सर्वे मदर्थं प्राणान् त्यक्तुं कामयन्ते; किन्तु तेषां काऽपि सुदृढा गणना नास्ति। इदानीं कस्य सैन्यं कैर्भावैः सुरक्षितं भविष्यति, इति विषयमुद्दिश्याग्रे विवेचना क्रियते–

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

पितामहभीष्मेणाभिरक्षिता मम सेना सर्वथाऽजेयाऽस्ति। भीमद्वाराभिरक्षिता पाण्डवानां सेना सरलतया जेतुं शक्याऽस्ति। श्लोकेऽस्मिन् पर्याप्तापर्याप्त-योरुभयोः श्लिष्टपदयोः प्रयोगो दुर्योधनस्याशंकां व्यनक्ति। अतो विवेचनीयमस्ति यत् कीदृशमस्तित्वं भीष्मस्य वर्त्तते, यदुपरि कौरवाः सन्ति निर्भरास्तथा भीमस्य सत्ता कीदृशी यस्योपरि पाण्डवाः सन्ति सुनिर्भराः।

दुर्योधनः स्वव्यवस्थां द्रढयति–

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

एतस्मात् कारणात् संग्रामस्य प्रमुखद्वारेष्वस्थिताः सन्तो, इमं सर्वथा सर्वतश्च भीष्ममेवाभिरक्षत। यदि भीष्मो जीवति तदा वयमजेयाः स्मः। अतो हि भवन्तः पाण्डवैः सह युद्धं न कृत्वा भीष्ममेव रक्षन्तु। भीष्मः कीदृशो योद्धाऽस्ति यः स्वयमात्मरक्षां कर्त्तुं न पारयति, कौरवैः तस्य रक्षां कर्त्तुं प्रयत्यते? अयं भीष्मो न कोऽपि वाह्ययोद्धाऽस्ति प्रत्युत् भ्रम एव भीष्मोऽस्ति। यावद् भ्रमो (भीष्मो) जीवति, तावद् विजातीयप्रवृत्तिस्वरूपाः कौरवाः सन्ति विजयिनः। अत्राजेयस्यार्थोऽयं नास्ति यत् यो जेतुमशक्यः प्रत्युताजेयस्यार्थो दुर्जेयोऽस्ति, यः काठिन्येन जेतुं शक्यः स्यात्। ''**महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर।**'' (रामचरितमानस, ६/८०)

यदि भ्रमः समाप्येत्तदा अविद्यास्तित्वविहीना स्यात्, मोहादयोऽपि ये सन्त्यांशिकरूपेणावशिष्टास्तेऽपि शीघ्रमेव समाप्स्यन्ति। भीष्मस्य मृत्युरिच्छाधीनासीत्। इच्छैव भ्रमोबोध्यः। इच्छायाः समाप्तिर्भ्रमस्य निवृत्तिश्चैकमेव तथ्यमस्ति।

अमुं विषयं कबीरः पुष्णाति–

इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया।
कह कबीर जे इच्छा विवर्जित, ताका पार न पाया।।

यस्य कुत्रापि भ्रमो न भवति, स अपाराव्यक्तयोराश्रयः। अस्य शरीरस्योत्पत्तेर्कारणमिच्छैवाऽस्ति। इच्छैव माया कथ्यते, इच्छैव जगदुत्पत्ति कारणमस्ति। (**'सोऽकामयत्' तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय इति।' (छान्दोग्य० ६/२/३)** कबीरः कथयति यत् यः इच्छारहितोऽस्ति, तस्य पारं प्राप्तुं न शक्यः **(तिनका पार न पाया)** ते सर्वेऽपारेऽनन्तेऽसीमतत्त्वे प्रवेशं लभन्ते। **(योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृहदारण्यक, ४/४/६)** यः कामनाविरहित आत्मनि रममाण आत्मस्वरूपोऽस्ति, तस्य पतनं कदाऽपि न भवति। सो ब्रह्मणा सह एकाकारो जायते। आरम्भकाले, इच्छा अनन्ता भवन्ति, परन्तु पश्चाच्चलित्वा परमात्मप्राप्तेरेवेच्छाऽवशिष्यते। यदा परमात्मप्राप्तेरिच्छा परिपूरिता भवति तदा सर्वमिच्छाप्रकरणं विलीयते। परमात्मोपरि ततोऽपि विशिष्टं परं वा चेत् किमपि वस्तु भवेत् तदा जनस्तस्य प्राप्तेरिच्छां प्रदर्शयेत्। यदा परमात्मनः परं नास्ति किमप्यपरं वस्तु, तदा वस्तु काममूलेच्छा स्वयमेव समूलं विनश्यति, इत्थमिच्छानिवृत्तौ सर्वेभ्रमाः स्वयं निवर्त्तन्ते। इदमेव भीष्मस्येच्छामृत्योर्मुख्यं रहस्यम्। अनया रीत्या भीष्मेण सुरक्षिताऽस्माकं सेना सर्वथाऽजेयाऽस्ति। यावद् भ्रमोऽस्ति तावदेवाविद्यास्तित्वं तिष्ठति। शान्ते भ्रमेऽविद्याऽपि समाप्ता भवति।

भीमद्वारा सुरक्षिता पाण्डवसेना सारल्येन जेतुं शक्या। भीमस्तु भाव–प्रतीकः। "भावे विद्यते देवः", भावे तत्सामर्थ्यं विद्यते यत् सर्वथाज्ञेयोऽपि परमात्माज्ञेयो भवति।

भाव वस्य भगवान्, सुख निधान करुना अयन।।

(रामचरित मानस, ७/१२/ख)

श्रीकृष्णस्त्वमुं भावं श्रद्धास्थानीयं कथयति। भावे सा क्षमता विद्यते, या भगवन्तमपि स्ववशमानयति। भावमाध्यमेनैव सर्वेषां पुण्यप्रवृत्तीनां विकासो भवति, भावोऽयं पुण्यस्य पालकः। अयं भावस्त्वेतावान् बलसमृद्धो वर्त्तते यत् परमदेवं परमात्मानमपि हृदिसंस्थापयति, किन्तु भावे परमाकोमलताऽपि राजते, तथाहि साम्प्रतं सद्भावः कालान्तरे कुभावे परिणमते। यथाऽद्य भवान् कमपि महात्मानं जनं वा महाराजेति सम्बोधनेनालङ्कुर्वन्ति, श्वस्तु कथयितुं सन्नद्धाः दृश्यन्ते यत् महाराजाः सन्ति भोगासक्ताः सुमधुरपायसं लिहन्तो मया दृष्टाः। कुतोहि–

घास पात जो खात हैं, तिनहि सतावे काम।
दूध मलाई खात जे, तिनकी जाने राम।।

इष्टे श्रद्धास्पदे च मनागपि जागृते सन्देहे ज्ञातायां त्रुटौ च भावः परिवर्त्तते। पुण्यमयाः प्रवृत्तयश्च भवन्ति प्रविचलिताः। इष्टात् सम्बन्धो विच्छिन्नो भवति। एतस्मात् भीमेन सुरक्षिता पाण्डवसेना कौरवसेनया सुगमतया जेतुं शक्या। महर्षिपतञ्जलिरपि निर्णयममुं पुष्णाति, **''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा-ऽऽसेवितो दृढभूमिः।'' (योगसूत्र, १/१४)** दीर्घकालं यावत् निरन्तरं श्रद्धाभक्तिपूर्वकं कृतं साधनमेव दृढतां प्राप्नोति।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

इत्थं स्वबलाबलयोर्निर्णयानन्तरमभवच्छङ्खध्वनिः। शङ्खध्वनिर्युयुत्सु–पात्राणां पराक्रमस्य घोषणास्वरूपाऽस्ति यद् विजयोत्तरं किं नामकं पात्रं कस्मैचिद् युद्धनायकाय किं दास्यति। कौरवसैन्ये वयोवृद्धो बलवृद्धो च भ्रमप्रतीकः प्रतापवान् पितामहो भीष्मो दुर्योधनस्य हृदये हर्षमुत्पादयन् परमोच्चैर्ध्वनिना सिंहनादसदृशं भयजनकं शङ्खनादमकरोत्। सिंहनादपदे सिंहपदं भीषण–प्रतिक्रियायाः प्रतीकमस्ति। निर्जने नीरवे घोरे कान्तारे कदाचिदेकान्ते मदोन्मत्तस्य

केशरिणः साटोपमुद्दामगर्जननादः कर्णविवरं प्रविशेच्चेत्तदा हृदयं कम्पनाय विवशो भवति शरीरस्य लोमानि भवन्त्युद्गताः। यद्यपि सिंहो भवतः क्रोशं दूरमस्ति। भयस्थानन्तु प्रकृतिर्नपरमात्मा, परमात्मसत्ता तु भयरहिता सत्ता समुच्यते। भ्रमस्वरूपो भीष्मश्चेत् विजयं प्राप्नुयात्तदा प्रकृतेर्यस्मिन् भयकानने भवन्तस्तिष्ठन्ति, ततोप्यधिकं भयस्यावरणे भवन्मण्डलं पातयिष्यति। अपरमपि भयस्यैकं तलं वृद्धिमेष्यति, भयस्यावरणं दृढं भविष्यति। अयं भ्रमश्चेतसो भयादधिकमपरं न किमपि दास्यति। अतः प्रकृतेर्निवृत्तिरेवाऽस्ति गन्तव्यपथः। संसारे प्रवृत्तिस्तु भवाटवीस्वरूपा गाढान्धकारस्य छाया चास्ति। अतः परं कौरवाणां काऽपि घोषणानाऽस्ति। कौरवाणां पक्षतो नैकयुद्धवाद्यानि युगपद्वादितानि, किन्तु तानि सर्वाणि भयमेव जनयन्ति, अतः परं न किमपि कर्त्तुं समर्थानि। सर्वे विकाराः कमपि-कमपि भयं ददत्येव, अतस्तेऽपि घोषणां चक्रुः-

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

तत्पश्चाच्छङ्खभेरीमृदङ्गपणवानकगोशृङ्ग्यादिविविधरणवाद्यानि सहसा सहैव च वादितानि। तेषां रणभेर्यादि वाद्यानां वादनेन भयङ्करः कर्णकटुः शब्दः प्रादुर्भूतः। भयस्य संचारं विहाय कौरवाणां न काऽपि सप्रयोजना घोषणा। बहिर्मुख्यो विजातीयाः प्रवृत्तयः सफलतां लब्ध्वा मोहमयं निगडं दृढं कुर्वन्ति।

इदानीं पुण्यमयप्रवृत्तिपक्षतोऽभवद् घोषणा, यत्र प्रथमा घोषणा समभूत् श्रीकृष्णस्य-

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

तदनन्तरं शुक्लघोटकैराकृष्यमाणे (अत्र श्वेतता सात्त्विकगुणस्य प्रतीकरूपेण समुल्लिखिता विद्यते, लेशमात्रमपि तामसादीनामंशोऽपि नाऽस्तीति सूचयति) **'महति स्यन्दने'**-महत्स्यन्दनारूढः श्रीयोगीश्वरः कृष्णस्तथार्जुनश्चालौकिकौ शङ्खावधमताम्। अलौकिकविशेषणस्यार्थः समस्त मृत्युलोकदेवलोक-ब्रह्मलोकादि लोकपदवाच्यस्थानेभ्यो भिन्नं कृष्णार्जुनयोः शङ्खयुगलमासीत्।

निखिलेभ्यो लोकेभ्यः पृथक् पारलौकिकपारमार्थिकेति लोकद्वयस्य स्थित्यानयनस्य स्थापनस्य च योगेश्वरश्रीकृष्णस्य घोषणा लोकोत्तरा। उपर्युक्तस्यन्दनः कनकरजतकाष्ठादिभिर्ननिर्मितोऽस्ति, प्रत्युदलौकिकः स स्यन्दनः, शङ्खोऽपि लोकभिन्नो, घोषणाप्यतोलोकभिन्ना। लोकात्परं केवलमेकमात्रं ब्रह्मैव वरीवर्ति। ब्रह्मसाक्षात्कारं कारयितुं सुस्पष्टा श्रीकृष्णस्यास्ति घोषणा। स उक्तां स्थितिं कथं प्रापयिष्यतीति द्रष्टव्यमग्रे—

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

हृषीकेशः- यो हृदयस्य समस्तरहस्यज्ञाताऽस्ति, स श्रीकृष्णः पाञ्चजन्य नामकं शङ्खमधमत्। पाञ्चजन्य पदं स्वकुक्षौ परं विलक्षणमर्थं धारयति, तथा हि, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धानां पञ्चतन्मात्राणां रसैः संमिश्र्य निजभक्तजनश्रेण्यां समारोपयितुं घोषितवान्। विकृतरूपेण प्रबलवेगधारया विषयासक्तानीन्द्रियाणि विषयात् परावृत्य स्वसेवककोटौ प्रतिष्ठापनमेव सद्गुरुणां प्रमुखमनुदानमस्ति। श्रीकृष्ण एको योगेश्वरः सद्गुरुरासीत्। "**शिष्यस्तेऽहम्**"- भगवन्! अहं भवतः शिष्योऽस्मि। वाह्यविषयवस्तूनि परित्यज्य ध्यानसाधनाया-मेकमिष्टातिरिक्तमपरं किमपि वस्तुजातं न पश्येयम्, न शृणुयाम्, न स्पृशेयम्- इयं स्थितिः सद्गुरुणामनुभवसञ्चारोपरि निर्भरा भवति।

देवदत्तं धनञ्जयः- दैवीसम्पदं स्वायत्तीकरणक्षमः सदनुराग-प्रतीकोऽस्त्यर्जुनः। इष्टं प्रत्यनुरक्तिः सा कथ्यते, यस्यामनुरक्तौ, विरहवेदना-वैराग्यमश्रुपातश्च सहजरूपेण जायते। '**गद्गद् गिरा नयन बह नीरा**' इष्टानुध्यानावसरे रोमावलिः प्रफुल्ला भवेत्, इष्टातिरिक्तमन्येषां विषयवस्तूनां लेशमात्रमप्यवरोधोमा प्रसज्जेत्, एतादृशीं स्थितिमेवानुरागं वदन्ति ऋषिप्रवराः। यदि साधनारतो भक्तोऽनुरागे सफलतां लभते तदा परमदेवे परमात्मनि सन्निवेशस्याधिकारप्रदानक्षमां दैवीसम्पदमपि स्ववशमानेतुं प्रभवति। अस्यैवापरं नाम धनञ्जयोऽस्ति। एकं धनन्तु वाह्यसांसारिकसम्पत्तिस्वरूपमस्ति, येन शरीरनिर्वाहस्य व्यवस्था प्रचलति। नास्य धनस्यात्मना कोऽपि सम्बन्धः। इतः परा सुस्थिरा आत्मज्ञानरूपा सम्पत्तिरेव स्वसम्पत्तिरस्ति। बृहदारण्यकोपनिषदि

याज्ञवल्क्यो मैत्रैयीमिदमेव तत्त्वं प्राबोधयत्, धनादिवैभवभूषितायाः सम्पूर्णायाः रसायाः स्वामित्वमप्यात्मज्ञानामृततुलनायां न धारयति न्यूनमपि मूल्यम्। अतो ह्यात्मज्ञानसम्पत्तिरेवामृतमुच्यते।

भयानककर्मकर्त्ता भीमसेनः पौण्ड्रमर्थात् प्रीतिनामकं शङ्खमधमत्। भावस्योद्गमनिवासस्थानञ्च हृदयमस्तीति कारणादस्य नाम वृकोदरोऽस्ति। भवतां भावात्मिकासक्तिशिशुषु भवति, किन्तु वस्तुतः स रागो भवतां हृदयदेशे सन्तिष्ठते, स एवरागः शिशुहृद्देशे साकारो जायते। अयम्भावोऽगाधोबलशाली च। एवं भीमः प्रीतिनामकं शङ्खमधमत्। सा प्रीतिर्भावेषु निहिता विद्यते। भावस्त्वधिकबलयुक्तः किन्तु प्रीतिसञ्चारमाध्यमेनैव।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।

(रामचरित मानस, १/१८४/५)

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्रो राजा युधिष्ठिरः स्वकीयमनन्तविजयं नामकं शङ्खमधमत्। कर्त्तव्यस्य प्रतिमूर्तिः कुन्ती, धर्मस्य प्रतिमूर्तिर्युधिष्ठिरश्चेति बोधव्यः। धर्मोपरि स्थिरविश्वासे सति '**अनन्त विजयं**'-अनन्ते परमात्मनि नियोजयति। युधि स्थिरः, युधिष्ठिरः। युधिष्ठिरः प्रकृतिपुरुषयोः, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संघर्षे सदा सुस्थिरो विराजते। महद्भ्यो दुःखेभ्योऽपि विचलितो न भवति, परिणामतः कस्मिंश्चित् समयेऽन्तहीनानन्तपरमात्मतत्त्वे मिलनरूपं विजयं प्राप्नोति।

नियमस्य प्रतीको नकुलः सुघोषनामकं शङ्खं दध्मौ। यथा-यथा नियमः समुन्नतो भविष्यति तथा-तथाऽशुभस्य शमनं सुनिश्चितं भविष्यति, शुभस्योद्घोषः सुलभो भविता। सत्सङ्गस्वरूपः सहदेवो मणिपुष्पकनामकं शङ्खमधमत्। मनीषिणः प्रत्येकं श्वासं बहुमूल्यं मणिवत् मन्यन्ते। "**हीरा जैसी श्वांसा बातों में बीती जाय।**" एकः सत्सङ्गस्तु स कथ्यते यः सतां प्रवचनोपदेशात् लभ्यते, किन्तु यथार्थतः परमार्थतश्च साधीयान् सत्सङ्गः सत्स्वरूपेण आत्मना सहान्तरिक-सङ्ग एव सत्सङ्गः समुच्यते। श्रीकृष्णानुसारेणात्मैव सत्यं सनातनञ्चास्ति। चित्तं

सर्वतः समाकृष्य केवलं सदात्मनि संयोजनमेव वास्तविक सत्सङ्गः समुदीर्यते। अयं सत्सङ्गश्चिन्तनध्यानसमाधीनामभ्यासादेव सम्पन्नो भवति। यथा-यथा सत्यस्य सान्निध्ये सुरतिः प्रगाढा भविष्यति तथा-तथा प्रतिश्वासं नियन्त्रणं कर्त्तुं सामर्थ्यमेधिष्यते, मनसासहेन्द्रियाणां निरोधोऽपि प्रारभिष्यते। यस्मिन् दिने सर्वथेन्द्रियनिरोधो भविष्यति तदा लक्ष्यलक्षितं वस्तुसम्मेलिष्यति। वाद्ययन्त्रवत् चित्तस्यात्मस्वरे विलयनमेव सत्सङ्गः।

व्यावहारिकस्फटिकमरकतादि मणयो वज्रवत् कठोरा भवन्ति, किन्तु श्वासमणिस्तु कुसुमादपि सुकोमलः। पुष्पाणि तु विकासानन्तरं चयनानन्तरं वा म्लायन्ते, किन्त्वग्रिमश्वासं यावत् जीवनधारणस्याश्वासनं दातुं न कोऽपि प्रभवति। किन्तु सफलः सत्सङ्गः प्रत्येकं श्वासोपरि नियन्त्रणं दापयन् परं लक्ष्यं प्रापयति। अतः परं पाण्डवानां न काऽपि घोषणा, किन्तु प्रत्येकं साधनं निर्मलतापथे न्यूनातिन्यूनां दूरीमपाकरोति। अतः परं कथयति-

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।

कायास्वरूपा काशी ज्ञेया। पुरुषो यदा जगत्प्रपञ्चात् मनसासहित-मिन्द्रियग्रामं सन्निवार्य देहस्थेदेहिनि केन्द्रयति तदा '**परमेष्वासः**'- परम परमात्मनि वासस्याधिकारी भवति। परमेश्वरे वासं दापयितुं समर्थः काय एव काशीप्रतीकः। काये परमेश्वरस्यात्मसंज्ञयानिवासो निर्विवादः। परमेष्वासः पदस्यार्थः प्रवीण-धानुष्को नहि प्रत्युत् परम+ईश+वासो बोध्यः।

शिखासूत्रयोस्त्यागएव शिखण्डीति। अद्यतनाः जनाः शिरसो बालराशेः कर्त्तनं कारयन्ति, यज्ञोपवीतं सूत्रं मन्वानाः कण्ठात् विमुञ्चन्ति, अग्निहोत्रादिकं त्यजन्ति किं बहुना, वह्निस्पर्शमपि न कुर्वन्ति, अनयारीत्या भवन्ति संन्यस्ताः। वस्तुतः शिखापरमोच्चलक्ष्यप्राप्तेः प्रतीकमस्ति, सूत्रन्तु संस्कारस्य। यावदग्रिम-जीवनयात्रायामीश्वरस्य प्राप्तिरवशेषा विद्यते तावत् भवतामनुप्रेरकसंस्कारस्य सूत्रपातः पृष्ठानुगमनं करोति, तदानीं यावत् कीदृशस्त्यागः? संन्यासश्च किमाकारकः? साम्प्रतन्तु यात्रापूरकः पथिकोऽस्ति, यदा प्राप्तव्यं लक्ष्यं प्राप्नुयात्

तदनु संस्कारसूत्रोच्छेदः समीचीनः, अस्यामवस्थायां सर्वे संशयाः समूलमुच्छिद्यन्ते। एतस्मादेव भ्रमप्रतीकं भीष्मं शिखण्डीविनाशयति। चिन्तन-पथस्य विशिष्टयोग्यतायाः स्वरूपोऽस्ति शिखण्डी इति।

धृष्टद्युम्नः-दृढन्तथाविचलं मनएवं '**विराटः**'- सर्वत्रव्याप्तस्येश्वरस्य विराटरूपदर्शनक्षमतैव दैवीसम्पदः प्रमुखो गुणोऽस्ति। सात्त्विकतैव सात्यकिरस्ति। सत्यस्य चिन्तनस्य प्रवृत्तिः सात्त्विकता चेत् सुरक्षिता भवेत्तदा कदाऽपि पतनस्य न भवति सन्देहः। इयं सात्त्विकता भावी संघर्षे पराजयं वारयिष्यति।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अविचलशाश्वतपदप्रदानक द्रुपदः, ध्यानस्य प्रतीकाः द्रौपद्याश्च पञ्चपुत्राः सहृदयतास्थिरतावात्सल्यलावण्यसौम्यतादि साधने परमसहायकाः प्रमुख महारथाः सन्ति-इमे पञ्च कुमारास्तथाजानुबाहुरभिमन्युश्च स्व-स्व शङ्खं पृथक्-पृथक् दध्मुः। भुजाः कार्यक्षेत्रस्य प्रतीकाः सन्ति। यदा कस्याऽपि मनो भयमुक्तं भवति, तदा तस्य गतिर्भवति बहुदूरगामिनी।

हे राजन् ! इमे सर्वे पार्थक्येन शङ्खानधमन्। नामग्राहं सूचिताः किमपि-किमपि सुदूरस्थं लक्ष्यं हस्तामलकी कुर्वन्ति, एतस्मादेवैतेषां नामानि सूचितानि। एतेषां लक्ष्यगतदूरीतोऽतिरिक्ताऽपि दूरी वर्त्तते या मनोबुद्धिभ्यां परतराऽस्ति। भगवान् स्वयमेव अन्तःस्थो निर्णयं प्रस्तौति। इतस्तु नयनीभूयात्मरूपेण समुपस्थितो भवति, स्वपरिचयमपि ददाति।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

स घोरशङ्खनादो गगनं भूमण्डलञ्च मुखरयन् धृतराष्ट्रपुत्राणां हृदयान्यविदारयत्। सैन्यं तु पाण्डवानां पक्षेप्यासीत्; किन्तु हृदयविदारणं धृतराष्ट्रपुत्राणामेवाभवत्। यथार्थतः पाञ्चजन्यनामा श्रीकृष्णशङ्खो दैवीशक्त्युपरि स्वाधिपत्यमनन्ते परमात्मनि विजयमशुभस्य शमनं शुभस्योद्घोषणं कर्त्तुं यदारभते, तदा कुरुक्षेत्रे महासुरीसम्पदवतां वहिर्मुखीप्रवृत्तीनां हृदयं विदीर्णं भवति। तेषां

बलं शनैः-शनैः क्षीणतां गमिष्यति। सर्वप्रकारेण सफलताप्राप्त्यनन्तरं मोहमय्यः प्रवृत्तयः सर्वथा शान्ताः सम्भवन्ति।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

संयमस्वरूपः सञ्जयोऽज्ञानावृतमानसं धृतराष्ट्रं बोधयति यद् हे राजन्! तदनन्तरं ''**कपिध्वजः**''– वैराग्यप्रतीको हनूमान्, वैराग्यरूप एव यस्याऽस्ति ध्वजः। ध्वजस्तु राष्ट्रस्य प्रतीको मानितो वर्त्तते। केचन जनाः कल्पयन्ति यद् ध्वजश्चञ्चल आसीत् तस्मात् कपिध्वजः कथितः। कपि शब्देनात्र सामान्य वानरो न मन्तव्यः प्रत्युत् स्वयं हनुमानेवासीत्, यो हि मानापमानयोर्हननं कृतवानासीत् ''**सममान निरादर आदरहीं**''। प्रकृत्यन्तराले विषयरूपेण विद्यमानानां वस्तूनां त्यागएव वैराग्यमस्ति। अतोहि वैराग्यमेव यस्य ध्वजोऽस्ति, स अर्जुनो व्यवस्थितरूपेण धृतराष्ट्रपुत्रान् रणक्षेत्रे स्थितानवलोक्य शस्त्रप्रहारारम्भसमये ''**हृषीकेशम्**''- यो हृदयस्य सर्वज्ञोऽस्ति एवं दृशं कृष्णं सम्बोध्योवाच- हे अच्युत! (यः कदाऽपि न भवति च्युतः) मम रथमुभयोसेनयोर्मध्ये संस्थापय। अत्र सारथिने प्रदत्तः समादेशो न ज्ञेयः प्रत्युत् स्वेष्टं प्रति कृता प्रार्थनाऽस्ति।

किमर्थं रथं स्थापयेत्?

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

यावदहं युयुत्सूनिमान् न सम्यगवलोकयानि यदस्मिन् युद्धोद्योगे मया कैःकैः सह युद्धोऽस्ति करणीयः। अस्मिन् युद्धव्यापारे केन केन सह युद्धः कर्त्तव्योमस्ति।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

दुर्बुद्धेर्दुर्योधनस्यास्मिन् युद्धे कल्याणं कामयमाना ये ये राजानोऽस्मिन् सैन्ये समागताः सन्ति तान् युयुत्सूनहं द्रक्ष्यामि। एतदर्थमुभयोर्सेनयोर्मध्ये रथस्थापनमावश्यकम्। मोहप्रतीकं दुर्योधनम्। मोहमय्याः प्रवृत्तेः कल्याणमिच्छन्तो ये ये भूपाः सङ्गरेऽस्मिन्नागताः, वर्त्तन्ते तानहं पश्यानि।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

सञ्जयः प्रावोचत्–निद्राजयिनार्जुनेनेत्थं प्रवदति सति हृदयभावसर्वज्ञः श्रीकृष्णः सेनयोरुभयोरन्तराले भीष्मद्रोणयोः पुरतस्तथा **'महीक्षिताम्'**–शरीररूपायां पृथिव्यां लब्धाधिकाराणां राज्ञां मध्यभागे सर्वोत्तममजेयं रथं संस्थाप्याब्रवीत्, हे पार्थ! समवेतानिमान् कौरवान् पश्य। अत्रोत्तमरथः सुवर्णरजतयोर्नास्ति। संसारे श्रेष्ठतायारुत्तमतायाः परिभाषा नश्वरं प्रति प्रतिकूलतया तथानश्वरं प्रत्यनुकूलतया क्रियते, नश्वरं प्रति रागः परिभाषेयमपूर्णा। यो ममात्मनस्तथा मम वास्तविकस्वरूपस्य साह्यं कुर्यात् सैवोत्तमा स्थितिः, यदनु उत्तमता विपरीतं मालिन्यं न मिलति।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथपितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

तदनन्तरमच्युतलक्ष्यभेदिनः, पार्थिवशरीरं रथं मन्वानः पार्थः प्रस्तुतयो–रुभयोः सेनयोः स्थितान् पितृव्यान्, पितामहानाचार्यान्, मातुलान्, भातृन्, पुत्रान्,

पौत्रान्, मित्राणि, श्वसुरान्, सुहृद्गणांश्च ददर्श। उभयोः सेनयोर्मध्ये अर्जुनेन केवलं स्वपरिजनाः, मातुलपरिवाराः, श्वसुरपरिवाराः, सुहृज्जनाः गुरुगणाश्च दृष्टिपथायिताः। महाभारतकालिकगणनानुसारेणाष्टादशाक्षौहिणीसैन्यसंख्यामानं सार्द्धषडर्बुदमितं भवति, या संख्येदानीन्तनाखिलविश्वजनसंख्यासमकक्षं भवति। इयतामनेकार्बुदसंख्याकजनानामिदानीमपि यत्र कुत्रचित् भोजनावास-समस्याऽसमाधेया परिलक्ष्यते। एतावती महती प्रचुरतरा जनसंख्या अर्जुनस्य पञ्चषाणां सम्बन्धिनामासीत्। प्रश्नः समुदेति यद् इयान् विशालसंख्यासंयुतः कस्यचित् क्वचित् परिवारो भवति। वस्तुत इदं हृदयदेशस्य चित्रणमस्ति।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अनेन प्रकारेण युद्धभूमिस्थितान् स्वबन्धुजनानवलोक्यात्यधिक-करुणाक्रान्तः कुन्तीपुत्रोऽर्जुनः सशोकमवोचत्। अर्जुनः शोकं कर्त्तुमारभते, कुतोहि सोऽपश्यत् यदयन्तुस्वकीयः परिवारः। अतो ब्रवीति-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

हे कृष्ण! अस्मिन् युद्धे युयुत्सून् स्वजनसमूहान् दृष्ट्वा ममाङ्गानि शिथिलानि भवन्ति, मुखं मे शुष्यति, शरीरे कम्पनं तथा रोमोद्गमश्च भवन् प्रतीयते। एतदेव नहि,

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

करात् गाण्डीवं धनुर्पतति, त्वगपि दहति। अर्जुनो ज्वरतापाक्रान्तइव प्रतिभाति, चिन्तयति यत् कीदृशोऽयं रणो, यस्मिन् स्वजनाः सन्ति योद्धुं सन्नद्धाः। अर्जुनो भ्रान्तो भवति। ब्रवीति सः साम्प्रतमहमात्मानं स्थातुमपि सामर्थ्यं नानुभवामि। इदानीमग्रे दर्शनसामर्थ्यमपि नाऽस्ति।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

हे केशव! युद्धस्यास्य लक्षणमपि विपरीतं पश्यामि। युद्धे स्वकुलं व्यापाद्य परमकल्याणमपि नावलोकयामि। कुलसंहारात् कथं कल्याणं भविष्यति?

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

सकलः परिवारः संग्राममुखाग्रे तिष्ठति, एतान् सर्वान् युद्धे हत्वा विजयं लब्ध्वा विजयेनोपलब्धं राज्यप्रभवं सुखमर्जुनो न वाञ्छति। स आह– कृष्ण! नाहं विजयमभिलषामि, राज्यं सुखञ्चाहं नेच्छामि। गोविन्द! राज्येन भोगेन तथा जीवनेनाऽपि न मेऽस्ति किमपि प्रयोजनम्? किमर्थं नाऽस्ति प्रयोजनमिति व्याहरति–

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

यदर्थं राज्यभोगसुखादिकञ्च ममाभीष्टमस्ति, त एव परिजनाः जीवनाशां विहाय युद्धक्षेत्रे सन्त्युपस्थिताः। मम राज्यप्राप्तिकामना परिवारमादायैव भोगसुख-धनलिप्सासीत्। स्वजनपरिवारेण सह राज्यसुखादि कामनासीत् मदीया, किन्तु यदा सर्वे प्राणाशां विहाय पुरतो राजन्ते, तदा मह्यं राज्यसुखभोगादिकं न रोचते। एतत् सर्वमिमे काङ्क्षन्ति। एतेभ्यः पृथग् भूय मह्यं नैतेषां राज्यसुख-भोगादीनामावश्यकता। यावत् परिवारस्थितिस्तावदेव सुखभोगादि वासना जागर्ति। पर्णशालायामपि निवसन् कोऽपि जनः स्वपरिवारं मित्रं स्वजनं च हत्वा विश्वस्यापि साम्राज्यं नाङ्गीकरिष्यति। अर्जुनः कथयतीदं यत् मदर्थं भोगः प्रियो विजयश्चापि प्रियः आसीत्; किन्तु येषां कृते प्रियः आसीत् यदि त एव न जीविष्यन्ति, तर्हि भोगस्य किम्प्रयोजनम्। अस्मिन् युद्धे केषां मारणमितिनिरूपयति–

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

अस्मिन् युद्धे आचार्याः, पितरः, पितृव्याः, पुत्राः, जामातारः, मातुलाः, श्वसुराः, पौत्राः, श्यालकास्तथा समस्तसम्बन्धिनः सन्ति।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

हे मधुसूदन ! मां हन्तुं समुद्यतानपीमान् स्वजनान् नाऽहं हन्तुमिच्छामि, तथा लोकत्रयस्य राज्यलाभलोभादप्यात्मीयानिमान् स्वजनान् न हन्तुमीहे। किन्तावद्भूमण्डलभोगाय?

अष्टादशाक्षौहिण्यां सेनायामर्जुनः स्वकीयं परिवारमपश्यत्। एतावदधिकाः स्वजनाः परमार्थतः किं सन्ति? वस्तुतोऽनुराग एवार्जुनोऽस्ति। भजनारम्भे प्रत्येकमनुरागिणां समक्षमियमेव समस्या समायाति। सर्वे वाञ्छन्ति यत् वयं भजनं करवाम तत् परमसत्यञ्च लभामहै; किन्तु कोप्यनुरागी यदा कस्यचिदनुभविनः सद्गुरोः संरक्षणे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः संघर्षं सम्यगवगच्छति, यत् मया केन योधव्यस्तदा स भवति हताशः। स कामयते यत् मम पितुः परिजनाः, श्वसुरस्यपरिजनास्तथा मातुलपरिजना एवं सुहृदो मित्राणि गुरुजनाश्च युगपन्निवसन्तु, सर्वे सुखिनः सन्तु, एतेषां सर्वां सुव्यवस्थां सम्पादयनहं परमात्मस्वरूपस्य प्राप्तिमपि करवाणि। किन्तु यदा स जानाति यत् परमात्मतत्त्व लाभायाराधनायां प्रस्थानात् पूर्वमेव परिवारस्य त्यागोऽनिवार्यः, एतेषामुक्त-सम्बन्धानां मोहसमापनं करणीयो भविष्यति, तदा सोऽधीरो भवति।

'पूज्या (परमहंस परमानन्द) महाराजा' कथयन्ति स्म- ''मृत्युः साधुता च समाना।'' साधूनां कृते सृष्टावपरे केचन जीवन्ति; किन्तु, गृहपरिजनानां मध्यतो न कोऽपि जीवति। यदि साधुः कमपि जीवितं मन्यते तदा तस्य पारिवारिकानुरागस्तिष्ठत्येव, एवं कुतोहि मोह समाप्तिः? यत्र कुत्राप्यानुरागलेशो विद्यते तस्य पूर्णरूपेण विच्छेद एव तस्य भजने विजयहेतुः। एतेषां सम्बन्धानां विस्तार एव जगत् कथ्यते, अन्यथा सम्बन्धविस्तारोच्छेदे जगति न किमप्यस्ति मम? ''**तुलसीदास कह चिद्‌विलास जग, बूझत बूझत बूझै।**'' मनसः प्रसार एव जगत्। योगेश्वरकृष्णोऽपि मनः प्रसारमेव जगन्मन्यमानः सम्बोधितवान्।

यो मनः प्रसारं रुरोध सचराचरं जितवान्। **''इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'' (गीता, ५/१९)**

केवलमर्जुनएवासीदधीरः इति स्थितिर्नज्ञेया। अनुरागः सर्वेषां हृदि-देशे तिष्ठति। प्रत्येकमनुरागिणो भवन्ति धैर्यरहितास्ते सम्बन्धिजनान् स्मरन्ति। आदौ स विचारयति स्म यद् भजनेन लाभो भविष्यति, तेन सुखप्राप्तिर्भविता, एभिःसाकं सुखमनुभविष्यामि। यदीमे एव न स्थास्यन्ति तदा सुखं लब्ध्वाऽपि किं करिष्यामः? अर्जुनस्य दृष्टिः राज्यसुखं यावदासीत् सीमिता। असौ लोकत्रयस्य साम्राज्य-प्राप्तिरेव सुखस्य पराकाष्ठा मनुते स्म। अतः परमपि किमपि सत्यं वर्त्ततेऽस्य विषयस्य बोधोऽर्जुनस्य बुद्धौ नासीत्।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रस्य पुत्रान् हत्वाऽपि मदर्था का प्रसन्नता भविष्यति? यत्र धृतराष्ट्रस्यार्थात् धृष्टतायाः साम्राज्यं वर्त्तते, ततः प्रसूतान् मोहप्रतीकभूतान् दुर्योधनादीन् व्यापाद्य कीदृशी हर्षभावना? एतेषामाततायीनां वधे तु पापभागहं भविष्यामि। यस्तु जीवनस्य तुच्छलाभायान्यायमाचरति स आततायी समुच्यते। किन्तु यः आत्मबोधमार्गे प्रबलविरोधं स्थापयत्यसौ महाततायी। आत्मदर्शने बाधाः कामक्रोधादीनां समूहः प्रमुखः आततायी।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

अतो हे माधव! स्वबान्धवान् धृतराष्ट्रपुत्रान् हन्तुं योग्यो नाऽस्मि। स्व बान्धवाः कथं भवितुं शक्नुवन्ति? धार्तराष्ट्रास्तेतु 'बद्धःवैराः सन्ति शत्रवः' इति पदे पदे सुस्पष्टम्। वस्तुतः शारीरिक सम्बन्धोऽज्ञानात्प्रभवति, यथाऽयं मातुलः श्वसुरालयमिदं स्वजनसमूहश्चायम् एतत् सर्वमज्ञानमेवाऽस्ति। यदा शरीरमेवाऽस्ति नश्वरं, तदा सम्बन्धः कथं शाश्वतः? यावत् मोहो वर्त्तते तावत् सुहृदः स्वपरिवारः संसारश्च प्रतीयते, निवृते मोहे सर्वं स्वयमेव निवर्त्तते। एतस्मादेवार्जुनः स्वशत्रूनपि स्वजनं जानाति। स आह, स्वकुटुम्बं व्यापाद्याहं कथं सुखी भविष्यामि। यदि

मोहाज्ञानयोरस्तित्वं विलीयेत् तदा कुटुम्बस्याप्यास्तित्वं क्षीयात्। इदमज्ञानं ज्ञानप्राप्तेः प्रेरकं भवति। भर्तृहरितुलसीदासादयो बहवो महात्मानो वैराग्यस्य प्रेरणां पत्नीभ्यो प्राप्नुवन्तः। अपरे केचन विमातुर्व्यवहारखिन्नाः सन्तो वैराग्य-पथे भवन्त्यग्रेसराः।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

यद्यपीमे लोभाविष्टचेतसः कुलनाशस्य दोषं मित्रद्रोहप्रभवं दोषं न पश्यन्ति, इति तेषां न्यूनता ज्ञेया।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

हे जनार्दन! कुलसंहारप्रसूतानां दोषाणां ज्ञानं धारयद्भिरस्माभिरेव कुलनाशजन्यात् पापान्निवृत्तेरुपरिकस्माद्धेतोः विचारो न कर्त्तव्यः? अहमेव पापे प्रवृत्तोऽस्मि नैतत्, भवताऽपि भ्राम्यते। श्रीकृष्णोऽप्यारोपभाजनं भवति। इदानीं यावदर्जुनः श्रीकृष्णादात्मानं न्यूनं नावबुध्यते। प्रत्येकं नूतनसाधकाः सद्गुरुशरणं गत्वेत्थमेव तर्कयन्ति तथा ज्ञानक्षेत्रे स्वमल्पं न जानन्ति। अर्जुनोऽप्येतदेव ब्रवीति, यदि मे धार्तराष्ट्राः मावगच्छन्तु किन्तु भवानहञ्चज्ञातारौ स्वः। कुलनाशदोषे मया विचारः कर्त्तव्यः। कुलनाशे के दोषाः?–

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुलनाशे जाते सति सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति। अर्जुनः कुलधर्मशब्देन कुलाचारमेव सनातनधर्मरूपेण जानाति स्म। धर्मे नष्टे सम्पूर्णं कुलं पापं भृशमवरुणद्धि।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४१।।

हे कृष्ण ! पापाधिकवृद्ध्या कुलनार्यः प्रदूषिताः सम्भवन्ति। हे वार्ष्णेय!

दुषितासु नारीषु वर्णसङ्करोत्पत्तिः। अर्जुनस्यास्ति मान्यता यत् दूषिते कुलनारी–समूहे वर्णसङ्कराः सन्ततयो जायन्ते। किन्तु श्रीकृष्णः पूर्वोक्तार्जुनमान्यतायाः खण्डनं कुर्वन् निर्दिष्टवान् यद्, अहमथवात्मस्वरूपे संस्थितः कोऽपि महापुरुषश्चेदाराधनाक्रमे भ्रममुत्पादयेत्तदा वर्णसङ्करो भवति।

वर्णसङ्करदोषानर्जुनः प्रकाशयति–

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

वर्णसङ्करः कुलघ्नान् सकलं कुलञ्च नरकं प्रापयति। लुप्तपिण्डोदकक्रियाः पितरोऽपि पतन्ति पीड्यन्ते च। वर्त्तमानं विनश्यति, भूतकालिकाः पितरः पतन्ति, भविष्येऽपि पतनभयम्। एतदेव नहि,

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

एतेषामुपर्युक्तानां वर्णसङ्करकारकदोषाणां प्रभावतः कुलघ्नानां सनातन–कुलधर्माः जातिधर्माश्च नष्टाः सम्भवन्ति। अर्जुनस्य मान्यताऽस्ति यत् कुलधर्मः सनातनोऽस्ति, कुलधर्मएव शाश्वतोऽस्ति; किन्तु श्रीकृष्णः खण्डयति कथयति चाग्रे यदात्मैव शाश्वतः सनातनो धर्मोऽस्ति। वास्तविकसनातनधर्मज्ञानात् प्राक् मानवो धर्मस्य विषये कामपि कामपि रूढिं जानाति। सुतरामर्जुनोऽपीत्थमेव जानाति यत् श्रीकृष्णस्य मते रूढिरेवैकाऽस्ति।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दन! नष्ट कुलधर्मवतां मानवानामनन्तकालपर्यन्तं नरके वासो भवतीति श्रुतं मया। कुलधर्मएव न नश्यति प्रत्युत् शाश्वतसनातनधर्मोऽपि विनश्यति। यदा यस्य धर्म एव नष्टस्तदा तादृशपुरुषस्यापरमितसमयं यावन्नरके स्थितिरिति मया श्रुतम्। न दृष्टं केवलं श्रुतम्।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

हा दुरन्ता चिन्ता! यद्वयं सन्तोऽपि बुद्धिमन्तो महत्पापं कर्तुं समुद्यताः स्मः। राज्यसुखलोभात् स्वकुलं हन्तुं तत्परा वयम्।

अधुनाप्यर्जुनः स्वं बहुज्ञं मानयति। प्रारम्भे सर्वे साधका इत्थमेव भणन्ति। महात्मनो बुद्धस्यास्ति सन्देशः, "अर्द्धज्ञानयुतो नरः स्वं परमज्ञानवान् मन्यते, यदार्द्धज्ञानादधिकं लभते तदात्मानं महामूर्खमनुभवति।" इत्थमेवार्जुनोऽप्यात्मानं ज्ञानसम्पन्नं बुध्यते। स कृष्णमेव बोधयति, उक्तकुलसंहारपापान्नकुत्राऽपि कल्याणावसरो दृश्यते, केवलं राज्यसुखलाभलोभे लुब्धा वयं कुलविध्वंसे स्मः समुद्यताः, महती त्रुटिर्भवति। अहमपि त्रुटिं विदधामि, नेयं स्थितिः, भवानपि भ्रमावर्ते भ्रान्तः, कृष्णमपि कट्वाक्षिपति। अन्ततोऽर्जुनः स्वनिर्णयं ददाति–

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

यदि धृतराष्ट्रपुत्राः संग्रामात् पराङ्मुखं निःशस्त्रञ्च मां हन्युः, तर्हि तेषां द्वारा मम वधोऽपि कल्याणकारको भविष्यति। इतिहासस्तूदाहरिष्यति यदर्जुनः परमप्रवीणः आसीत्, येनात्मबलिदानं विधाय सम्भावितं युद्धं निरुद्धम्। जनाः स्वावबोधानवयस्कान् शिशून् सुखपूर्वकं जीवयितुं स्वकीयान् प्राणान् जुह्वति, येन कुलनाशो मा भवेत्। कोऽपि जनो विदेशं व्रजेत् तत्र वैभवपूर्णप्रासादे निवसेत् किन्तु दिनद्वयान्तराले परित्यक्ता पर्णशाला स्मृतिपथमारोढुमारभते, इयान् प्रबलो भवति मोहः। एतस्मादेवार्जुनो ब्रूते–यद् युद्धाद् विरतं शस्त्ररहितमपि मां धार्तराष्ट्राः घातयेयुस्तदाऽपि कल्याणमेवकल्याणम्, येनोत्तरवर्त्तिनः कुमाराभवन्तु सुखिनः।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४७।।

सञ्जयः संव्याजहार, यदर्जुनो युद्धभूमौ शोकोद्विग्नमनाः पूर्वोक्तं वचनमुदीर्य सशरं कार्मुकं परित्यज्य रथस्य पृष्ठांशे समुपविष्टः, अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संघर्षात् विरतो बभूव।

निष्कर्षः-

श्रीमद्भगवद्गीता क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्युद्धस्य विवेचनमस्ति। इयं परमात्म-वैभवसमृद्धभगवत्स्वरूपदर्शकं गायनमस्ति। इदं गायनं यस्मिन् क्षेत्रे भवति, तत् युद्धक्षेत्रं शरीरमेवाऽस्ति। यत्र द्वे प्रवृत्यौ वर्त्तेते, धर्मक्षेत्रं कुरुक्षेत्रञ्च। एतासां सेनानां स्वरूपं तद् बलाधारो वर्णितः, शङ्खध्वनिना तेषां पराक्रमस्य बोधोऽजायत्, तदनन्तरं यया सेनया सह युद्धमपेक्षितमासीत् तत्सैन्यस्य निरीक्षणमभवत्, यस्याः गणनाष्टादशाक्षौहिणी (या तु गणना सार्द्धषडर्बुदमिता); किन्तु ते सन्ति बहुसंख्यकाः। प्रकृतेर्दृष्टिकोणमुभयं यथा, एकमिष्टोन्मुखप्रवृत्तिपरायणा दैवीसम्पद् द्वितीयं बहिर्मुखीप्रवृत्तिपरायणासुरीसम्पद्, उभे प्रकृत्यौ स्तः। एकाभीष्टोन्मुखं करोति परमधर्मे परमात्मनि नयति, द्वितीया प्रकृतौ विश्वासं द्रढयति। प्रथमयातु दैवीसम्पदं संसाध्यासुरीसम्पदः समापनं क्रियते, पुनः शाश्वतसनातनपरब्रह्मणो दिग्दर्शनं तथा च परब्रह्मणि स्थितौ जातायां, दैवीसम्पदः सापेक्षतानिवर्त्तते, युद्धस्य परिणामो हस्तामलकायते।

अर्जुनः सैन्यनिरीक्षणावसरे सर्वत्र स्वपरिवारमेव पश्यति, येषां वधः करणीयोऽस्ति। सम्बन्धं यावत् जगतः स्थितिः। अनुरागस्य प्रथमचरणे पारिवारिकमोहो बाधको भवति। साधको यदा पर्यालोचयति मधुरसम्बन्धादियान् विच्छेदो भविता, यथा सम्बन्धिनां सत्तैव नाऽस्ति, तदा स विह्वलायते। स्वजनासक्तिं विदीरयनसावमङ्गलमेव परिपश्यति। स प्रचलिताभ्यो रूढिभ्यः आत्मानं गोपयितुमुपायं मार्गते, यथार्जुनश्चकार। स उक्तवान्, "कुलधर्म एव सनातनधर्मोऽस्ति। अनेन युद्धेन सनातनधर्मो नङ्क्ष्यति, नार्यो दूषिता भविष्यन्ति, वर्णसङ्करता प्रादुर्भविष्यति, यः कुलं कुलघ्नं चानन्तकालपर्यन्तं नरकं नाययति।" अर्जुनः स्वमतेन सनातनधर्मस्य संरक्षणाय विह्वलोऽस्ति। स कृष्णं सानुरोधं न्यवेदयत् यद् वयं सज्ञानाः सन्तोऽपि महत्पापमिदं कस्मात् करवाम? इत्थं ध्वन्यते- कृष्णोऽपि पापे प्रवर्तते। अन्ततः पापादात्मानं वारयितुं 'नाऽहं युद्धं करिष्यामि' एवं ब्रुवाणो हताशोऽर्जुनः स्यन्दनस्य पृष्ठदेशे व्यतिष्ठत्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संघर्षादभवत् पराङ्मुखः।

टीकाकारा अमुमध्यायं 'अर्जुनविषादयोगम्' उक्तवन्तः। अर्जुनोऽनुरागस्य

प्रतीकोऽस्ति। सनातनधर्मस्य हेतोर्वैक्लब्यमाप्तानामनुरागिणां कृते विषादयोगः कारणं भवति। अयमेव विषादो मनुमाक्रान्तवान्, ''**हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।**'' **(राम. १/१४२)** संशयापन्नं एव मानवो विषीदति। तस्य मनस्यासीत् सन्देहो यत् वर्णसङ्करः प्रादुर्भविष्यति, यो हि नरकं नेष्यति, सनातनधर्मनाशस्याऽपि विषादस्तस्यासीत्- अतः ''संशयविषाद-योगः'' अस्याध्यायस्य नामकरणं सामान्यतः समीचीनमेव।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

इति श्रीमत् परमहंसपरमानन्दस्य शिष्यस्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ **श्री परमात्मने नमः** ।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमोऽध्यायो गीतायाः प्रवेशिकास्वरूपोऽस्ति। यस्मिन्नारम्भादेवसाधना-पथं प्रस्थातुः साधकस्य पुरतः प्रतीयमानानां जटिलतानां मार्मिकं चित्रणमस्ति। उक्तयुद्धसन्दर्भे सर्वे कौरवाः पाण्डवाश्च सन्ति युयुत्सुकाः, किन्तु संशयभाजनं केवलं मात्रार्जुनो दृश्यते। अर्जुनोऽनुरागप्रतीकः। इष्टस्यानुरूपंराग एव क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः संघर्षाय पथिकं प्रेरयति। अनुरागः प्रथमः सोपानः। पूज्यमहाराजाः समुदीरयन्ति स्म– "सद्गृहस्थाश्रमे प्रवसतः साधकस्य चित्तं ग्लानिग्रस्तं स्यात्, अश्रुधाराबहेत्, श्लघकण्ठो भवेत् तदावसेयं यदतएव भजनारम्भो जातः।" अनुरागे पूर्वोक्ताः स्थितयः समापद्यन्ते। तस्यां स्थितौ धर्मनियमसत्सङ्गादयो भावाः सहैव वर्त्तिष्यन्ते।

अनुरागस्य प्रारम्भावस्थायां पारिवारिकमोहो बाधां समुपस्थापयति। प्रथमं सर्वे काङ्क्षन्ति यत् तत्परमसत्यमहं प्राप्नुयाम्; किन्तु यदा साधनाक्षेत्रे भवति प्रस्थानोन्मुखस्तदा पश्यति यत् पारिवारिकमधुमधुरसम्बन्धस्योच्छेदनमपेक्षते तदा हताशो जायते। स पूर्वं धर्मकर्मणोः प्रति यादृशीं मान्यतां मानयति स्म, स तस्यां मान्यतायां सन्तोषमनुभवति। स स्वमोहं प्रमाणयितुं प्रचलितरूढीन् प्रमाणरूपेण प्रस्तौति– यथार्जुनः कृतवान्। कथितवान् सः– कुलधर्मः सनातनः, युद्धात् सनातनधर्मस्य लोपः, कुलनाशः, स्वेच्छाचारश्च प्रसरिष्यति। एतत्सर्वं पूर्वकथनमर्जुनस्योत्तरं नासीत्, प्रत्युत् सद्गुरुसान्निध्यं प्राप्तेः पूर्वमङ्गीकृत कुरीति-मात्रमासीत्।

एतासां कुरीतीनां दृढपाशे निगृहीतोजनः पृथक्-पृथग् धर्मस्य, नानासम्प्रदायस्य, लघुमहत्तरदलस्य, बहुसंख्यकजातेरूपजातेश्च रचनां करोति। कश्चिन्नासिकाछिद्रं रुणद्धि, कश्चित् कर्णौ छिन्नत्ति, क्वचित् स्पर्शतो धर्मनाशः,

क्वचित् रोटिकाशनात् नश्यति धर्मः। किमत्र स्पृश्यास्पृश्य मान्यतावतामस्ति दोषः? कदापि नहि। दोषस्तु भ्रमोत्पादकानामेवाऽस्ति। धर्मनामोपरि वयं कुरीतिग्रस्तास्तेनास्माकं दोषः।

महात्मनो बुद्धस्य समये केशकम्बलनामकः सम्प्रदायोऽभवदेकः। यस्मिन् सम्प्रदाये केशान् सम्बर्ध्य दीर्घतरान् कृत्वा तदनु सम्बर्धितलम्बायमानैः केशैः कम्बलवत् विष्टरादि सेवां विधाय केशकम्बलसम्प्रदायस्य मानदण्डं मत्वा सम्मानभाजो भवति स्म। केचन गोव्रतिकाः, केचन कुक्कुरव्रतिकाः सन्तः उदरं भरन्ति स्म। ब्रह्मविद्ययानैतेषां कोऽपि सम्बन्धः। सम्प्रदायाः कुरीतयश्च पूर्वमेव आसन्। तत् कुरीतिमण्डलतः कस्याश्चित् कुरीतेर्ग्रस्तोऽर्जुनोप्यस्ति, सस्तर्कचतुष्टयं प्रस्तौति। प्रथमस्तर्कः– एवंदृशयुद्धेन सनातनधर्मो विनङ्क्ष्यति, द्वितीयस्तर्कः– वर्णसङ्कराः प्रादुर्भविष्यन्ति, तृतीयस्तर्कः– पिण्डोदकक्रियालुप्ता भविष्यति, चतुर्थस्तर्कः– वयं सर्वे कुलक्षयमाध्यमेन महत्तरं पापं कर्त्तुं समुद्यताः स्मः। ततो योगेश्वरः कृष्णः कथितवान्–

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

करुणाक्रान्तमश्रुपूर्णनयनं विकलमानसमर्जुनंप्रति मधुसूदनो मोहाज्ञाना-पहारकं वचः कथयामास–

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अर्जुन! अस्मिन् विषमस्थले तवान्तःकरणे कुत इदमज्ञानं समाविष्टः? विषमस्थलपदस्यायं भावः यत् सृष्टौ कुत्राऽप्यस्योदाहरणं न मिलति, यस्याः स्थितेर्लक्ष्यं परलोकपरकं स्यात्, तस्मिन्निर्विवादस्थले त्वयि कुतो मोहाज्ञानोदयः? कथङ्कारमज्ञानम्? अर्जुनस्तु सनातनधर्मस्य रक्षार्थं बद्धपरिकरोऽस्ति। किं सनातनधर्मस्य संरक्षणाय प्राणपणेन सन्नद्धतैवाज्ञानं समुच्यते? श्रीकृष्णः कथयति–

आम्, इदमज्ञानमेवाऽस्ति। सम्भ्रान्तपुरुषैरित्थमाचरणं न क्वाप्याचरितम्, नैतादृशमाचरणं स्वर्गप्रदमपि न च कीर्तिकरं तथा। सन्मार्गोपरि चलितुं यो दृढतापूर्वकमारुढोऽस्ति, तमेवार्यं कथयन्ति जनाः। गीता आर्यसंहितास्ति। परिवारस्य हिताय चेत् सर्वस्वार्पणमज्ञानं न स्यात्तदा महापुरुषाः तदनुसरणकर्त्तारोऽवश्यं स्युः। यदि कुलधर्मएवाभविष्यत्सत्यं तदा स्वर्गस्य कल्याणस्य च श्रेणीरभविष्यत्। इयं स्थितिर्यशोदाऽपि नास्ति।

मीरा भजनं कर्त्तुमारेभे तदा "**लोग कहें मीरा भई बावरी, सास कहे कुलनाशी रे।**" यस्य परिवारस्य, कुलस्य महिम्नः संरक्षणार्थं मीरायाः श्वश्रुः क्रन्दन्त्यासीत्, अद्य तां कुलीनां श्वश्रुं कोऽपि न जानाति, मीराञ्चाखिलं जगज्जानाति। सच्चामुचमनेन प्रकारेण ये जनाः परिवारार्थं व्यस्ताः सन्ति, तेषां कीर्तिः कियत् कालं यावत् स्थास्यति? यस्मिन् कर्मणि न कीर्तिर्नकल्याणं च तस्याचरणं श्रेष्ठपुरुषाः भ्रमादपि नाकुर्वन्। अतः–

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।३।।

हे पार्थ! नपुंसकइवाचरणं माकार्षीः। वस्तुतः किमर्जुनः क्लीव आसीत्? किं भवान् पौरुषत्वयुक्तः? नपुंसकस्तु स कथ्यते, यः पौरुषहीनो भवेत्। सर्वेजना स्वविचारेण पुरुषार्थमेव कुर्वन्ति। कृषीवलो दिवानिशं स्व-स्वेदं शोणितञ्च प्रवाह्य कृषिक्षेत्रे पुरुषार्थमेव प्रकरोति। कश्चिद् व्यापारे पुरुषार्थं प्रदर्शयति, कश्चित्तु पदस्य दुरुपयोगे पुरुषार्थं प्रकटयति। आजीवनं पुरुषार्थाचरणेनाऽपि रिक्तहस्तः प्रस्थानं भवति। एतेन सुस्पष्टं ज्ञायते यदुपरि वर्णितं कर्म पुरुषार्थकोटौ न गण्यते। शुद्ध पुरुषार्थस्त्वात्मदर्शनमेवाऽस्ति। गार्गी याज्ञवल्क्यमुक्तवती–

नपुंसकः पुमान् ज्ञेयो यो न वेत्ति हृदि स्थितम्।
पुरुषं स्वप्रकाशं तस्मानन्दात्मानमव्ययम्।।

सः पुरुषोऽपि सन् नपुंसकोऽस्ति, यो हृदयस्थमात्मानं न परिचिनोति। स आत्मैव पुरुषस्वरूपः, स्वयंप्रकाशः, उत्तमानन्दयुक्तः, अव्यक्तश्चाऽस्ति। तस्य प्राप्तेः प्रयत्न एव पौरुषोऽस्ति। अर्जुन! त्वं नपुंसकत्वं मा विधेहि। नैतत् ते

योग्यम्। हे परन्तप! हृदयस्य दौर्बल्यं विहाय युद्धाय सन्नद्धो भव। आसक्तेस्त्यागं कुरु। हृदयस्य दुर्बलतैवासक्तिर्बोध्या। अतः परमर्जुनस्तृतीयं प्रश्नं प्रस्तुतवान्—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अहङ्कारशामक मधुसूदन! अहं संग्रामभूमौ भीष्मपितामहद्रोणाचार्याभ्यां साकं बाणैः कथं योत्स्यामि? कुतोह्यरिसूदन! तावुभौ पूज्यौ स्तः। द्वैत एव द्रोणोऽस्ति। प्रभुः पृथक्, अहं पृथक् द्वैतस्यैतद्भानमेव परमात्मप्राप्तेः प्रेरणायाश्च प्रथमं स्रोतोऽस्ति। एतदेव द्रोणाचार्यस्य गुरुत्वमस्ति। भ्रमप्रतीको भीष्मोऽस्ति। यावद् भ्रमस्य सत्ता तावच्छिशवः परिवाराः सम्बन्धिनः सर्वे स्वकीया लगन्ति। इमे सन्त्यात्मीया इत्यनुभवे भ्रमएव माध्यमोऽस्ति। आत्मैतानेव पूज्यं मत्वैभिः सह तुष्यति। अनुभवत्यात्मा यदयं पितापितृव्योऽयञ्च पितामहः, कुलगुरुश्चायमित्यादि। साधनायाः सिद्धिकाले 'गुरु न चेला, पुरुष अकेला।' न गुरुर्नशिष्यः केवलमात्मैवेकलः शिष्यते। ''**न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः। चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।**'' यदा मनस्तस्मिन् परमानन्दे विलीनो भवति, तदा गुरुशिष्ययोरभेदः जायते। इयमेव परमसिद्धा स्थितिः। गुरोः सकाशं प्राप्ते सति शिष्यगुरोरभेदः प्रकल्प्यते। श्रीकृष्णः कथयति, हे अर्जुन ! त्वं मयि निवसिष्यसि। यथा कृष्णस्तथैवार्जुनः, परमात्मप्रापकः पुरुषोऽपि तदाकारो भवति। एवं स्थितौ गुरोरपि विलयो भवति, गुरुत्वं शिष्यहृदये धारावत् प्रवहति। अर्जुनो गुरुपदं चर्मफलकं (ढालं मत्वा) विधाय संघर्षेऽस्मिन् प्रवृत्तितः पलायितुमीहते। सः कथयति—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

एतान् योद्धुमुपस्थितान् गुरुजनानहत्वा लोकेऽस्मिन् भिक्षाद्वारा प्राप्तमन्नं भुक्त्वा जीवनयापनं श्रेयस्करमहं मन्ये। अत्र भिक्षाशब्द उदरपोषणाय द्वारे-द्वारे भिक्षाग्रहणस्य वाचको नाऽस्ति, प्रत्युत् सत्पुरुषाणां नियमभङ्गसेवया तेभ्यः कल्याणयाचनमेव भिक्षा ज्ञेया। **''अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।'' (तैत्तिरीय० ३/२/१)** अन्नमेवैकमात्रं परमात्मा कथ्यते। यत्प्राप्त्वात्मा चिराय तृप्तो भवति, नकदाप्यतृप्तो भवति। अहं महापुरुषाणां सेवया याचनया च शनैः शनैः ब्रह्मसुधां प्राप्नुयाम्, किन्तु परिवारोऽयं मा वियुज्येत्- इयमेवार्जुनस्य भिक्षान्नप्राप्तेर्कामिना। संसारे बहुशोजनाः कुर्वन्त्यपीत्थमेव। ते वाञ्छन्ति यत् पारिवारिक स्नेहसम्बन्धो मा छिद्येत् तथा शनैःशनैर्मुक्तिरपि सुलभा भवेत्। किन्तु साधनामार्गे प्रस्थातृणां पथिकानां कृते यस्य संस्कारः परिष्कृतो विद्यते, यस्मिन् संघर्षे सामर्थ्यं विद्यते, स्वभावे क्षत्रियत्वधाराप्रवाहशीला वर्त्तते तस्य कृतेऽस्यभिक्षान्नस्य विधानं नाऽस्ति। स्वयं कर्म न कुर्वन् याचनाभिक्षा कथ्यते। गौतमबुद्धोऽपि मज्झिम निकायस्य धम्मदायादसुत्त (१/१/३) भिक्षान्नमेतदामिषदायादरूपेण मत्वा त्याज्यं कथितवानस्ति। यद्यपि शरीरयापनाय सर्वे भिक्षुकाः सन्ति।

एतान् गुरुजनान् व्यापाद्य किं प्राप्स्यति? अस्मिन् लोके रक्तरञ्जितं धनं, रुधिरसिक्तः कामोपभोगश्च प्राप्तो भविष्यति? अर्जुनः कदाचित् विचारयति स्म यद् भजनेन भौतिकसुखेषु वृद्धिर्भविष्यति। प्रस्तुतसंघर्षक्लेशानुभवानन्तरमस्य शरीरस्य पोषकार्थकामसम्बद्धौ भोगौ प्राप्स्यत एव। सः पुनस्तर्कयति-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

एतदपि सुनिश्चितं न वर्त्तते यत् सम्भावितो भोगो मेलेस्यत्येव। एतदपि नाऽहं जानामि यत् ममकृते किं कर्म श्रेयस्करमस्ति, कुतोहि मया यत् किञ्चित् कथितं तत् सर्वमज्ञाने संलिप्तमभवत्। एतदपि निश्चितरूपेण न ज्ञायते, यद् वयं जेष्यामस्तेवा जेष्यन्ति। त एव धृतराष्ट्रपुत्राः मम समक्षं सन्ति संस्थिताः

यान् हत्वाऽहं जीवितुमिच्छामि। अज्ञानरूपाद् धृतराष्ट्रादुत्पन्नो मोहादिः स्वजन-समूहं नाशयिष्यति। तदाऽहं जीवितोऽपि किं करिष्यामि? अर्जुनः पुनस्तर्कयति, सम्प्रत्यपि मया यदगादि कदाचिदेतदप्यज्ञानमेव। अतः प्रार्थयते–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

कायरतादोषप्रभावतो नष्ट स्वभावो धर्मतत्त्वविषये सर्वथा मोहितमनाः भवन्तं पृच्छामि। यत् किञ्चित् सुनिश्चितरूपेण परमकल्याणकृद्भवेत् तत्साधनं मां ब्रूहि। कुतोह्यहंतव शिष्योऽस्मि, शरणागतोऽस्मि, मां साधनापथं प्रापय। मात्रशिक्षां मा देहि, प्रत्युत् यत्र स्खलनं भवेत् तत्र मां सम्भालय। ''**लाद दे लदाय दे और लदाने वाला साथ चले**'' कदाचिद्धारोद्भ्रंशेत्तदा को भारं मम पृष्ठे समारोपयिष्यति? एवंभूतं समर्पणमर्जुनस्यासीत्।

अत्रार्जुनः पूर्ण समर्पणमकरोत्। इदानीं यावदर्जुनः कृष्णं स्वसदृशं मन्यमान आसीत्। अनेकासु विद्यास्वात्मानं कृष्णादधिकं जानाति स्म। अत्रार्जुनः स्वं लक्ष्याभिमुखं नीयमानां रज्जुं कृष्णकरयोर्न्यस्तवान्। सद्गुरवो लक्ष्यसिद्धिपर्यन्तं साधकहृदयं सन्निविश्य साधकेन सहैव चलन्ति। यदि सद्गुरवः सार्द्धं त्यजेयुस्तदा साधकाः पारं गन्तुं न सक्षमाः। तारुण्यं प्राप्तायाः कन्यायाः परिजना विवाहावधिं यावत् कन्यायै संयमादेरुत्तमां शिक्षां ददानाः सम्भालयन्ति, तथैव सद्गुरवः स्वशिष्यस्यात्मरथे रथीरूपेणोपस्थाप्य शिष्यं प्रकृतिप्रपञ्चस्थानीयेभ्यो दुर्गमोच्चावचेभ्यो रोहावरोहेभ्यो निःसार्य पारयन्ति। अर्जुनो निवेदयन् कथयति यदेकमपरमपि कथ्यम्–

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

भूतले निष्कण्टकमेकछत्रं धनधान्यसम्पन्नं राज्यं प्राप्य तथा स्वर्गेऽपि देवेन्द्रपदं प्राप्त्वाऽपि तमुपायं ज्ञातुं न शशाक, यः इन्द्रियाणि शोकादुन्मोचयितुं समर्थः स्यात्। यदि शोकस्तदवस्थ एव स्थास्यति तदा युद्धार्जित धनादिकमादाय किं करिष्यामि? यदि युद्धादेतावत्येवोपलब्धिस्तर्हि क्षमां विधेहि। अर्जुनश्चिन्तितवान् यदतः परं किमुपदेक्ष्यति?

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

सञ्जय उवाच– हे राजन् ! मोहनिशाविजेताऽर्जुनो हृदयदेशस्य सर्वज्ञं श्रीकृष्णं प्रत्येवं वदन्नब्रवीत्– हे गोविन्द! नाऽहं करिष्यामि युद्धम्, इत्युक्त्वा मौनं जग्राह। इदानीं यावदर्जुनस्य दृष्टिः पुराणपोषिताऽस्ति। यस्मिन् पुराणे कर्मकाण्डैः सह भूभोगानामुपलब्धेर्विस्तृतं वर्णनमस्ति, यस्मिन् पौराणिकदृष्टिकोणे स्वर्गाप्तिरेवोपलब्धिसर्वस्वं स्वीकृतमस्ति। यदुपरि श्रीकृष्णः प्रकाशं प्रसारयिष्यति, सतर्कं खण्डनं करिष्यति यदियं विचारधारा सर्वथा दोषपूर्णा वर्त्तते।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

अतः परं, हे राजन्! सर्वव्याप्तान्तर्यामी योगेश्वरः श्रीकृष्णः सेनयोरुभयोरन्तरालस्थं शोकाकुलमर्जुनं स्मयन्नग्रिमवचनमब्रवीत्–

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

हे अर्जुन ! येषां कृते शोको न कर्त्तव्यस्तेषां कृतेऽपि त्वमनुशोचसि पण्डितवत् वचश्च ब्रूषे, किन्तु विवेकधनाः बुद्धिसम्पन्नाः पण्डितसमुदायास्त्यक्त–प्राणानां विषये, तथा येषां प्राणाः लसन्ति काये, तेषां विषयेऽपि न चिन्तयन्ति, कुतोहि– अल्पकालान्तरे तेऽपि गतप्राणा भविष्यन्ति। वस्तुतस्तु त्वं पण्डितवत् वार्त्तां करोषि किन्तु त्वयि ज्ञानं नावतिष्ठते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

हे अर्जुन! न कोऽप्येतादृशः कालः पूर्वमासीत् यस्मिन् सद्गुरवो नासन्। अर्थादनादिकालत एव गुरुणां सत्तासुनिश्चिता वर्त्तते, तथा त्वत् सदृशाः सानुरागाः शिष्याः अपि नासन्, इत्यपि न चिन्त्यमर्थात् प्राभवन्। रजोवृत्ति संल्लिप्तमानसा इमे दृश्यमानाः साहंकाराः सर्वे राजानोप्यासन्। एतदपि तथ्यं नास्ति यद् वयं पुनरग्रे चलित्वा न स्थास्यामः। एतज्जानीहि यद्गुरवः सानुरागाः शिष्याश्च त्रिकाल–व्याप्ता वर्त्तन्ते। अत्र योगेश्वरो योगस्यानादितां प्रकाशयन्, भविष्येऽपि योगस्य विद्यमानतां दृढयति। मृतानां कृते शोको निरर्थकः इति सिद्धान्तं कारणसहितं श्रीकृष्णः समुवाचाग्रे–

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

यथा जीवः शरीरेऽस्मिन् शैशवतारुण्यवार्द्धक्यमित्यवस्थात्रयमनुभवति, तथैवान्यानि बहूनि शरीराणि धारयति, त्यजति च मुहुर्मुहुः। अतो मृतानभिलक्ष्य धीराः शोकंमोहञ्च न कुर्वन्ति।

कदाचित् भवान् शिशुस्तदनु शनैः–शनैस्तरुणोजातस्तदावस्थापरिवर्तन–समये नाभवत्तेमृत्युः, पुनः समायाति वृद्धावस्था। पुरुषस्त्वेकैव इत्थमेव नव–शरीरधारणे न कोऽपि चिह्नः परिलक्ष्यते। शरीरस्य परिवर्तनक्रमस्तावच्चलिष्यति, यावत् परिवर्त्तनात् परं त्रिकालसत्यं वस्तु न मेलिष्यति।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रियविषययोः संयोगेन सुखदुःखयोः शीतातपयोश्च यदनुभवो भवति, तत्तु सर्वथा क्षणभङ्गुरस्तथाऽनित्यश्च। अतो भरतवंशिन् अर्जुन! त्वमस्य परित्यागं कुरु। अर्जुन इन्द्रियविषययोः संयोगजन्यं सुखं स्मृत्वा विकलः समासीत्। कुलधर्माः कुलगुरुणां वन्दनीयतादयो भावा इन्द्रियाणामासक्त्यन्तर्गतमायान्ति। इमे क्षणिकाः सत्यरहितास्तथा नाशवन्तः सन्ति। विषयाणां संयोगो न सर्वदा मेलिष्यति, नेन्द्रियेषु सदा सामर्थ्यं स्थास्यति, तस्मादर्जुन! त्वमेतत्सर्वं त्यज,

सहस्व च। उपर्युक्तोपदेश सन्दर्भे जागर्ति प्रश्नो, यदत्र किं हिमालये युद्धमासीत् यत्रार्जुनः शीतमसहत्, उद्वा मरुभूमौ युद्धमस्ति यत्रार्जुनः प्रखरोष्णतां सहेत्? कुरुक्षेत्रन्तु समशीतोष्णभूभागोऽस्ति प्रायः सर्वे जानन्ति। केवलमष्टादश दिनं यावदभवत् संग्रामस्तेषु शीतातपयोरनुभवस्य नावसरः प्रतीयते। वस्तुतः शीतोष्मणोः सुखदुःखयोर्मानापमानयो सहनं कस्यचित् योगिनः सामर्थ्यसाध्यं भवति। इदं हृदयदेशस्थ युद्धस्य चित्रणमस्ति। गीता वाह्ययुद्धार्थमुपदेशं न ददाति। अयं क्षेत्र–क्षेत्रज्ञयोः संघर्षः कथ्यते। यस्मिन् संघर्षे सर्वथासुरीसम्पदः शमनं कृत्वा परमात्मनि स्थितिं प्रतिष्ठाप्य दैवीसम्पदपि शान्ता भवति। यदा विकारस्यास्तित्वमेव निरस्तो भवति, तदा सजातीयप्रवृत्तयः कस्मिन्नुपरि आक्रमणं कुर्युः, अतः पूर्णत्वेन सह ता अपि शान्ता भवन्ति। अतः पूर्वं शान्तेरवसरो नाऽस्ति। गीता अन्तर्देशरूपयुद्धस्य चित्रणमस्ति। अनेन त्यागेन किं प्राप्स्यति, लाभश्च कः? एतदुपरि कृष्ण आह–

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःखं सुखञ्च समानं मन्यमानो यो धीरः पुरुषः इन्द्रियविषययोः संयोगोत्थया व्यथया कदाऽपि न व्यथितो भवति, स मृत्योः परस्यामृततत्त्वस्य प्राप्तेर्योग्यतां दधाति। अत्र श्रीकृष्ण एकस्या उपलब्धेरमृतस्य चर्चां कृतवान्। इतस्तु पार्थश्चिन्तयति स्म यत् युद्धस्य परिणामरूपेण स्वर्गलाभो भविष्यति, वा भूराज्यं प्राप्स्यति। किन्तु श्रीकृष्णः कथयति–युद्धस्य प्रतिफलरूपेण न स्वर्ग–प्राप्तिर्न च पृथिवी प्राप्तिः प्रत्युदमृतस्य प्राप्तिर्भविष्यति। अमृतं नाम किं वस्तु विद्यते?–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

हे अर्जुन! असद् वस्तूनां नास्त्यस्तित्वं कुतोहि यदसत् तन्नास्ति, यत् सत्यं तस्य त्रिकालमस्तित्वं न कदाप्यभावस्तत् सत् नास्तित्वहीनं भवितुमर्हति। अर्जुनः पृच्छति– किं भवान् भगवत्तयैवं व्याहरति? कृष्णः प्रबोधयत्यर्जुनम्,

अहन्तु ब्रवीम्येवानयोरुभयोरन्तरं मयि समर्पित मानसास्तत्त्वदर्शिनोऽप्यवलोकितवन्तः। श्रीकृष्णोऽप्यस्त्येकस्तत्त्वदर्शी महापुरुषः। परमात्मनिष्ठस्य परमतत्त्वस्य साक्षात्कारं कृत्वा परमात्मन्येव रममाणाः साधकास्तत्त्वदर्शिनः समुच्यन्ते। किं सत् किञ्चासत्? इति विवृणोति–

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

नाशरहितं तत्तत्त्वमस्ति येनेदमखिलं जगद् व्याप्तमस्ति। अस्याविनाशिनोऽव्ययस्य विनाशं कर्त्तुं न कोऽपि समर्थः। किन्त्वस्याविनाशिनोऽमृतस्य किन्नाम, तदस्ति किम्?–

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अविनाशिनोऽप्रमेयस्य नित्यस्वरूपस्यात्मनः सर्वाणि शरीराणि नश्वराणि कथितानि सन्ति। अतो भरतवंशोद्भवार्जुन! त्वं युद्धं कुरु। आत्मा अमरोऽस्ति। आत्माऽविनाश्यस्ति, यस्य कालत्रयेऽपि नाशो न भवति। आत्मैव सदस्ति, शरीरं नाशशीलमस्ति, सर्वथाऽयमसदस्ति देहः। यस्य शरीरस्य त्रिषु कालेषु अस्तित्वं न मिलति।

शरीरं नाशवदस्ति, अतस्त्वं युध्यस्व–अनेनादेशेनैतत् स्पष्टं न भवति यदर्जुनः केवलं कौरवान् मारयेत्। पाण्डवपक्षेऽपि शरीरधारिणः सन्ति संस्थिताः, किं पाण्डवानां शरीराणि नाशरहितानि वर्त्तन्ते? यदि शरीराणि नाशशीलानि सन्ति, तदा श्रीकृष्णः कस्य रक्षां कर्त्तुं स्थितो विद्यते? किमर्जुनः कश्चित् शरीरधारकोऽस्ति? यच्छरीरमसदस्ति, यस्यास्तित्वं नाऽस्ति, यच्छरीरं विनाशाद् रोद्धुं न शक्यते, किन्तावत् कृष्णस्तस्य शरीरस्य रक्षणे सन्नद्धोऽस्ति? यदीयं स्थितिस्तदा स कृष्णोऽपि विवेकहीनो मूढोऽस्ति। कुतोहि वक्ष्यमाण प्रकरणे श्रीकृष्णः स्वयं कथयति यत् यः केवलं शरीरं रक्षितुं यतते श्रमञ्च करोति (३/१३) स विवेकशून्यो मूढबुद्धिरस्ति। स पापायुः पुरुषो निरर्थकं जीवति। निष्कर्षतोऽर्जुनः कः?

वस्तुतोऽनुरागएवास्त्यर्जुनः। अनुरागिणः कृते सर्वदारथीरूपेणेष्टः सहैव निवसति। इष्टो मित्रवदनुरागिणः पथनिर्देशनं करोति। भवान् तु शरीरं नाऽस्ति, शरीरन्त्वावरणमेवसन्निवासनिकेतनमस्ति। तस्मिन्निकेतने निवासकर्त्ता सानुराग-आत्मा ज्ञेयः। भौतिक युद्धे मारणेन छेदनेन शरीराणामन्तो भवति नात्मनः। यदा वर्तमानं शरीरं नङ्क्ष्यति तदात्मा द्वितीयं शरीरं धारयिष्यति। अस्मिन्नेव सन्दर्भे कृष्णेन पूर्वमुक्तं यत् येन प्रकारेण बाल्यावस्थानन्तरं तारुण्यं समायाति, तदनु वृद्धावस्थागमो भवति, तेनैव प्रकारेणात्मा देहान्तरं प्राप्नोति। शरीरच्छेदानन्तरं जीवात्मा नूतनवस्त्रवत् नवशरीरे प्रविशति।

शरीरं संस्काराश्रितं भवति, संस्कारश्च मनस्याधारितमस्ति। "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**" मनसः सर्वथा गतिरोधः, अचलस्थिर-भावेन स्थितिस्तथान्तिमसंस्कारस्य विलयः, इति सर्वमेकमेव प्रस्थानमस्ति। संस्कारधरातलस्य विच्छेदएव शरीरस्यान्तो बोध्यः। एनं छेत्तुं भवत्याराधनायाः साधनाऽपेक्षिता। श्रीकृष्णो यस्य कर्मयोगः, निष्कामकर्मयोगः इति नामकरणं कृतवान्। श्रीकृष्णः स्थले-स्थले प्रेरयत्यर्जुनं युद्धं कर्त्तुम्। किन्त्वेकोऽपिश्लोको नैतादृशो वर्त्तते, यो भौतिकयुद्धानुरूपं मारणस्य छेदनस्य च प्रेरणां ददेत्। युद्धमिदं सजातीयविजातीयप्रवृत्योरस्ति, अन्तर्देशस्थमस्ति।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

यो हि जन आत्मानं हत्याकर्त्तातथात्मानं यो हतो मृतो वा विजानाति, तौ द्वौ न जानितोह्यात्मानम्। कुतोह्ययमात्मा न मारयति न म्रियते। पुनः श्रीकृष्णः पक्षममुं द्रढयति–

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

अयमात्मा कस्मिंश्चित् काले न जन्मगृह्णाति, न च मृत्युं प्राप्नोति, कुतो

ह्ययं केवलं शरीररूपं वस्त्रं परिवर्तयति। नायमात्माभूत्वाऽन्यत् किमपि भवितुमर्हति, कुतोह्ययमात्मा नित्यं, शाश्वतः, पुरातनस्तथाऽजन्माप्यस्ति। नष्टे शरीरेऽपि नाऽयं नश्यति। आत्मैव सत्यं, पुरातनं, शाश्वतः, सनातनश्चास्ति। कोऽस्ति भवान्? इति प्रश्ने शाश्वतधर्मस्योपासक इत्युत्तरमायाति। शाश्वतः क? इति प्रश्ने सदात्मैवेति समाधानमायाति। अर्थाद् वयमात्मन उपासकाः स्मः। यदि भवानात्मपथं न जानाति, तदा भवत्सविधे शाश्वतसनातननाम्नः किमपि वस्तु न वर्त्तते। यदि तदर्थं भवान् चिन्तां करोति तदा प्रत्याशीभवितुं योग्योऽस्ति किन्तु सनातनधर्मी भवान् न, प्रत्युत् सनातनधर्मस्य नाम्ना कस्यचित् कुपथस्यानुपालनव्यसनी भवान् वर्त्तते।

देशे विदेशे च सर्वत्र मानवमात्रे समानरूपेणैवात्मा एकैव, अतो एक एव विश्वस्मिन्नात्मस्थितिं दापयित्रीं क्रियां ज्ञात्वा तस्याः क्रियायाः परिपालने प्रयत्नशीलश्चाऽस्ति कोऽपिजनः, तदा स सनातनधर्म्यस्ति, कामं स आत्मानं मुसलमानयहूदीसाईति किमपि स्वीकुर्यात्।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

पार्थिवशरीरं रथरूपेण परिकल्प्य ब्रह्मप्राप्तिरूपे लक्ष्ये सफललक्ष्य-भेदनपटोपृथापुत्रार्जुन! यः पुरुषः इममात्मानं नाशरहितं नित्यमजन्मानमव्यक्तं जानाति, स पुरुषः कथं कमपि हन्तुं प्रेरयति तथा कथं कमपि हन्ति। अविनाशिनो विनाशः सर्वथाऽसम्भवः। अजन्मा जन्म न गृह्णाति, अतः शरीराय शोको न विधेयः। अमुं विषयमुदाहरणेन स्पष्टयति–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

यथा मनुष्यो जीर्णानि शीर्णानि प्राचीनानि वस्त्राणि परित्यज्य नूतनानि वस्त्राण्यङ्गीकरोति, सुतरां तथैवायं जीवात्मा प्राचीनानि शरीराणि त्यक्त्वा भिन्नानि

भिन्नान्यपराणि शरीराण्युररीकरोति। उदेति प्रश्नश्चेत् जीर्णे सत्येव शरीरे जीवात्मा नूतनं शरीरं धारयति तर्हि शिशवः कथं म्रियन्ते? इदं वस्त्रं जीर्णात् वस्त्रादधिकं विकासं वाञ्छति-कुतोहि शिशोः शरीरं बहुनूतनम्। समाधानमत्र शरीरस्य संस्कारपराधीनत्वम्। यदा संस्काराः शीर्णास्तथा जीर्णाः सिद्धयन्ति, तदा शैशवे तारुण्ये बार्द्धक्ये कस्मिन्नपि वयसि जीवात्मा शरीरं विजहाति। यदि संस्कारः शरीरे दिनद्वयस्य निवासाय परिपुष्टो वर्त्तते तदा द्वितीये दिने जहाति शरीरमात्मा। जीर्णेजाते शरीरे जीवात्मा श्वासमात्रमप्यधिकं न जीवति। आत्मा संस्कारानुसारेण नवीनं शरीरमादधाति। **''अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः, यथा इहैव तथैव प्रेत्य भवति। कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते।'' (छान्दोग्योपनिषद् ३/ १४)।** अर्थादुक्तोपनिषद् वचनेनायमात्मा निश्चयरूपेण संकल्पमयोऽस्ति। अस्मिन् लोके पुरुषो यथा विधौ निश्चयवान् भवति तथैवेतो मरणानन्तरं जायते। स्वसंकल्पेन विरचिते शरीरे पुरुषः प्रादुर्भवति। इत्थं मृत्युः शरीरस्य परिवर्तनमात्रमस्ति। आत्मा न कदाऽपि म्रियते। पुनरात्मनः प्रतिपादयत्यमरत्वम्-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अर्जुन ! इममात्मानं शस्त्राणि छेत्तुं विदारयितुं कर्त्तितुञ्च न सन्ति समर्थानि। अग्निरात्मानं दग्धुं नार्हः, सलिलमात्मानमार्द्रयितुं न पारयति, वायुरपि न शोषयितुं शक्नोत्यात्मानम्।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

अयमात्मा न छेदनार्हः-नाऽयं कथमपि छेत्तुं शक्यः, अदाह्योऽयमात्मा-कथमपि ज्वलयितुं नार्हः, अक्लेद्योऽयमात्मा नार्द्रयितुं शक्यः, आकाशमपि स्वानन्तपरिक्षेत्रान्तराले न शक्नोति निलयितुम्। वस्तुत अयमात्मा असंशयमशोष्यः, सर्वव्यापकः, स्थिरः, सनातनोऽचलश्चास्ति।

अर्जुनेनोक्तमासीत् यत् कुलधर्मः सनातनोऽस्ति। एवं विधस्य प्रस्तुतस्य युद्धस्य विधानेन सनातनधर्मो नष्टो भविष्यति। किन्तु कृष्णः पूर्वोक्तमर्जुनस्य

सिद्धान्तं पूर्णरूपेणाज्ञानममन्यत् आत्मैव सनातन इति कथितवान्। को भवान्? इति प्रश्ने सनातनधर्मानुयायी इत्युत्तरमायाति। कोऽस्ति सनातनः? इत्यस्योत्तरं केवलमात्मा, इति जानीहि। यदि त्वमात्मज्ञानप्राप्तेः पथो दूरीं पारयितुं विधि-विशेषं न जानासि, तदा त्वं सनातनधर्मानभिज्ञोऽसि। अस्य दुष्परिणामं साम्प्रदायिकता-पाशबद्धाधर्मभीरवः सततं भुञ्जन्ति। मध्यकालीना भारतवर्षे बहिर्देशादागन्तारो यवनाः केवलं द्वादशसहस्रसंख्याकाः स्युः, साम्प्रतमष्टाविंशतिकोटिस्तेषां संख्या वर्त्तते। एतेषां वृद्धिरुत्तरोत्तरमधिकाधिकं संख्याशिखरं स्पृशेत्तर्हि का हानिः? सर्वे तु सन्ति हिन्दवो, भवतां सहोदराः सन्ति। यवनाः स्पर्श दोषादिमे नष्टा बभूवुः। वस्तुतोहीमे नष्टा नाभवन् प्रत्युत् तेषामपरिवर्तनशीलः सनातनधर्म एव विनष्टः।

यदा भौतिकक्षेत्रे प्रादुर्भूतानि वस्तूनि सनातनस्यास्य स्पर्शमपि कुर्त्तुं न शक्नुवन्ति तदा स्पर्शेन भोजनादिसम्बन्धेन सनातनधर्मः कथं नाशमेष्यति? नायं सनातनधर्मः प्रत्युत् कुरीतिरेवासीदेका। यया कुरीत्या भारते साम्प्रदायिकं वैमनस्यं बह्ववर्धत्, देशस्य विभाजनमभवत्, तथा च अद्यापि राष्ट्रियैकत्वस्य समस्या यथावत् स्थिता वर्त्तते।

एतासां कुरीतीनां कथानकेन लसितो विद्यते देशस्येतिहासः। हमीरपुर जनपदे पञ्चाशदधिकाः परिवाराः कुलीनाः क्षत्रिया आसन्। इदानीं ते सर्वे सन्ति मुसलमानाः। न तेषामुपरि तोपाद्गुलिकाक्रमणोऽभवन्न च खड्गाक्रमणमभवत्, अभवत् किम्? द्वित्राः मौलवीजना अर्द्धरात्रौ ग्रामस्य निकटे कूपोपरि क्वचिल्लुक्कायिताः, तदनु सर्वप्रथमं कर्मकाण्डिनो ब्राह्मणाः समाजग्मुः स्नानार्थम्। तान् निरुद्ध्य तेषां मुखावगुण्ठनं चक्रुः। तेषां कर्मकाण्डी ब्राह्मणानां समक्षं मौलवीजनाः कूपाज्जलं निःसारयामासुः, पात्रे मुखं संयोज्य तज्जलं उच्छिष्टं चक्रुः पीतावशिष्टं तज्जलं कूपे प्रचिक्षिपुः, करपट्टिकाखण्डानपि कूपे पातयामासुः। पण्डितास्तु विवशाः सन्तः समपश्यन् तत्सर्वम्। पण्डितान् बन्दीकृत्य स्वगृहं निन्युः। स्वगृहकक्षे रुरुधुः।

द्वितीये दिवसे मौलवीगणाः सानुनयं करबद्धं भोजनं कर्त्तुं कर्मकाण्डिनो निवेदयामासुस्तदनु कर्मकाण्डिनश्चुकुपुः। ऊचुश्च, "अरे मूर्खाः, यूयं यवनास्तथा

वयं ब्राह्मणः, कथं त्वत् स्पृष्टमुच्छिष्टञ्च खादितुं शक्नुमः।'' यवनाः अब्रुवन्–''महाराज! भवादृशानां विचारशीलानां जनानां ममकृते परमावश्यकता वर्त्तते। क्षमध्वम्।'' पण्डितान् मोचितवन्तः। पण्डिताः स्वग्रामं गताः। अवलोकितवन्तश्च सर्वेजनाः कूपस्य प्रयोगं पूर्ववत् कर्त्तुमारेभिरे। ते पण्डिताश्चानशनं कर्त्तुं तत्परा अभवन्। जना अनशनस्य कारणं पप्रच्छुः, तदा त ऊचुः, ''यवना अस्य कूपस्य कुट्टिमे समारूढा अभवन्। मम समक्षं यवना इमं कूपमुच्छिष्टमकुर्वन्, कूपे च करपट्टिकाखण्डं प्रचिक्षिपुः।'' ग्रामीणाः स्तब्धा बभूवुः, पृष्टवन्तश्च, ''साम्प्रतं किं भविष्यति?'' पण्डिताः प्रोचुः, ''किमिदानीं धर्मस्तु नष्टो बभूव।''

तदानीं जनाः शिक्षिताः नासन्। स्त्रियः शूद्राश्चाध्ययनाधिकारवञ्चिताश्चिर–कालादासन्। वैश्याः धनोपार्जनमेव स्वधर्मं मन्यन्ते स्म। क्षत्रियाश्चारणानां प्रशस्तिगाने विभोराः समभवन्, यदन्नदातुस्तरवारिणां दीप्तौ विद्युदाभावदभवदा भासः दिल्लीसिंहासनमान्दोलितं जातम्। यदा प्रयासेन विनैव सम्मानप्राप्तिः, तदा काऽऽवश्यकताऽध्ययनस्य? तेषां कृते धर्मतः को लाभः का च हानिः? धर्मः केवलं ब्राह्मणानां वस्तुरूपेण स्थित्वा स्थिरोऽभवत्। ते ब्राह्मणा एव धर्मसूत्राणां रचयितारः, व्याख्यातारः, सत्यासत्ययोश्च निर्णेतारो बभूवुः। यद्यपि प्राचीनकाले स्त्रियः, शूद्राः, वैश्याः, क्षत्रियाः ब्राह्मणाश्च सर्वे वेदाध्ययनाधिकारिण आसन्। प्रत्येकं वर्गस्य ऋषिगणा वैदिकमन्त्रान् रचयामासुः, शास्त्रार्थ निर्णये च भागं जगृहुः। प्राचीनाः राजानः धर्मस्य नामोपरि पाखण्डस्य प्रचारकान् दण्डं दद्युः, धर्मपरायणानां सम्मानं चक्रुः।

किन्तु मध्यकाले भारतवर्षे सनातनधर्मस्य यथार्थरूपेण ज्ञानाभावात् ग्रामीणाः गड्डुलिकावत् एकदेशीया अभवन्, विचारितवन्तश्च यद् धर्मो विनष्टः। केचन जनाः धर्मनाशरूपमप्रियं समाचारं श्रुत्वा आत्महत्यां विदधुः, किन्तु सर्वेजना आत्महत्यां कर्त्तुं नाशक्नुवन्। अखण्डश्रद्धानन्तरमपि विवशाः सन्तः अपरं समाधानमन्वेष्टुं संलग्ना बभूवुः। अद्यापि ते सर्वे वेणुखण्डं निखात्य मुसलञ्च संस्थाप्य हिन्दूनामिव विवाहं कुर्वन्ति। अस्मिन्नेवावसरे कश्चित् मौलवी इस्लामधर्मानुसारं निकाहं पाठयित्वा निर्गच्छति। पश्यन्तु! सर्वे शुद्धहिन्दवः सन्ति, किन्तु ते सर्वे मुसलमाना अभवन्।

विचारयतु, किमभवत् तदानीम्? कूपस्य मौलवीनां स्पर्शतः जलं पीतं, अज्ञानतः यवनानां स्पृष्टमन्नं खादितम्। एतस्मादेव धर्मो नष्टः। धर्मस्तु तडागादि तटोत्पन्नं लाजवन्ती लतासमकक्षमभवत्। यथा करस्पर्शेन लाजवन्तीलता इव सङ्कुचिता भवति, अपवारिते करे च पुनर्विकसति। लाजवन्तीयं करापसारणात् विकसिता भवति, किन्तु स्पर्शप्रभावतो धर्म एतावान् म्लानोऽभवत् यद्द्यापि विकसितो नाऽभूत्। ते मृतविवेकाः समभवन्। तेषां रामकृष्णादयः परमात्मा च मृताः, यच्छाश्वतमासीत् तदपि मृत्युं प्राप्तः। वस्तुतः पूर्वोक्ता स्थितिः शाश्वतस्य व्यवधाने प्ररोहिताः काचित् कुरीतिरासीत्, यां कुरीतिमधुना जनाः धर्मंमन्यमाना अतिष्ठन्।

वयं धर्मस्य शरणं कथमाश्रयामः? कुतोहि वयं मरणधर्माणः स्मः। तथा च धर्म अमरणधर्मा कश्चित् विलक्षणः पदार्थोऽस्ति यस्य शरणं गत्वा वयमपि अमरा भवेमेति कामना। आश्चर्यमेतत् यत् वयं प्रहारतो मृता भविष्यामः, धर्मश्चायं स्पर्शत एव मृतो भविष्यति। तदायं धर्म अस्मान् कथं रक्षयिष्यति? धर्मस्तु युष्मान् पाति, बहुशक्तिसम्पन्नश्चाऽस्ति। भवन्तः खड्गप्रहारेण मृत्युं गमिष्यन्ति, धर्मश्च स्पर्शमात्रेणैव नष्टो बभूव। कीदृशश्चायं भवतां धर्मः? कुरीतयः नश्यन्ति न तु सनातनः। सनातनस्त्वेवं दृढं वस्त्वस्ति, यच्छस्त्रं न कर्त्तयति, अग्निः न दग्धुं शक्नोति, जलमिदमार्द्रयितुं न समर्थः। खाद्यस्य पेयस्य तु दूरतरा स्थितिः प्रकृतौ समुत्पन्नानि कान्यपि वस्तूनि तस्य सनातनस्य स्पर्शंकर्त्तुमपि न पारयन्ति, तर्हि सः सनातनः कथं विनष्टो बभूव?

इत्थमेव नैकाः कुरीतयोऽर्जुनकालेप्यासन्। ताभिराक्रान्तोऽर्जुनोऽप्यासीत्। स विलपन् सविनयं कथितवान् यत् कुलधर्म एव सनातनोऽस्ति। युद्धात् सनातन–धर्मो नङ्क्ष्यति। नष्टे सति कुलधर्मे चिरकालं यावदहं नरके वसिष्यामि। किन्तु श्रीकृष्णः प्रोवाच, "त्वदीयमज्ञानं कुतः प्रादुर्भूतः?" स्पष्टमस्ति यत् सा काचित् कुरीत्येवासीत्, तस्मादेव कृष्णस्तस्याः निराकरणमकरोदवादीच्च यदयमात्मैव सनातनोऽस्ति। यदि भवान् आत्मावबोधपथं न जानाति तदा सनातनधर्मे भवतः सम्प्रत्यपि प्रवेशो नास्ति।

यदायं सनातनः शाश्वत आत्मा सर्वेषामन्तरालस्थोऽस्ति, तर्हि कस्यान्वेषणं करणीयम्? अत्र कृष्णो ब्रवीति–

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अव्यक्तत्वादयमात्मानेन्द्रियाणां विषयः। इन्द्रियाणां माध्यमेनास्यात्मनः सुबोधोऽपि न भवितुमर्हति। यावदिन्द्रियविषययोः संयोगो वर्त्तते तावत्काल–पर्यन्तमात्मा तु विद्यते, किन्तु आत्मनो ज्ञानं न कर्त्तुं शक्यते। सोऽचिन्त्यः। यावत् चित्तं तथा च चित्तस्योर्मय उच्छलन्ति पतन्ति च, तावत्कालावधौ सोऽस्ति शाश्वतः, किन्त्वस्माकं दर्शनार्थमुपभोगार्थं प्रवेशार्थञ्च नायमात्मा। अतश्चित्तनिरोधः कर्त्तव्यः। पूर्वप्रकरणे श्रीकृष्णेनोक्तं यत् कस्याप्यसद् वस्तुनो न विद्यते सत्ता, तथा च सद् वस्तुनः कालत्रयेऽपि नास्त्यभावः। तत् सत् आत्मैव। आत्मैवापरिवर्त्तनशीलः, शाश्वतः, सनातनः तथाव्यक्तश्चास्ति। तत्त्वदर्शिभिरयमात्मा पुरोक्तगुणधर्मसहितः समवलोकितः। आत्मानममुं न कश्चिद् बहुभाषाविद् दृष्टवान्, न बहुसमृद्धिशालीकश्चिज्जनो दृष्टवान् प्रत्युत् तत्त्वज्ञाः अपश्यन्। श्रीकृष्णः पूर्वमुक्तवान् यत् तत्त्वन्तु परमात्मैवास्ति। मनसो निरोधकाले साधकस्तस्य दर्शनं तस्मिन् प्रवेशञ्चाप्नोति। मनोनिरोधसिद्धावात्मनो बोधानन्तरं भगवत् प्राप्तिर्भवति। तदनुक्षणानन्तरमेव साधकः स्वात्मानमीश्वरीयगुणधर्मविभूषितं पश्यति। सो निरीक्षते यदात्मैव सत्यं सनातनः परिपूर्णश्चास्ति। अयमात्माऽचिन्त्यः। अयं विकाररहितः अपरिवर्तनशीलश्च कथ्यते। अतो अर्जुन! एवंभूतमात्मानं बुद्ध्वा त्वं शोकं कर्त्तुं योग्यो नाऽसि। साम्प्रतं श्रीकृष्णोऽर्जुनस्य विचारेषु विरोधाभासं दर्शयति, यस्तु सामान्यस्तर्कः कथ्यते।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

हे अर्जुन ! यदि त्वमात्मानं सतत् जन्मा सतत् मरणधर्मा अपि मन्यसे, तदापि त्वया शोको न कर्त्तव्यः, कुतोहि–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

एवं स्वीकरणेऽपि जन्मवतां मृत्युः सुनिश्चितः, मृत्युप्राप्तानाञ्च जन्मापि

सुनिश्चितम्। अतोऽपित्वमुपायाद् विरहितेऽस्मिन् विषये शोकं कर्त्तुं नार्हः। यस्य रोगस्य न वर्त्तते किमप्यौषधं तदर्थं शोककरणं द्वितीय दुःखस्य आवाहनमिव भवति।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

अर्जुन! सर्वे प्राणिनो जन्मतः पूर्वं शरीररहिता मरणानन्तरमपि शरीररहिता भवन्ति। प्राणिनो जन्मतः पूर्वं परञ्च न दृश्यन्ते। केवलं जन्ममृत्योरन्तराल एव शरीरं धारयन्ते दृश्यन्ते। अतो अस्य परिवर्तनशीलशरीरस्य कृते चिन्ताकरणं निरर्थकम्। इममात्मानं कः पश्यति? अतः परं कथयति–

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

पूर्वं कृष्णेनोक्तमासीत् यदमुमात्मानं तत्त्वद्रष्टार एव दृष्टवन्तः। इदानीं तत्त्वदर्शनस्य दुर्लभतामभिलक्ष्यप्रकाशं वितनोति, यः कश्चिद् विरलो महापुरुष एव अमुमात्मानं साश्चर्यं पश्यति। शृणोति नहि, प्रत्यक्षमवलोकयति। तथैव अपरः कश्चित् महापुरुष एव आश्चर्यवदात्मनस्तत्त्वं विवृणोति। यो हि दृष्टवान् स एव यथार्थं वक्तुं शक्नोति। अपरः कश्चित् विरलः साधक एनमाश्चर्यवत् शृणोति। सर्वे शृण्वन्त्यपि नहि, कुतोहि अयं विषयोऽधिकारीणां कृत एवास्ति। केचन केचन जनास्तु एनमात्मानं श्रुत्वापि नावबुद्ध्यन्ते, कुतोहि साधनं न नयति पारं साधकम्। भवन्तो लक्षाधिकं ज्ञानस्य चर्चां शृण्वन्तु, जानन्तु। लोमत्वचमपसार्य इव अवगच्छन्तु, लालायिता अपि स्युः, किन्तु मोहः अपरिमितबलमस्ति, क्षणानन्तरमेव भवान् स्वसांसारिकव्यवस्थासु लिप्तो मेलिष्यति। अन्ततः श्रीकृष्णः निर्णयं ददाति–

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

अर्जुन ! अयमात्मा सर्वेषां शरीरे सदैवाबध्योऽस्ति, अच्छेद्योऽस्ति। अतः सम्पूर्णजीवानां कृते त्वं शोकङ्कर्त्तुं न योग्योऽसि। आत्मैव सनातनोऽस्ति–अस्य तथ्यस्य प्रकाशनं कृत्वा, अस्य प्रभुतापूर्वकं वर्णनं कृत्वा प्रश्नोऽयमिहैव पूरितो भवति। साम्प्रतं प्रश्न उत्तिष्ठति यदस्यात्मनः प्राप्तिः कथं भवेत्? सम्पूर्णायां गीतायामस्य प्राप्तेर्द्वौपन्थानौ विद्येते– प्रथमः पन्थाः निष्कामकर्मयोगः, द्वितीयश्च ज्ञानयोगः। उभयोर्मार्गयोः क्रियमाणं कर्म एकमेवास्ति। तस्य कर्मण अनिवार्यताया उपर्यधिकं महत्वं ददानो योगेश्वरः श्रीकृष्णः ज्ञानयोगस्य विषये स्वविचारं प्रकटयति–

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अर्जुन! स्वधर्मं दृष्ट्वाऽपि त्वं भयस्य पात्रं नाऽस्ति, कुतोहि धर्मसंयुक्तः युद्धादधिकमन्यं किमपि कल्याणकारकं मार्गं क्षत्रियस्य कृते न वर्त्तते। इदानीं यावत्त्वात्माऽस्ति शाश्वतः, आत्माऽस्ति सनातनः, असावेवैकमात्रं धर्मोऽस्ति इति कथितं कृष्णेन। साम्प्रतमयं स्वधर्मः कीदृशः? धर्मस्त्वेकमात्रमात्मैवास्ति। स तु अचलः स्थिरश्चास्ति, तर्हि धर्माचरणं किम्? किन्त्वस्मिन्नात्मपथि प्रवर्तितुं क्षमता प्रत्येकं व्यक्तेः पृथक्–पृथग् भवति। स्वभावादुत्पन्नेयं क्षमता स्वधर्मः कथ्यतेः। अस्यैकसनातनस्यात्मिक मार्गस्योपरिगमनकर्तॄन् साधकान्, महापुरुषाः स्वभावतस्तेषां क्षमतानुसारेण चतसृषु श्रेणीषु विभाजितमकुर्वन्– शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणाश्च। साधनायाः प्रारम्भिकावस्थायां प्रत्येकं साधकः शूद्रः अर्थादल्पज्ञो भवति। घण्टामित् समयं यावत् भजने तत्परे सत्यपि स दशमिनटमितमपि समयं भजने न सफलयति। स प्रकृतेर्मायाजालं छेत्तुं समर्थो न भवति। अस्यामवस्थायां महापुरुषाणां सेवया तस्य स्वभावे सद्गुणाः आयान्ति। तदा स वैश्यश्रेणीकः साधको भवितुमर्हति। आत्मिकसम्पदेव स्थिरसम्पदस्ति। अस्याः सम्पदः स शनैः–शनैः सङ्ग्रहङ्करोति। गोपालने अर्थात् इन्द्रियाणां सुरक्षाकरणे स समर्थो भवति। कामक्रोधादिभिरिन्द्रियाणां हिंसा भवति तथा विवेकवैराग्यादिभिरिन्द्रियाणां सुरक्षा भवति, किन्तु प्रकृतिं निर्बीजं कर्त्तुं क्षमता तस्मिन्नायाति। क्रमश उन्नतिं कुर्वन् साधकस्य अन्तःकरणे त्रयाणां गुणानां

निवारणस्य क्षमता अर्थात् क्षत्रियत्वं जागर्ति। अस्मिन्नेवस्तरे प्रकृतिं प्रकृतिविकारांश्च नाशयितुं क्षमतावर्धते। अत इत एव युद्धमारभते। क्रमशः साधनबलेन साधको ब्राह्मणत्वस्य श्रेण्यां परिवर्तते। अस्मिन् समये मनसः शमनमिन्द्रियाणां दमनमनवरतचिन्तनं सरलताऽनुभवो ज्ञानञ्चेत्यादि लक्षणजातं साधके स्वाभाविकरूपेण प्रभाविता भवन्ति। एतेषामनुष्ठानेनाग्रे चलित्वा स ब्रह्मणि प्रवेशं प्राप्नोति, यत्र स ब्राह्मणोऽपि नावशिष्यते।

विदेहराजजनकस्य सभायां महर्षिर्याज्ञवल्क्यश्चाक्रायणोषस्ति-कहोलारुण्युद्दालकगार्गीप्रभृतीनां प्रश्नानां समाधानं विदधानः कथितवानस्ति यत् आत्मसाक्षात्कारस्य पूर्णतया सम्पादनस्य कर्त्तैव ब्राह्मणो भवति। अयमात्मैव लोकपरलोकयोः समस्तप्राणीनामन्तरालतश्च नियन्त्रणं करोति। सूर्येन्दु-पृथिवीसलिलपवनाग्नितारागणान्तरिक्षाकाशान्येवं प्रत्येकं क्षणंचास्यात्मनः प्रशासने स्थिताः सन्ति। अयं तवात्माऽन्तर्व्याप्तोऽमृतोऽस्ति। आत्मा अक्षरोऽस्ति, इतो भिन्नं सर्वं नाशशीलं ज्ञेयम्। यः कश्चिज्जनः अस्मिन्, लोके अक्षरमात्मानं न ज्ञात्वा जुहोति, तपति, सहस्रवर्षपर्यन्तं यजते, तस्य तत्सर्वं कर्मजातं नश्वरमस्ति। यः कोऽपि पूर्वोक्ताक्षरस्य ज्ञानं विना मृत्युं प्राप्य व्रजति स दयनीयः कृपणश्चास्ति, य इममक्षरमात्मानं ज्ञात्वाऽस्माल्लोकान्मृतो गच्छति स ब्राह्मणोऽस्ति। (बृहदारण्यकोपनिषद्, ३४-५-७-८)।

अर्जुनः क्षत्रियश्रेणीकः साधकोऽस्ति। श्रीकृष्णः कथयति यत् क्षत्रिय-श्रेणीकस्य साधकस्य कृते युद्धातिरिक्तं न कोऽपि कल्याणकारकः पन्थाः, वर्त्तते। प्रश्नः जागर्ति-किन्नाम क्षत्रियत्वम्? प्रायः जनाः अस्याशयं समाजे जन्मं गृहीत्वा उत्पन्नान् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रजातिं मन्यन्ते। एते चत्वारो वर्णाः स्वीकृताः सन्ति, किन्तु नैतत्, शास्त्रकारः स्वयमुपदिशति यत् क्षत्रियः किम्? वर्णश्च किम्? अत्र कृष्णः केवलं क्षत्रियस्य नाम जग्राह अग्रे चलित्वा च अष्टादशाध्यायं यावदस्य प्रश्नस्य समाधानं प्रस्तुतवान्, यद् वस्तुत इमे वर्णाः किम् तथा च एषु कथं परिवर्तनं भवति? श्रीकृष्ण अवादीत्, ''**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**''- चतुर्णां वर्णानां सृष्टिमहमकरवम्। तर्हि किं मानवानां विभाजनमभवत्? श्रीकृष्णः पुनः कथयति यत्, नहि ''**गुणकर्म विभागशः**''-

गुणानां माध्यमेन कर्मभागचतुष्टयेषु विभाजितम्। इदानीमेतद् द्रष्टव्यमस्ति यत्तद् विभाजितं कर्म किमस्ति? गुणः परिवर्तनशीलोऽस्ति। साधनाया उचितप्रक्रियाद्वारेण तमोगुणात् रजोगुणे, रजोगुणात् सात्त्विकगुणे प्रवेशो मिलति। अतः सात्त्विकगुणस्यप्राधान्ये ब्राह्मणस्वभावो निर्मितो भवति। तस्मिन् समये ब्रह्मणि प्रवेशयितुं सर्वाः योग्यतास्तस्मिन् साधके उपस्थिता भवन्ति। वर्णसम्बद्धाः प्रश्ना इतः समारभ्य अष्टादशाध्यायं यावत् पूर्यन्ते।

श्रीकृष्णस्य मान्यताऽस्ति, ''**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुतिष्ठतात्।**'' स्वभावत उत्पन्ना यादृशी क्षमता धर्मे प्रवेष्टुं जायते कामं सा क्षमता गुणरहितशूद्रश्रेणीका भवेत् तदापि परमकल्याणकारिकाऽस्ति, कुतोहि भवन्तः क्रमशः तत एवोत्थानं कुर्वन्ति। तत उच्चैः साधकानामनुकरणेन साधकस्य पतनं भवति। अर्जुनः क्षत्रियक्षेणीकः साधकः आसीत्। एतस्मादेव श्रीकृष्णः कथयति यत्, अर्जुन ! स्वस्वभावत उत्पन्नाया युद्धप्रवृत्तिक्षमताया अनुभवं कृत्वा भयं कर्त्तुं योग्यस्त्वं नाऽसि। अतः उत्तमं द्वितीयं क्षत्रियस्य कल्याणकरं कर्म न विद्यते। अस्यैव विषयस्य विवेचनं कुर्वन् श्रीकृष्ण अवोचत्–

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

पार्थिवशरीरं रथं परिकल्प्य सफललक्ष्यवेधिन् पार्थ ! स्वतः प्राप्तमनावृत-कपाटं स्वर्गद्वारं प्रवेष्टुं प्रस्तुतमिदं युद्धं सौभाग्यवन्तः क्षत्रियाः एव लभन्ते। क्षत्रियश्रेणीकेषु साधकेषु गुणत्रयं छेत्तुं सामर्थ्यं विद्यते। तदर्थं स्वर्गद्वारं सदानावृतं कपाटं मिलति, कुतोहि तस्मिन् पूर्णरूपेण दैवीसम्पद् समर्जितमुपलभ्यते। स्वरे विचरणस्य क्षमता तस्मिन् समुल्लसति। इदमेवोद्घाटितं स्वर्गद्वारमस्ति। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्विचारपरकमिदं युद्धं क्षत्रियाः एव प्राप्नुवन्ति, कुतस्मात् क्षत्रियेष्वेवास्य युद्धसंघर्षस्य सामर्थ्यं वर्त्तते।

संसारे सङ्गरा भवन्ति। निखिलं जगत् समवेत्य करोति युद्धम्। प्रत्येकं जातयोः युद्ध्यन्ते, किन्तु शाश्वतं विजयं युद्धे विजयिनोऽपि नासादयन्ति। इमे तु प्रतिशोधाः सन्ति। यः कमप्यपरं यथा पीडयति, कालान्तरे सोऽपि तथैव पीडितो

भवति। कीदृशोऽयं विजयो यस्मिन्निन्द्रियाणि शुष्कितानि कर्त्तुं शोकः सन्तिष्ठते, अन्ततः शरीरमपि विनङ्क्ष्यति। वास्तविकः संघर्षस्तु क्षेत्र–क्षेत्रज्ञयोश्चाऽस्ति, यस्मिन्नेकवारमपि प्राप्ते विजये प्रकृत्योपरि सार्वकालिकनिरोधपुरःसरं परं पुरुषस्य परमात्मनः प्राप्तिर्भवति। अयं विजय एवंदृशोऽस्ति यस्मिन् कदाऽपि न पराजयः।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।

ततः स्वधर्मंकीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

अर्जुन! यदि त्वं "धर्मयुक्तं सङ्ग्रामम्"–शाश्वतसनातनपरमधर्म परमात्मनि प्रवेशं दापयितारं धर्मयुद्धं न करिष्यसि, तदा स्वधर्मतोऽर्थात् स्वभावादुत्पन्नः संघर्षस्य क्षमतां, क्रियायां प्रवृत्तेश्च क्षमतां विनाश्य पापमर्थात् जन्ममरणमिश्रितामपकीर्तिं लप्स्यसे। अपकीर्तिञ्च विवृणोति श्रीकृष्णः–

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

सर्वेजनाश्चिरकालं यावत्तवापकीर्त्तेश्चर्चां करिष्यन्ति। अद्यापि पथच्युतेषु महात्मसु विश्वामित्रः, पारासरः, निमिः, शृङ्गीत्यादि महात्मनां गणना भवति। बहवः साधकाः स्वधर्मानुष्ठाने बहुपरामृशन्ति, चिन्तयन्ति च जनाः किं मां कथयिष्यन्ति? एतादृशो भावोऽपि साधनायां सहायको भवति, अनेन साधनायां संलग्नतायाः प्रेरणा लभ्यते। कियद्दूरं यावदयं भावोऽपि सहायतां निभालयति। माननीय पुरुषेभ्योऽपकीर्तिर्मृत्योरपि भृशं कष्टदा।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

येषां महारथिनां दृष्टौ बहुमान्यतां प्राप्त्वा साम्प्रतं युद्धाद्विरतिः त्वां तुच्छता–गर्ते पातयिष्यति, ते महारथिनस्त्वां युद्धभयाद् भयभीतं मानयिष्यन्ति। महारथी कः? अस्मिन् मार्गे महतापरिश्रमेणाग्रेगन्तारः साधका एव महारथिनः सन्ति। इत्थमेव तद्वत् परिश्रमेणाविद्योन्मुखमाकर्षयन्तः कामः, क्रोधः, मोहः, लोभादयोऽपि महारथिनः सन्ति। ये तुभ्यमपरिमितं सम्मानं यच्छन्ति स्म यत् साधकोऽर्जुनः प्रशंसापात्रमस्ति, त्वं तेषां दृष्टौ पतिष्यसि। एतदेव नहि, प्रत्युत्–

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

शत्रुगणास्तवपराक्रमस्य निन्दां कुर्वन्तः सन्तः कानिचिदकथनीयानि वचनानि वक्ष्यन्ति। एकस्मिन् दोषे प्रविशति सति परितः निन्दानां दुर्गुणानाञ्च ततिरावृणोति। अकथनीयान्यपि वचांसि कथयन्ति जनाः। अतः परं महद्दुःखं किं भविष्यति? अतः–

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

अस्मिन् युद्धे मृत्युर्भविष्यति चेत् तदा स्वर्गं प्राप्स्यसि, स्वरे विचरणस्य क्षमतास्थास्यति। श्वासस्य बहिः प्रकृतौ विचरणस्य धारा निरुद्धा भविष्यन्ति। परंदेवे परमात्मनि प्रवेशदापयित्री दैवीसम्पद् हृदये पूर्णरूपेण प्रवाहिता भविष्यति। उद्वा अस्मिन् संघर्षे प्राप्ते विजये महामहिमायुतां स्थितिं प्राप्स्यसि। अत अर्जुन! योद्धुं निश्चयं कृत्वा सन्नद्धो भव।

प्रायः जना उक्तश्लोकस्य सन्दर्भे जानन्ति यदस्मिन् युद्धे मरणानन्तरं स्वर्गलाभः, विजयानन्तरं भूभोगलाभः, किन्तु भवन्तः जानन्ति, अर्जुन उक्तवानस्ति– "भगवन् ! भूतलस्यैव नहि प्रत्युत् त्रैलोकस्य साम्राज्ये प्राप्ते तथा च देवानां देवत्वं प्राप्ते इन्द्रपदप्राप्तावप्यहं तमुपायं न पश्यामि, य इन्द्रियाणि शोषयितुं समर्थं ममं शोकं निवारयेच्च। यद्येतावत्येवोपलब्धिस्तदा गोविन्द! अहं कदापि युद्धं न करिष्यामि। चेदस्यां स्थितावपि श्रीकृष्णः समादिशेत् यदर्जुन! युद्धं कुरु। जेष्यसि चेत् पृथ्वीं प्राप्स्यसि, पराजये सति स्वर्गस्य निवासः सुनिश्चितः। तदा श्रीकृष्णः ददात्येव किम्? अर्जुन इत उपरितनस्य सत्ययुतस्य श्रेयसःकांक्षी शिष्य आसीत्। यं सद्गुरुः श्रीकृष्ण उपदिष्टवान् यत् क्षेत्र–क्षेत्रज्ञयोरस्मिन् संघर्षे चेच्छरीरं प्रणश्यति लक्ष्यप्राप्तिं यावत् न भवेद् गतिः तदा स्वर्गं लप्स्यसे अर्थात् स्वरएव विचरणस्य क्षमतां प्राप्स्यसि, दैवी–सम्पद् हृदयदेशे स्थिरा भविष्यति, अस्य शरीरस्य विद्यमानत्वे संघर्षे सफलो भविष्यसि चेत् 'महीम्'–सर्वोत्कृष्ट ब्रह्ममहिम्नः सदुपयोगं करिष्यसि। महामहिम्नः

स्थितिञ्चावाप्स्यसि। जये सति सर्वोत्कृष्टं महामहिमत्वस्य प्राप्तिः, पराजये तु देवत्व प्राप्तिरुभयोः, हस्तयोः, मोदकमोदः। लाभेऽपि लाभः, हानावपि लाभ एव। पुनरमुं विचारं द्रढयति–

सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

अनेनप्रकारेण सुखं–दुःखं, लाभं–हानिं, जय–पराजयञ्च समानरूपेण मत्वा त्वं युद्धं कर्त्तुं समुद्यतो भव। युद्धेन त्वं पापं नावाप्स्यसि। अर्थात् सुखे यत्र सर्वस्वं वर्त्तते तत्रैव दुःखे देवत्वोपस्थितिः। लाभे महीप्राप्तिरर्थात् सर्वस्व प्राप्तेरनुभवः हानौ च देवत्वमस्ति। विजये महामहिम्नः गौरवं मिलति पराजये तु सहजरूपेण दैवीसम्पदुपर्यधिकारो भवति– इत्थं स्व लाभहानिं सम्यगवबुद्ध्य युद्धार्थं सन्नद्धो भव। युद्धे एव द्वे वस्तुनी वर्त्तेते। युद्धं करिष्यसि चेत्त्वं जन्ममरणबन्धनान्मुक्तो भविष्यसि। अतः त्वं युद्धं कर्त्तुं तत्परो भव।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

हे पार्थ! अयं बुद्ध्युपदेशस्त्वदर्थं ज्ञानयोगस्य विषये समुदीरितः। कीदृशी बुद्धिः? एतदेव यद् युद्धं कुरु। ज्ञानयोगे एतत्तत्वं वर्त्तते यत् स्वास्तित्वमवलोक्य लाभहान्योः सम्यग् विचारं कृत्वा यज्जेष्यामस्तदा महत्वपूर्णांस्थितिं, पराजयिष्यामहे देवत्वं, एवं जये सर्वस्व लाभः पराजयेऽपि देवत्व प्राप्तिरुभयथा लाभोऽस्ति। युद्धं चेन्न करिष्यसि तर्हि सर्वेजना भयाद्युद्धपराङ्मुखा मानयिष्यन्ति, अपकीर्तिर्भविष्यति, अनया रीत्या स्वास्तित्वं पुरतः संस्थाप्य स्वयं विचारं कृत्वा युद्धक्रियायामग्रेसरतैवज्ञानयोगोऽस्ति।

प्रायः जनेषु भ्रान्तिर्वर्त्तते यत् ज्ञानमार्गे कर्म (युद्धं) न करणीयं भवति। ते कथयन्ति यज्ज्ञानमार्गे कर्म नास्ति। अहन्तु शुद्धोऽस्मि, बुद्धोऽस्मि, चैतन्योऽस्मि तथा 'अहं ब्रह्मास्मि', 'गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते' एवं मन्वानाः करोपरि करं निधाय कर्मणो विरमन्ति। योगेश्वरः कृष्णानुसारेण नायं ज्ञानयोगोऽस्ति। ज्ञानयोगेऽपि तदेव कर्म करणीयं भवति यत् कर्मनिष्कामकर्मयोगेऽपि क्रियते। उभयोर्मध्ये

केवलं बुद्धेः तथा दृष्टिकोणस्यान्तरमस्ति। ज्ञानमार्गी स्वस्थितिमवबुद्ध्य स्वस्मिन् निर्भरो भूत्वा कर्म करोति। यदा तु निष्कामकर्मयोगी इष्टाश्रितो भूत्वा कर्म करोति। कर्मविधानमुभयोर्मार्गे निर्धारितमस्ति। तत्कर्मापि एकमेवास्ति, यत्कर्म मार्गद्वये करणीयमस्ति। एवं कर्मसम्पादनस्य दृष्टिकोणद्वयमस्ति।

अर्जुन! इमामेव बुद्धिमिदानीं त्वं निष्कामकर्मयोगस्य विषये शृणु, येन संयोजितस्त्वं कर्मबन्धनानां साधुप्रकारेण नाशं करिष्यसि। अत्र श्रीकृष्णः कर्मणः नामसर्वप्रथमं जग्राह, किन्तु नैतदुक्तवान् यत् किमस्ति कर्म? साम्प्रतं कर्म-विवेचनं न कृत्वा कर्मणो विशेषतासु प्रकाशं वितनोति—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

अस्मिन् निष्कामकर्मयोगे आरम्भस्यार्थात् बीजस्य नाशो न भवति कदापि। सीमितफलस्वरूपो दोषो नास्ति, अतएव निष्कामकर्मणः, अस्मात् कर्मणः सम्पादितः स्वल्पोऽपि साधनसमूहः जन्ममृत्युरूपस्य महद् भयादुद्धारङ्करोति। भवानिदं कर्मपरामृशतु, तदुपरि पदद्वयं चलतु (यः श्रेष्ठगृहस्थाश्रमे स्थित्वाऽपि चलितुं शक्नोति, साधकास्तु चलन्त्येव) बीजमात्रं प्रक्षिपेत्तदाप्यर्जुन! बीजस्य नाशो न भवति। प्रकृतौ नैतादृशी कापि क्षमता, एतादृशं न किमप्यस्त्रं वर्त्तते यत् तत् सत्यं निर्मूलयेत्। प्रकृतिः केवलमावरणं कर्त्तुं शक्नोति, किमपि विलम्बं कर्त्तुं क्षमा किन्तु साधनस्यारम्भं न निर्मूलयितुं शक्नोति।

अग्रे चलित्वा कृष्णः समादिदेश यत् सर्वेषां पापिनां प्रमुखोऽपि कथं न भूयादसावपि ज्ञानरूपया नौकया निस्सन्देहं पारं गमिष्यति। साधुरूपेण तदेव निवेचनमिह कुर्वन् कथयति यदर्जुन! निष्कामकर्मयोगस्य बीजरोपणमात्रं कुर्यात् तदा तस्य बीजस्य विनाशः कदापि न भवति। विपरीतफलप्रदं दूषणमप्यस्मिन्न भवति यद् भवन्तं स्वर्गं ऋद्धिं-सिद्धिं यावत् प्रापयित्वा त्यजेत्। भवान् साधनमिदं त्यजतु, किन्तु साधनमिदं भवदुद्धारं कृत्वैव त्यक्ष्यति। अस्य निष्कामकर्मयोगस्य अल्पमपि साधनं जन्म-मृत्योः महद्भयादुद्धारं करोति। ''**अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।**'' कर्मण इदं बीजारोपणमनेकजन्मनां पश्चात्तत्रैव

स्थापयिष्यति, यत्र परमधामास्ति, परमगतिश्चास्ति। अस्मिन्नेव क्रमेऽग्रे कथयति श्रीकृष्णः–

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

अर्जुन! अस्मिन्निष्कामकर्मयोगे क्रियात्मिकाबुद्धिस्त्वेकैवास्ति। क्रिया-एकैवास्ति, परिणामश्चैकैवास्ति। आत्मिकसम्पत्तिरेव स्थिरासम्पत्तिरस्ति। इमां सम्पत्तिं प्रकृतेर्द्वन्द्वे शनैः-शनैः अर्जितकरणं व्यवसायः कथ्यते। अयं व्यवसायस्तथा निश्चयात्मिकाक्रियाप्येकैवास्ति। तदा तु ये जनाः वह्वीः क्रियाः वदन्ति, किन्ते भजनं न कुर्वन्ति? कथयति श्रीकृष्णः– आम्, ते भजनं न कुर्वन्ति। तेषां पुरुषाणां बुद्धिरनन्तशाखायुता भवति, अतएवानन्तक्रियाणां विस्तारं कुर्वन्ति।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

पार्थ! ते ''**कामात्मानः**''–कामनाभिर्युक्ताः '**वेदवादरताः**'– वेदानां वाक्येष्वनुरक्ताः, '**स्वर्गपराः**'– स्वर्गमेव परं लक्ष्यं मन्यन्ते यत् स्वर्गात् परमपरं किमप्यस्त्येव नहि– एवं भाषमाणा अविवेकिनो जना जन्म-मृत्युरूपं फलप्रदयोः, भोगैश्वर्ययोः प्राप्तये नानाक्रियाणां विस्तारं कुर्वन्ति। प्रदर्शनपरासु मनोहरासु वाणीषु व्यञ्जयन्ति। अर्थादविवेकिजनानां बुद्धयोऽनन्तभेदयुता भवन्ति। ते सर्वे फलयुतेषु वाक्येष्वेवानुरक्ता दृश्यन्ते। वेदवचनान्येव प्रमाणं मन्यन्ते। स्वर्गमेव श्रेष्ठं जानन्ति। तेषां बुद्धिर्बहुभेदयुता वर्त्तते अतएव अनन्तक्रियाणां रचनां रचयन्ति। ते नाम तु परमतत्त्वस्य परमात्मन एव गृह्णन्ति, किन्तु तस्य व्यवधाने बहूनां क्रियाणां विस्तारं कुर्वन्ति। तर्हि किमनेकाः क्रियाः कर्मश्रेण्यां नायान्ति? श्रीकृष्णः कथयति–नहि, अनन्ताः क्रियाः, न सन्ति कर्माणि। तर्हि सैका निश्चिता क्रिया काऽस्ति? श्रीकृष्णः साम्प्रतं नैतत् ब्रवीति। साम्प्रतन्तु केवलमेतत् कथयति

यत् अविवेकिनां बुद्धिरनन्तशाखायुता भवति, अतएव ते बहूनां क्रियाणां विस्तारं कुर्वन्ति। ते केवलं विस्तारमेव नहि कुर्वन्ति अपितु आलंकारिकशैल्यां तस्याभिव्यञ्जनं विदधति। तस्य प्रभावः किं भवति?–

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां जनानां वचनस्य प्रभावः येषां मानसे प्रभवति, अर्जुन! तेषामपि बुद्धिर्विनष्टा भवति, ते न किमपि लभन्ते। पूर्वोक्तवाणी–माध्यमेनापहृतचेतसां भोगैश्वर्येरतानां जनानाञ्चान्तःकरणे क्रियात्मिका बुद्धिर्नाव–शिष्यते, इष्टे समाधिस्थ–कारयित्री निश्चयात्मिका क्रियाऽपि तेषु न वर्त्तते।

एवं विधानामविवेकिनां वाणीं कः शृणोति? भोगैश्वर्ययोः समासक्तचेतसः शृण्वन्ति, नाधिकारिणः श्रुतिपथमानयन्ति। एतादृशेषु पुरुषेषु शाश्वतादितत्त्वे प्रवेशं कारयित्री निश्चयात्मिका क्रियासंयुक्ता बुद्धिर्न तिष्ठति।

प्रश्नः जागर्ति, '**वेदवादरताः**'–ये वेदस्य वचनेऽनुरक्ताः सन्ति, किं तेऽपि भ्रान्ताः? अस्मिन् सन्दर्भे कृष्णः ब्रूते–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

अर्जुन! "**त्रैगुण्यविषया वेदाः**"– वेदाः गुणत्रयं यावत् प्रकाशं कुर्वन्ति। ततः परस्य वृत्तं ते नावगच्छन्ति। अतएव '**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**'– अर्जुन! त्वं गुणत्रयेभ्य उच्चैःपदं प्राप्नुहि अर्थात् वेदकार्यक्षेत्रतो अग्रे चर। कथं वेदकार्यः क्षेत्रादग्रे वर्धनं भवेत्? अस्मिन् प्रकरणे कृष्णः ब्रवीति, '**निर्द्वन्द्वः**'– सुखदुःखयोः द्वन्द्वात् रहितः नित्यसत्यवस्तुनि स्थितः योगक्षेमं वाञ्छन् आत्मपरायणो भव! इत्थमुत्तिष्ठोपरि। प्रश्न उदेति यदहमेव केवलं वेदपथोपरि गच्छेयमुद्वाऽन्योऽपि कश्चिद् वेदमार्गमतिक्रम्योपरिस्थं पन्थानमाश्रितवान्? कथयति श्रीकृष्णः–यः वेदमार्गादुपरि गच्छति स ब्रह्म जानाति यश्च ब्रह्म जानाति, स एव विप्रः।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

सर्वतः सलिलपरिपूर्णं जलाशयं लब्ध्वा मनुष्यस्य लघुजलाशयेन यादृशं प्रयोजनमपेक्षितं भवति, सम्यक् प्रकारेण ब्रह्मज्ञब्राह्मणस्य वेदानां तावदेव प्रयोजनं भवति। तात्पर्यमिदं यत् यो वेदानामुपरि समुत्तिष्ठति, स तु ब्रह्म जानाति, स एव ब्राह्मणोऽप्यस्ति। अर्थात् त्वं वेदेभ्यः उपरिष्टात् चल, ब्राह्मणो भव।

अर्जुनः क्षत्रिय आसीत्। श्रीकृष्णः ब्रूते यत् त्वं ब्राह्मणो भव। ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णाः स्वभावस्य क्षमतानां संज्ञाः। इदं कर्मप्रधानमस्ति, न तु जन्मतः निर्धारिता काचित् रूढिरस्ति। यो गङ्गायाः पूतां धारां प्राप्तवान् तस्य क्षुद्र-जलाशयेन किं प्रयोजनम्? कश्चित् गङ्गायां स्नाति, कश्चित् पशून् स्नापयति। अतः परं न गंगाजलस्य प्रयोजनं किमप्यपरम्। अनेनैव प्रकारेण ब्रह्मणः साक्षात्कर्त्तुस्तस्य विप्रमहापुरुषस्य, तस्य विप्रपदप्राप्तस्य ब्राह्मणस्य वेदानां तावदेव प्रयोजनम्। प्रयोजनमवश्यमेवशिष्यते। वेदास्तिष्ठन्ति, कुतोहि पृष्ठानुवर्तिनां कृते वेदानामुपयोगोऽस्ति। तत एव चर्चायाः प्रारम्भो भविष्यति। अत उपरिष्टात् योगेश्वरः कृष्णः कर्मविधानसमये ज्ञातव्यानां सावधानीनां प्रतिपादनं करोति-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

कर्मसम्पादनमेव स्यात् तवाधिकारः, फलप्राप्तौ न कदाप्यधिकारः। एवं जानीहि कर्मणः फलमस्त्येव नहि। फलस्य वासनायुक्तोऽपि मा भव तथा कर्मविधाने तवाश्रद्धाऽपि मा स्यात्।

इदानीं यावत् श्रीकृष्णः एकोनचत्वारिंशन्मिते श्लोके प्रथमं वारं कर्मणः नाम जग्राह, किन्तु नैतदुक्तवान् यत् तत्कर्म किमस्ति? तत्कर्म कथं करणीयम्? तस्य कर्मणः विशेषतासु प्रकाशं कृतवान् यत्-

१. अर्जुन ! अस्य कर्मणः द्वारेण त्वं कर्मबन्धनात् सम्यग् मोक्ष्यसि।

२. अर्जुन! अस्मिन् कर्मणि बीजस्यारम्भस्य वा नाशो न भवति। कृते सति कर्मणामारम्भे प्रकृतेर्सविधे न कोऽपि उपायो वर्तते यो बीजं विनाशयेत्।

३. अर्जुन! अस्मिन् सीमितफलरूपं दूषणमपि न वर्त्तते यत् स्वर्गं ऋद्धि-सिद्धि-बन्धने बन्धयित्वा स्थापयेत्।

४. अर्जुन! अस्य कर्मणः ईषदपि साधनं जन्ममृत्योरुद्धारकारयिता भवति।

किन्तु साम्प्रतं यावत् श्रीकृष्णेनैतत् नोपदिष्टं यत् तत्कर्म किमस्ति? कथं तत्कर्म विधेयम्? अस्यैवाध्यायस्य एकचत्वारिंशत् तमे श्लोके तेनोक्तम्–

५. अर्जुन! अस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिरेकैवास्ति, क्रिया एकैवास्ति। तर्हि किं बहुक्रियाशीला भजनं न कुर्वन्ति? श्रीकृष्णो भाषते– ते कर्म न कुर्वन्ति। अस्य कारणं वर्णयन् श्रीकृष्ण, वदति यद्– अविवेकिनां बुद्धिरनन्तशाखावती भवति, अतएव ते नाना क्रियाणां विस्तारं कुर्वन्ति। ते प्रदर्शनशीलायां शोभायुक्तायां वाण्यां इमाः क्रियाः व्यक्तमपि कुर्वन्ति। तेषां वचसां प्रभावो येषां चेतसि प्रपतति, तेषामपि बुद्धिर्नष्टाबोभवीति। अतः निश्चयात्मिका क्रिया एकैवास्ति, किन्तु नैतदुक्तं कृष्णेन सा क्रिया काऽस्ति?

सप्तचत्वारिंशत्तमे श्लोके कृष्णेनोक्तम्– अर्जुन! कर्मविधान एव तवाधिकारोऽस्ति, फले न कदापि। फलस्य वासनावानपि माभूः, कर्मविधाने च तवाश्रद्धा न भवेदर्थात् निरन्तरं कर्मविधानाय कर्मण्येव लीनोभूत्वा कर्म कुरु किन्तु नैतत् प्रतिपादितं यत् तत्कर्म किमस्ति? प्रायः, अस्य श्लोकस्योद्धरणं दत्वा जनाः कथयन्ति यत् किमपि कर्म विधेहि, केवलं फलस्य कामना मा कुरु, सम्पन्नो निष्कामकर्मयोगः, किन्तु साम्प्रतं यावत् श्रीकृष्णो नावोचत् यत् कर्मास्ति कीदृशम् यत् कुर्याम्? अत्र केवलं कर्मणां विशेषतासु प्रकाशः प्रथितो यत् कर्मददाति किं कर्मविधान समये च व्यवहृतावधानता च का? तदुपरि प्रकाशं वितनोति। अर्जुनस्तदवस्थो विराजते, यस्य समाधानं योगेश्वरः आगामिन्यध्याये तृतीये चतुर्थे च स्पष्टं करिष्यति। पुनरुक्तभावं द्रढयति–

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

धनञ्जय! आसक्तिं सङ्गदोषञ्च त्यक्त्वा, सिद्धावसिद्धौ समानभावमुररीकृत्य योगस्थो भूत्वा कर्म कुरु। कीदृशं कर्म? निष्कामं कर्म कुरु। '**समत्वं योग उच्यते**'– अयं समत्वभाव एव योगः कथ्यते। यस्मिन् विषमता न स्यात्, ईदृशोभावः समत्वमुदीर्यते। ऋद्धयः सिद्धयश्च विषमायन्ते। आसक्तिरस्मान् विषमं करोति, फलस्य कामना विषमतां जनयति, अतएव फलस्य वासना न भवेत्, पुनरपि कर्मविधाने श्रद्धाया अभावो न स्यात्। दृष्टेषु श्रुतेषु सर्वेषु वस्तुष्वासक्तेस्त्यागं विधाय प्राप्तेरप्राप्तेश्च विषये न चिन्तयित्वा केवलं योगे स्थितो कर्म कुरु । योगाच्चित्तं चलायमानं न भवेत्।

योगः, एकस्याः पराकाष्ठायाः स्थितिरस्ति, एका च प्रारम्भस्य स्थितिर्भवति। प्रारम्भेऽप्यस्माकं दृष्टिः, लक्ष्योन्मुखी भवेत्। अतः योगोपरि दृष्टिं ददानः कर्मणः

आचरणं करणीयम्। समत्वभावः अर्थात् सिद्ध्यसिद्ध्योः समभाव एव योगः स्मृतः। यं पुरुषं सिद्ध्यसिद्धी विचालयितुं न पारयतः, यस्मिन् विषमतायाः नोत्पत्तिः, एतादृशे भावे जायमाने सति अयं समत्वयोगः समुच्यते। अयं योगः इष्टात् समत्वं दापयति, अतएव एनं समत्वं योगं कथयन्ति। कामनानां सर्वथा त्यागोऽस्ति, अतएवेमं निष्कामकर्मयोगं कथयन्ति। कर्मास्तिविधेयम्, अतएव कर्मयोगोऽयं कथ्यते। परमात्मना सह मेलनं कारयति, अतएवास्य नाम योगः अर्थात् मेलोऽस्ति। अस्मिन् योगे बौद्धिकस्तरे ध्यानं धरणीयं भवति यत् सिद्ध्यसिद्ध्योः समभावः स्थिरो भवेत्, आसक्तिर्मा भवेत्, फलस्य वासना नागच्छेत्, अतएवाऽयं निष्कामकर्मयोगः बुद्धियोगोऽपि समुच्यते।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

धनञ्जय! **'अवरं कर्म'**-निकृष्टकर्म, वासनायुतं कर्म बुद्धियोगात् दूरं तिष्ठति। फलकामनावन्तः कृपणाः सन्ति। ते आत्मना सहोदरतां न पालयन्ति, अतः समत्वबुद्धियोगस्याश्रयणं विधेहि। यादृशी कामना वर्त्तते, तादृशं फलं मिलेत् यदि, तदा तस्य भोगार्थं शरीरधारणमपि भवत्यनिवार्यम्। जन्ममरणं निश्चितं चेत्तर्हि कल्याणं कीदृशम्? साधकेन मोक्षस्यापि धारणा न धारणीया, कुतोहि वासनाभ्यो मुक्तिरेव मोक्षः। फलप्राप्तिचिन्तनेन साधकस्य समयो व्यर्थं नश्यति। जातायां फलप्राप्तौ स प्राप्तफले निबध्नाति। तस्य साधना समाप्ता भवति। अग्रे चलित्वा स भजनं किमर्थं विदधीत्? तत एव सम्भ्रान्तो भवति। अतः समत्वबुद्ध्या योगं समाचर।

ज्ञानमार्गमपि श्रीकृष्णो बुद्धियोगं कथितवान् यदर्जुन! एतद् बुद्धिनिर्देशस्ते ज्ञानयोगविषये निर्दिष्टः, अत्र च निष्कामकर्मयोगमपि बुद्धियोगः समीरितः। वस्तुत उभयोर्बुद्धिसम्बद्धदृष्टिकोणस्यान्तरं भासते। तस्मिन् लाभालाभयोः स्तरं परीक्ष्य गमनमपेक्षितं भवति। अस्मिन्नपि बौद्धिकस्तरे समत्वस्य संरक्षणमावश्यकं ज्ञेयम् अतएवायं एनं समत्वबुद्धियोगः कथ्यते। अतो धनञ्जय! त्वं समत्वबुद्धेराश्रयं गृहणीयाः, कुतोहि फलवासनायुताः कृपणतमाः सन्ति।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

समत्वबुद्धियुक्तः पुरुषः पुण्यपापद्वयमपि लोकेऽस्मिन् परित्यजति, तस्मिन् न भवति संलिप्तः। अस्मात् कारणात् समत्वबुद्धियोगार्थं चेष्टां कुरुष्व। ''**योगः कर्मसु कौशलम्**''– समत्वबुद्ध्या सह कर्मणः समाचरणकौशलमेव योगः समुच्यते।

संसारे कर्मविधानस्य द्वौ दृष्टिकोणौ प्रचलितौ स्तः। जनाः कर्मकुर्वन्ति, तदनु तस्य फलमप्यवश्यं वाञ्छन्ति, कर्मफलाप्राप्तौ वा कर्मसम्पादनमेव नेच्छन्ति। किन्तु योगेश्वरः कृष्णः इमानि कर्माणि बन्धनकराणि प्रतिपादयन् आराधनामेव एकमात्रं कर्म मनुते। अस्मिन्नध्याये सः कर्मणो नाममात्रमेव जग्राह। तृतीयाध्यायस्य नवमे श्लोके कर्मणः परिभाषां वर्णितवान् चतुर्थेऽध्याये कर्मस्वरूपोपरि विस्तारेण विवेचनं प्रास्तौत्। प्रस्तुतश्लोके श्रीकृष्णः सांसारिक परम्परातः समपसृत्य कर्मविधानस्य कलां बोधितवान् यत् कर्मकुरु किन्तु श्रद्धापूर्वकं कर्मकुरु तथा च फलाधिकारेच्छां स्वेच्छया परित्यज। फलं यास्यति क्व? एतदेव कर्मविधानस्य कौशलमस्ति। निष्कामसाधकस्य समग्रा शक्तिरेवं प्रकारस्य कर्मणः करणे संलग्ना भवति। आराधनार्थमेवेदं शरीरमस्ति। पुनरपि जिज्ञासा स्वाभाविक्यस्ति, यत् सर्वदैव कर्माणि कुर्वन्नेव स्थातव्यमुद्वास्य किमपि परिणामोऽपि निःसरिष्यति? पश्येमम्–

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

बुद्धियुक्ताः ज्ञानिजनाः कर्मोद्भवं फलं परिहाय जन्ममृत्योर्बन्धनात् मुक्ता भवन्ति। ते निर्दोषममृतमयं पदं प्राप्नुवन्ति।

इह त्रिविधबुद्धेश्चित्रणमस्ति। (श्लोक ३९) सांख्यबुद्धौ फलद्वयमस्ति स्वर्गं श्रेयश्च। (५१) कर्मयोगे प्रवृत्ताया बुद्धेरेकमेव फलमस्ति जन्ममृत्योर्मुक्तिः, निर्मलाविनाशिनः पदस्य प्राप्तिः। अलम् इमे द्वे योगक्रियेस्तः, इतोऽतिरिक्ता बुद्धिरविवेकजन्या कत्थ्यते बहुशाखावती च सा, यस्याः फलं कर्मभोगाय मुहुर्मुहुर्जन्ममृत्युग्रहणम्।

अर्जुनस्य लक्ष्यं लोकत्रयस्य साम्राज्ये देवानामुपरि स्वामित्वसंस्थापने च सीमितमासीत्। एतदर्थमपि स युद्धे प्रवृत्तो न भवति स्म। अत्र श्रीकृष्णः पार्थाय नवीनं तथ्यं समुद्घाटयति यदासक्तिरहितकर्मद्वारा अनामयं पदं प्राप्तं भवति। निष्कामकर्मयोगः परमं पदं प्रापयति, यत्र मृत्योः प्रवेशो न भवति। अस्मिन् कर्मणि प्रवृत्तिः कदा भविता?—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

यस्मिन् समये तव (प्रत्येक साधकस्य) बुद्धिर्मोहरूपी गिलपङ्कं (दलदलं) पूर्णरूपेण पारयिष्यति, लेशमात्रमपि मोहो न शिष्येत्– न पुत्रे, न धने, न प्रतिष्ठायाम्– एतेभ्योऽखिलेभ्यः सम्बन्धो विच्छिन्नो भविष्यति, तस्मिन् समये यच्छ्रोतुं योग्यं त्वं तच्छ्रोष्यसि, श्रुतानुसारेण च त्वं वैराग्यं प्राप्स्यसि अर्थात् तदाचरणे नेतुं शक्ष्यसि। इदानीन्तु यच्छ्रोतव्यं तन्न त्वं श्रोतुं शशाक, आचरणे कार्यान्वयनस्य तु प्रश्न एव नोदेति। अस्यां योग्यतायामुपरि पुनः प्रकाशं ददाति—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

अनेकप्रकाराणां वेदवाक्यानां श्रवणं कृत्वा विचलिता तव बुद्धिर्यदा समाधिस्था भूत्वा स्थिरा भविष्यति तदा त्वं समत्वयोगं लप्स्यसे। पूर्णां समां स्थितिं प्राप्स्यसि यां स्थितिमनामयं परमं पदं कथयन्ति विज्ञाः। इयमेव योगस्य पराकाष्ठा अप्राप्तस्य च प्राप्तिरस्ति। वेदेभ्यस्तु केवलं शिक्षा मिलति, किन्तु श्रीकृष्णः कथयति, '**श्रुतिविप्रतिपन्ना**'– श्रुतीनामनेकसिद्धान्तानां श्रवणेन बुद्धिर्विचलिता भवति। सिद्धान्तास्तु नैकाः श्रुताः किन्तु ये सिद्धान्ताः श्रोतुं योग्यास्तेभ्यो दूरं तिष्ठन्ति जनाः।

इयं विचलिता बुद्धिर्यस्मिन् समये समाधौ स्थिरा भविष्यति तदा योगस्य पराकाष्ठाभूतममृतपदं प्राप्स्यसि। अस्मिन् व्याख्यानसन्दर्भे अर्जुनस्योत्कण्ठा स्वाभाविक्यासीत् यत् ते महापुरुषाः कीदृशाः सन्ति य अनामयपदे स्थिताः सन्ति, येषां बुद्धिः समाधौ स्थिरा भवति? स अकरोत् प्रश्नम्–

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

समाधीयते चित्तम् यस्मिन् स आत्मैव समाधिः–यस्मिन् चित्तस्य समाधानं भवेत् स आत्मैव समाधिरस्ति। अनादितत्त्वे यः समत्वं प्राप्नुयात् स समाधिस्थः कथ्यते। अर्जुनः पप्रच्छ–केशव ! समाधिस्थ स्थिरबुद्धिवतां पुरुषायां लक्षणं किमस्ति? स्थिरप्रज्ञः पुरुषः कथं ब्रूते? स कथं तिष्ठति? कथं चलति? प्रश्नचतुष्टयं कृतवानर्जुनः। अतः परं भगवान् श्रीकृष्णः स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं कथयन् वभाषे–

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

पार्थ ! यदा मानवो मनसि स्थितानां सर्वासां कामनानां त्यागं करोति, तदा स आत्मन्येवात्मना सन्तुष्टः सन् स्थिरबुद्धियुतः कत्थ्यते। कामनानां त्यागानन्तरमेवात्मनो दिग्दर्शनं भवति। एवम्भूतात्मारामः, आत्मतृप्तः महापुरुष एव स्थितप्रज्ञः समुच्यते।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

दैहिकदैविकभौतिकदुःखेषु येषां मनांसि नोद्विग्नानि भवन्ति, सुखप्राप्तौ येषां स्पृहा निर्मूला भवन्ती प्रतीयते, येषां रागः, भयः, क्रोधाः नष्टाः परिलक्ष्यन्ते, मननशीलतायाः पराकाष्ठां प्राप्तो मुनिः स्थितप्रज्ञः कथ्यते। तेषामपरं लक्षणं वर्णयति–

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

यः पुरुषः सर्वत्र स्नेहमुक्तः सन् शुभमशुभञ्च लभमानो न तु प्रसीदति न द्वेषं करोति तस्य बुद्धिः स्थिरा ज्ञेया। शुभन्तु तदेव यत् परमात्मस्वरूपे नियोजयति। अशुभन्तु तत् यत् प्रकृत्युन्मुखं करोति। किन्तु स्थितप्रज्ञः पुरुषः प्राप्तानुकूल परिस्थितिभ्यो न द्विष्यति, कुतोहि प्राप्तार्हं वस्तुतस्माद्भिन्नं नाऽस्ति, न च पतनकारकाविकाराः अपि तस्य बाधकाः सन्ति, अयं भावः साम्प्रतं साधनैः सह तस्य स्वकीयं किमपि प्रयोजनं नावशिष्यते, एतादृशो पुरुषः स्थितप्रज्ञोऽस्ति।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

येन प्रकारेण कूर्मः स्वाङ्गानि संहरति तद्वत् यः पुरुषः स्वेन्द्रियाणि विषयेभ्यः परावर्तयति तदा तस्य बुद्धिः स्थिरा जायते। बहिरागतं भयं पश्यन् कच्छपो येन प्रकारेण स्व शिरः पादांश्च संहरति, तद्वत् यः पुरुषो विषयेषु विचरणशीलानीन्द्रियाणि सर्वतः सङ्कुच्य हृदयदेशे निरुणद्धि, तस्मिन् काले तस्य पुरुषस्य बुद्धिः स्थिरा भवति। किन्त्वेतदेकं दृष्टान्तमात्रमेवास्ति। निवृत्तायां भयसम्भावनायां कच्छपः पुनः स्वाङ्गानि प्रसारयति, किमित्थमेव स्थितप्रज्ञ महापुरुषोऽपि विषयरसास्वादने प्रवृत्तो भवति। अतः परं कथयति–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

इन्द्रियमाध्यमेन विषयाणामगृहीतृणां पुरुषाणान्तु विषयान्निवृत्तिः सुतरां सम्भवति, कुतोहि ते विषयग्रहणमेव न कुर्वन्ति, किन्तु तेषां स्थायी रागः न निवर्तते, आसक्तिस्तु संलग्ना जीवति। सर्वेषामिन्द्रियाणां विषयान् निवारयतां निष्कामकर्मणां रागोऽपि '**परं दृष्ट्वा**'–परमतत्त्व परमात्मनः साक्षात्कारं कृत्वा निवृत्तो भवति।

महापुरुषाः कच्छपवत् स्वेन्द्रियाणि विषयेषु न प्रसारयन्ति। वारमेकं यदेन्द्रियाणां विषयेभ्यः परावर्तनं भवति तदा संस्कारएव निरस्यते, पुनस्ते न विकसन्ति। निष्कामकर्मयोगस्याचरणेन परमात्मनः प्रत्यक्षं दर्शनेन सह तस्य पुरुषस्य विषयेभ्यो रागो विनिवर्तते। प्रायस्ते चिन्तनपथे स्थिरा भवन्ति निर्बन्धञ्च

कुर्वन्ति। निर्बन्धद्वारेणेन्द्रियाण्यवरुद्ध्य ते विषयतः निवृत्ताः भवन्ति किन्तु मानसे विषयाणां चिन्तनरागोऽवशिष्यते। इयमासक्तिः '**परं दृष्ट्वा**'–परमात्मनः साक्षात्कारकरणानन्तरमेव निवर्तते, अतः पूर्वं नहि।

पूज्य 'महाराजाः' अस्मिन् सम्बन्धे स्वकीयामेकां घटनां चित्रयन्ति स्म। गृहत्यागात्पूर्वं तेषां कृते वारत्रयमाकाशवाण्योऽभूवन्। मया ते पृष्टा– "महाराजाः! भवद्भ्यः किमर्थमभवदाकाशवाणी, अस्मभ्यन्तु नाभवत्?" तदास्मिन् सन्दर्भे महाराजेनोक्तम्–"आम् ! हे ! इयं शङ्का मे मनस्यपि जागृता, अर्थादयं सन्देहः मामप्यावृणोति। तदाऽभवदनुभवो यदहं सप्तजन्मतोऽनवरतः साधुरस्मि। चत्वारि जन्मानि तु साधुवेषं विरच्य भाले तिलकं संलिप्य क्वचित् भस्मच्छुरितं शरीरं विधाय क्वचित् धृतकमण्डलुः, विचरन्नासम्। योगक्रियायाः ज्ञानं नासीत्। किन्तु व्यतीतत्रिजन्मतः प्रशस्तसाधुरस्मि, साधुना यथा भवितव्यम्। मयि योगक्रियासीत् जागृता। अतीते जन्मनि पारङ्गत आसम्, निवृत्तिरपि दृढायितासीत्। किन्तु द्वे कामने शेषे समभवताम्– एका स्त्री अपरा गाँजायाः धूम्रपानम्। अन्तरमानसे कामना बाहुल्यमासीत्। किन्तु बहिःक्षेत्रे मया शरीरं दृढीकृतम्। मनसि वासनाजीवितासीत् अतएव जन्मगृहीतम्। जन्मग्रहणानन्तरमल्पकालेनैव परमात्मा सर्वरहस्यं दर्शयित्वा श्रावयित्वा च निवृत्तिमदापयत्, द्वित्राश्चपेटाः दत्तवान् माञ्च साधुं व्यरचयत्।"

तद्वत् श्रीकृष्ण इदं तथ्यं प्राकाशयत् यद्– इन्द्रियद्वारेण विषयाणां ग्रहणं न कुर्वतां पुरुषाणामपि विषयाः निवृत्ताः भवन्ति, किन्तु साधनाद्वारा परमपुरुषस्य परमात्मनः साक्षात्कारानन्तरं स विषयाणां रागेभ्योऽपि निवृत्तो भवति। अतः यावत्कालं साक्षात्कारो न भवेत् तावत् कर्म करणीयमस्ति।

उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरिस सो बही।।

(रामचरित मानस, ५/४८/६)

इन्द्रियाणां विषयेभ्यो निवारणं कठिनमस्ति। इत उपरि प्रकाशयति–

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

कौन्तेय! प्रयत्नशीलानां मेधावीपुरुषाणां प्रमथनशीलानीन्द्रियाणि तस्य मेधाविनो मनः बलात् हरन्ति विचालयन्ति च। अतएव–

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

तानि सर्वाणीन्द्रियाणि संयम्य योगयुक्तश्च समर्पणेन साकं ममाश्रितो भवेत्, कुतोहि यस्य पुरुषस्येन्द्रियाणि वशङ्गतानि भवन्ति, तस्य बुद्धिः स्थिरा जायते। अत्र योगेश्वरः कृष्णः साधनस्य निषेधात्मकाङ्गैः सह तस्य विधेयात्मकपक्षोपरि बलं ददाति। केवलं संयमनिषेधाभ्यामिन्द्रियाणि न भवन्ति वशगानि। समर्पणेन सार्धमिष्टचिन्तनमनिवार्यं भवति। इष्टचिन्तनाभावे विषयचिन्तनं स्वतोभविष्यति, यस्य कुफलं श्रीकृष्णस्य शब्देषु पश्यन्तु–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

विषयचिन्तनं कर्तृणां पुरुषाणां तत्तद्विषयेष्वासक्तिः सम्भवति। आसक्त्या कामना उत्पद्यन्ते। कामना पूर्त्तौ समायाते व्यवधाने क्रोधः प्रादुर्भवति। क्रोधः कं विकारं जनयति?–

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

क्रोधात् विशेषप्रकारयुता मूढता अर्थादविवेकः समुत्पद्यते। नित्यानित्य वस्तुनो विचारो विनश्यति। अविवेकेन स्मरणशक्तिर्भ्रान्ता भवति। (यथार्जुनेऽभवत्– '**भ्रमतीव च मे मनः**'। गीतायाः समापनावसरे स अवोचत्– ''**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**''। किं करवाणि किन्न करवाणि एतस्य निर्णयो न भवितुं शक्नोति)। स्मृतौ भ्रान्तायां योगपरायणा बुद्धिर्विनश्यति, विनष्टायाञ्च बुद्धौ स पुरुषः स्वश्रेयसाधनात् च्युतो भवति।

अत्र श्रीकृष्णः निर्दिशति यद् विषयाणां चिन्तनं न कर्त्तव्यम्। साधकेन नाम्निरूपे लीलायां धामे च क्वचित् रन्तव्यम्। भजने शैथिल्ये जाते मनो

विषयेषु निविशते। विषयाणां चिन्तनेनासक्तिर्वर्धते। आसक्त्या तस्य विषयस्य कामनासाधकस्यान्तर्मनसि समुदेति। कामनायाः पूर्त्तौजाते व्यवधाने क्रोध उदेति, क्रोधादविवेको जायते, अविवेकात् स्मृतिभ्रमो भवति, स्मृतिभ्रमाच्च बुद्धिः प्रणश्यति। निष्कामकर्मयोग एव बुद्धियोगः समुच्यते। कुतोहि बुद्धिस्तरोपरि विचारणीयः यत् कामनाः, न जागृयुः, फलमस्त्येव नहि। आगतायां कामनायामयं बुद्धियोगः क्षिणोति– "**साधन करिय विचारहीन मन शुद्ध होय नहिं तैसे**" (विनयपत्रिका, ११५/३) विचारः परमावश्यकोऽस्ति। विचारशून्यः पुरुषः श्रेयःसाधनात् नीचैः पतति। साधनक्रमः छिन्नो भवति, सर्वथा न नश्यति। भोगानन्तरं साधनं तत एव पुनः प्रारभते, यदवरुद्धो आसीत्।

इयन्तु विषयोन्मुखानां साधकानां गतिरस्ति। स्वाधीनान्तःकरणवान् साधकः काङ्गतिं प्राप्नोति? श्रीकृष्णः कथयति–

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

आत्मविधिं प्राप्तः प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषः रागद्वेषविमुक्तः स्व–वशमानीतैरिन्द्रियैः '**विषयान् चरन्**'– विषयेषु विचरन् सन्नपि '**प्रसादमधिगच्छति**'– अन्तःकरणस्य निर्मलतां लभते। स स्वभावदृष्टौ निवसति। महापुरुषस्य कृते विधिनिषेधौ न वर्त्तेते। तस्य कृते कुत्रापि अशुभं न तिष्ठति यस्मात् स सुरक्षां कुर्यात् तथा तस्य कृते कोऽपि शुभः न शेषायते, यस्यासौ कामनां विदधीत्।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

भवतः पूर्णकृपाप्रसादेन भगवत्तया संयुक्ते सति तस्य सम्पूर्ण दुःखानामभावो जायते, '**दुःखालयमशाश्वतम्**'–संसारस्याभावो निष्पद्यते। तस्य प्रसन्नचित्तस्य च पुरुषस्य बुद्धिः त्वरितं साधुप्रकारेण स्थिरा सम्पद्यते। किन्तु यः योगयुक्तो नास्ति, तस्य दशोपरि प्रकाशं कुरुते–

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

योगसाधनरहितः पुरुषस्यान्तःकरणे निष्कामकर्मयुक्तबुद्धिर्नोत्पद्यते। तस्यायुक्तस्यान्तःकरणे भावोऽपि न जागर्ति। भावनारहितस्य पुरुषस्य शान्तिः क्व? अशान्तपुरुषस्य च सुखं क्व? योगक्रियाविधानेन किञ्चित् दर्शने सति भावो रच्यते। **'जाने बिनु न होइ परतीती'**। भावनांविना शान्तिर्न मिलति, शान्तिरहितपुरुषाय च शाश्वतसनातनस्य प्राप्तिर्न भवति।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

जले नौकां येनप्रकारेण पवनो अधिकृत्य लक्ष्याद् दूरं कारयति तद्वत् विषयेषु प्रवहमानेष्विन्द्रियेषु, येनेन्द्रियेण सह मनो रमते, तदेकमेवेन्द्रियं तस्या-युक्तपुरुषस्य बुद्धिं हरति। अतः योगस्याचरणमनिवार्यमस्ति। क्रियात्मकाचरणोपरि श्रीकृष्णः पुनः बलमाददाति-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

एतस्मान्महाबाहो! येषां पुरुषाणामिन्द्रियाणीन्द्रियविषयेभ्यः सर्वथा वशीकृतानि भवन्ति तस्य बुद्धिः स्थिरा भवति। 'बाहुः' कार्यक्षेत्रस्य प्रतीकोऽस्ति। भगवान् महाबाहुः, एवमाजानुबाहुरुदीर्यते। सहस्तपादयोर्विनैव सर्वत्र कार्यङ्करोति। तस्मिन् भगवति यः प्रविशत्यथवा तस्मिन् भगवत्यग्रेसरोऽस्ति, सोऽपि महाबाहुः कथ्यते। श्रीकृष्णार्जुनावुभौ महाबाहू कथ्येते।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

सर्वेषां प्राणिनां कृते स परमात्मा रात्रितुल्योऽस्ति, कुतोहि न स दृष्टि पथमायाति, न च विचारः कार्यङ्करोति- अतएव रात्रि सदृशोऽस्ति। तस्यां रात्रौ

परमात्मनि संयमी पुरुषः सम्यक् पश्यति, चलति, जागर्ति, कुतोहि तत्र तस्य ग्राहकता शक्तिरस्ति। योगिन इन्द्रियाणां संयमद्वारेण तस्मिन् प्रवेशं लभन्ते। येषां नश्वराणां सांसारिकसुखभोगानां सर्वे प्राणिनः रात्रिन्दिवं परिश्रमं विदधति, योगिनां कृते सैव निशाऽस्ति।

रमा विलासु राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।।

(रामचरित मानस, २/३२३/८)

यो योगीजनः परमार्थपथे सर्वदा सावधानो भौतिककामनाभ्यश्च सर्वथा निःस्पृहो भवति, सैव तस्मिन्निष्टे प्रविशति। स निवसति तु संसारे, किन्तु तदुपरि संसारस्य प्रभावः निष्फलः। महापुरुषस्यैतस्याः दिनचर्यायाश्चित्रणं पश्यन्तु–

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

येन प्रकारेण परिपूर्णेऽचलप्रतिष्ठे सागरे सर्वाभ्यः दिग्भ्यः समागताः नद्यः सागरं चलायमानं न कर्त्तुं तस्मिन्नेव सागरे भवन्ति विलीनाः, तद्वत् परमात्मनि स्थितस्य स्थितप्रज्ञपुरुषस्यान्तराले सर्वेभोगाः विकारमनुत्पादयन्नेव समाहिताः भवन्ति एवंदृशः पुरुषः परमशान्तिमासादयति, न तु भोगेच्छु।

भयङ्करवेगेन प्रवहन्त्यः सहस्राधिकाः नद्यः स्वप्रबलधारया शस्यं विनाशयन्त्यः, जीवान् नाशयन्त्यः, नगराणि निमज्जयन्त्य, हाहाकारं कुर्वन्त्यः महताजवेन सागरे पतन्ति, किन्तु समुद्रमङ्गुलिमात्रमप्युपरिष्टात् कर्त्तुं न शक्नुवन्ति, न विचालयन्ति, प्रत्युत् तस्मिन्नेव सागरे विलीना भवन्ति– तद्वत् स्थितप्रज्ञ–पुरुषस्य कृते सर्वेभोगाः बहुवेगेन आयान्ति, किन्तु तत्रैव समाहिता भवन्ति। तेषु पुरुषेषु भोगाः न तु शुभसंस्कारं स्थापयितुं सक्षमा भवन्ति। योगिनाङ्कर्माणि अशुक्लानि, अकृष्णानि च भवन्ति। कुतोहि यस्मिन् चित्ते संस्काराः सन्निपतन्ति, तस्य निरोधो विलीनीकरणञ्चजातम्। अनेनैव स भगवत्तायाः स्थितिः प्रादुर्भूता।

साम्प्रतं संस्काराः स्वप्रभावं क्व कुर्युः? अस्मिन्नेकस्मिन्नेव श्लोके श्रीकृष्णोऽर्जुनस्य नैकेषां प्रश्नानां समाधानञ्चकार। तस्य जिज्ञासासीत् यत् स्थितप्रज्ञस्य महापुरुष लक्षणं किमस्ति? स कथं वदति? कथं तिष्ठति? कथं चलति? श्रीकृष्णेनैकेनैव शब्देनोत्तरितं यत्ते समुद्रसदृशा भवन्ति, तेषां कृते विधिनिषेधौ न जायेते यदित्थं तिष्ठ, इत्थं चल। त एव परमशान्तिं गच्छन्ति, कुतोहि ते संयमिनः सन्ति। भोगकामनावन्तः शान्तिं न प्राप्नुवन्ति। अत उपरि पुन उपदिशति–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

यः पुरुषः सम्पूर्णान् कामान् परित्यज्य '**निर्ममः**'–ममता भावमहङ्कार–वृत्तिञ्चाधारयन् स्पृहाविनिर्मुक्ता आचरणङ्करोति, स तां परमशान्तिं लभते यस्य पश्चात् किमपि लब्धुं नावशिष्यते।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

पार्थ! उपर्युक्ता स्थितिः प्राप्तब्रह्मणः पुरुषस्य स्थितिः। समुद्रवत् तेषु पुरुषेषु विषयाः नदीवसमाहिता भवन्ति। ते पूर्णसंयमिनः प्रत्यक्षतश्च परमात्मदर्शिनः सन्ति। केवलम् 'अहं ब्रह्मास्मि' पठनेन रटनेन च नायं स्थितिर्मिलति। साधनद्वारेणैवास्य ब्रह्मणः स्थितिं प्राप्तं कर्त्तुं शक्यते। एतादृशो महापुरुषो ब्रह्मनिष्ठायां स्थितः सन्नन्तकालेऽपि ब्रह्मानन्दं समवाप्नोति।

निष्कर्षः–

प्रायः केचन जनाः कथयन्ति यद् द्वितीयाध्याये गीतापूर्णतां गता, किन्तु यदि केवलं कर्मनामोच्चारणेनैव कर्मपूर्तिः स्यात् तदा गीतायाः समापनं स्वीकर्त्तुं शक्यम्। अस्मिन्नध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्ण एतदेवोक्तवान् यद् अर्जुन! निष्कामकर्मयोगस्य विषये शृणु यत् ज्ञात्वा त्वं संसारबन्धनान्मुक्तो भविष्यसि। कर्मविधाने तवाधिकारोऽस्ति, फलप्राप्तौ न कदापि। कर्मविधाने तवाश्रद्धापि नोदयेत्। निरन्तरं कर्मकर्त्तुं तत्परो भव। अस्य परिणामे 'परं दृष्ट्वा'– परमपुरुषस्य

दर्शनं कृत्वा स्थितप्रज्ञो भविष्यसि, परमशान्तिञ्च प्राप्स्यसि। किन्तु नैतदुक्तं कृष्णेन किन्नाम कर्मत्वम्?

अयमध्यायः सांख्ययोगनामको नास्ति। इदन्नाम शास्त्रकाराणां नहि प्रत्युत् टीकाकाराणां मतमस्ति। ते स्वबुद्ध्यनुसारेण तात्पर्यग्रहणं कुर्वन्ति तत्र किमाश्चर्यम्?

अस्मिन्नध्याये कर्मणः गरिमां, कर्मविधानस्य सावधानीं स्थितप्रज्ञस्य च लक्षणमुक्त्वा श्रीकृष्णोऽर्जुनस्य मनसि कर्मप्रत्युत्कण्ठामजागरीत् तस्मै केचन प्रश्नान् दत्तवान्। आत्मा शाश्वतः सनातनश्चास्ति, तं ज्ञात्वा तत्त्वदर्शी भव। अस्य प्राप्तेः साधनद्वयं वर्त्तते–ज्ञानयोगः, निष्कामकर्मयोगश्च।

स्वशक्तिं ज्ञात्वा, हानिलाभयोः स्वयं निर्णयं कृत्वा कर्मणि प्रवृत्तिः ज्ञानमार्गोऽस्ति तथेष्टोपरि निर्भरो भूत्वा ससमर्पणं तस्मिन्नेव कर्मणि प्रवृत्तिः निष्कामकर्ममार्गभक्तिमार्गश्च। गोस्वामी तुलसीदासेनोभयोश्चित्रणमित्थं कृतम्–

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
जनहि मोर बल निजबल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही।।

(रामचरित मानस, ३/४२/८–९)

मम भक्तौ द्विविधौ स्तः एको ज्ञानमार्गी अपरो भक्तिमार्गी च। निष्कामः कर्ममार्गी, भक्तिमार्गी वा शरणागतो भूत्वा ममाश्रयं गृहीत्वा चलति, ज्ञानयोगी स्वशक्तिं पुरतः संस्थाप्य स्वलाभालाभयोर्विचारं कृत्वाऽऽत्मबलेन चलति। यदाह्युभयोः शत्रुरेकैवास्ति। ज्ञानमार्गिणः कृते कामक्रोधादि शत्रूणामुपरि विजय-प्राप्तिरनिवार्या, निष्कामकर्मयोगिनाञ्चकृते एभिःसाकं युद्धं करणीयं भवति। कामनानां त्यागमुभौ कुरुतः। उभयोः मार्गयोः क्रियमाणं कर्मापि एकमेवाऽस्ति। "अस्य कर्मणः परिणामे परमशान्तिं प्राप्स्यसि" किन्तु नैतत् कथितवान् यत् किमस्ति कर्म? साम्प्रतं भवतः समक्षमपि कर्म एकः प्रश्न अस्ति। अर्जुनस्यापि मानसे कर्मप्रतिजिज्ञासा प्रादुर्भूता। तृतीयाध्यायस्यारम्भे हि स कृष्णं प्रतिकर्मविषयकं प्रश्नं प्रस्तौति। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्यस्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

द्वितीयेऽध्याये भगवता श्रीकृष्णेनोक्तं यदियं बुद्धिस्त्वदर्थं ज्ञानमार्गविषये प्रतिपादिता। कीदृशी बुद्धिः? इयमेव यत् त्वं युद्धं कुरु। जेष्यसि चेत् महामहिम-स्थितेः प्राप्तिं करिष्यसि, पराजयिष्यसे चेत्तदापि देवत्वलाभः। विजये सर्वस्वमस्ति, पराजयेऽपि देवत्वमस्ति, किञ्चित् मिलत्येव। अतोऽनया दृष्ट्या लाभेहानौ च किञ्चित् प्राप्तिर्भवत्येव। काचिदपि क्षतिर्नास्ति। पुनरकथयत् साम्प्रतमिमामेव बुद्धिं त्वं निष्कामकर्मयोगविषये शृणु, यया बुद्ध्या युक्तो भूत्वा त्वं कर्मबन्धनात् सम्यक् मुक्तो भविष्यसि। पुनस्तस्याः विशेषतासु प्रकाशमकरोत्। कर्मविधान-समये परमावश्यकसावधानीनामुपरि बलं दत्तवान् यत् फलस्य वासनायुक्तो मा भूः, कामनाविरहितः कर्मणि प्रवृत्तो भव, कर्मविधाने च तवाश्रद्धापि न स्यात्, येन त्वं कर्मबन्धनान्मुक्तो भविष्यसि। मुक्तस्तु भविष्यसि, किन्तु मार्गे स्वस्थितिर्न दृष्टिपथमायाता।

अत अर्जुनकृते निष्कामकर्मयोगापेक्षया ज्ञानपथः सरलः प्राप्तियुतश्च प्रतीतः। स पप्रच्छ-जनार्दन! निष्कामकर्मयोगापेक्षया ज्ञानमार्गं भवतां दृष्टौ श्रेष्ठमस्ति, तर्हि मां भयङ्करकर्मणि कथं नियोजयति? प्रश्नः स्वाभाविक आसीत्। कल्प्यताम्, एकस्मिन् स्थाने गमनस्य द्वौ पन्थानौ वर्तेते। यदि भवता गन्तव्यमस्ति, तदा भवानवश्यं प्रश्नं करिष्यति, यदनयोः कः सुगमः पन्थाः? यदि भवान् प्रश्नं न करोति तर्हि नास्ति पथिको भवान्। यथावदर्जुनस्तथैव प्रश्नं कृतवान्-

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

जनानामुपरि दयाकर! जनार्दन! यदि निष्कामकर्मयोगापेक्षया ज्ञानयोगः श्रेष्ठः इति भवतां मतम्, तर्हि हे केशव! भवान् मां भयङ्करे कर्मयोगे किमर्थं नियोजयति? निष्कामकर्मयोगे अर्जुनेन भयङ्करता समवलोकिता, कुतोह्यस्मिन् निष्कामकर्मविधाने तवाधिकारोऽस्ति, न च फलप्राप्तौ। कर्मविधावाप्यश्रद्धा-माभवेत्, निरन्तरञ्च समर्पणेन सह योगोपरि दृष्टिं दधानः कर्मणिसंलग्नो भव। यदा हि ज्ञानमार्गे पराजये सति देवत्वमस्ति, विजये सति महामहिम स्थितिः वर्त्तते। स्वलाभहानिं स्वयं पश्यनग्रेवर्धनमस्ति। अनया रीत्या निष्काम-कर्मयोगापेक्षयार्जुनाय ज्ञानमार्गं सरलं प्रतीतम्। अतएव स निवेदितवान्-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

भवानुपर्युक्तवचनेन मम बुद्धिं मोहयति। वस्तुतस्तु भवान् मम बुद्धेर्मोहं दूरयितुं प्रवृत्तोऽभवत्। अत अनयोरेकतरं मार्गं निश्चित्य मामुपदिशतु येनाहं 'श्रेयः'-परमकल्याणं मोक्षं प्राप्तं कर्त्तुं शक्नुयाम। अतः परं कृष्ण उक्तवान्-

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

निष्पापार्जुन! अस्मिन् संसारे सत्यशोधनार्थं द्वे धारे यथापूर्वं प्रतिपादिते स्तः। प्रथमायाः धारायाः तात्पर्यं कदाचित् सत्ययुगे त्रेतायां वा नहि, प्रत्युदिदानीं यां धारां द्वितीयेऽध्याये उक्तवानहम्। ज्ञानिनाङ्कृते ज्ञानमार्गं, योगिनाङ्कृते निष्कामकर्ममार्गं वर्णितम्। उभयोर्मार्गयोरनुसारेण कर्म तु करणीयं भविष्यति। 'कर्म' अनिवार्यमस्ति।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अर्जुन! मनुष्यस्तु कर्मणामनारम्भेण निष्कामकर्मताया अन्तिमां स्थितिं प्राप्नोति न कृतारम्भक्रियायाश्च परित्यागमात्रेण भगवत्प्राप्तिरूपिणं परमसिद्धिमेव

लभते। साम्प्रतं तुभ्यं ज्ञानमार्गं रुचिकरं भवेदथवा निष्कामकर्ममार्गमुभयोः कर्म करणीयं भवति।

प्रायोऽस्मिन् स्थले जनाः संक्षिप्तमार्गं सुरक्षाञ्चान्वेष्टुमारभन्ते। ''कर्मारम्भ एव न कुर्वीत, इत्थं निष्कर्मी भवेत्''—क्वचिदेतादृशीं भ्रान्तिर्नाविशिष्येत् अतएव श्रीकृष्णः सबलमुपदिशति यत् कर्मणामनारम्भात् कोऽपि निष्कर्मभावं नासादयति। शुभाशुभकर्मणां यत्रान्तो वर्त्तते, परमनिष्कर्मतायाः तां स्थितिं कर्मविधानेनैव प्राप्तुं शक्यते। अनेनैव प्रकारेण नैके जनाः कथयन्ति, ''अहमस्मि ज्ञानमार्गी, ज्ञानमार्गे कर्मास्त्येव नहि''– एवं मत्वा कर्मत्यक्तारो न भवन्ति ज्ञानिनः। कृतारम्भायाः क्रियायाः त्यागमात्रेण कोऽपि भगवत्साक्षात्काररूपीं परमसिद्धिं न प्राप्नोति। कुतोहि–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कोऽपि पुरुषः कस्मिन्नपि काले क्षणमपि कर्मविधानं विना न तिष्ठति। कुतोहि सर्वे पुरुषाः प्रकृतिप्रसूतैर्गुणैर्विवशा भूत्वा कर्म कुर्वन्ति। प्रकृति–प्रसूतागुणाश्च यावज्जीवन्ति, तावत् कोऽपि पुरुषः कर्मविधानं विना न स्थातुं शक्नोति।

चतुर्थाध्यायस्य त्रयस्त्रिंशतितमे सप्तत्रिंशतितमे च श्लोके श्रीकृष्णः कथयति यत् सर्वाणि कर्माणि ज्ञानकुक्षौ विलीनानि भवन्ति। ज्ञानरूपाग्निः सकलानि कर्माणि भस्मसात्करोति। अत्र स कथयति यत् कर्मविधानं विना न कोऽपि वर्त्तते। अन्ततस्ते महापुरुषाः कथयन्ति किम्? तेषामस्त्याशयः यत् यज्ञं कुर्वन्तः कुर्वन्तः त्रिगुणातीते जाते सति मनसो विलयेन साक्षात्कारेण स यज्ञस्य परिणामे प्राप्ते सति कर्माणि शेषाणि भवन्ति। तन्निर्धारित क्रियायाः पूर्णतातः पूर्वकर्माणि न विलीयन्ते, प्रकृतिः पिण्डं न मुञ्चति।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

इति स्थितावपि विशेषरूपेण मूढजनाः, ये कर्मेन्द्रियाणि हठपूर्वकं

निरुद्ध्येन्द्रियाणां भोगान् मनसा स्मरन्तः सन्तो वर्त्तन्ते ते सन्ति मिथ्याचारिणः, पाखण्डिनो न तु ज्ञानिनः। प्रमाणितमस्ति यत् कृष्णस्य कालेऽपि एतादृश्यो रूढ्यो विद्यमाना आसन्। जना विधानार्हां क्रियां विधायेन्द्रियाणि हठबलेनावरुद्ध्य तिष्ठन्ति स्म, कथयन्ति स्म च 'अहं ज्ञानी अहं पूर्णः' किन्तु श्रीकृष्णः कथयति, यदिमे धूर्त्ताः सन्ति। ज्ञानमार्गं प्रियं लगेत् निष्कामकर्मयोगं वा, उभयोर्मार्गयोः कर्मकरणीयं भवति।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

अर्जुन! यः पुरुषः मनसेन्द्रियाणि वशीकृत्य, यदा मनस्यपि वासनानां स्फुरणं न भवेत्, सर्वथाऽनासक्तः सन् कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगस्याचरणं विदधाति, 'स श्रेष्ठोऽस्ति, साध्वस्ति'। बोधोऽभवत् यत् कर्माचरणं विधेयम्, किन्त्वयं प्रश्न उत्तिष्ठति यत् कीदृशं कर्म विधेयम्? अत्र ब्रूते कृष्णः–

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

अर्जुन! त्वं निर्धारितं कर्म कुरु। अर्थात् कर्माणि तु बहूनि सन्ति, तेष्वेकं किमपि चयनितं कर्मास्ति। तन्नियतं कर्म कुरु। कर्माविधानापेक्षया कर्मकरणमेव श्रेष्ठमस्ति, अतएव यत्कुर्वन् स्थास्यति, अल्पामपि दूरीं पारयिष्यसि, तदा यथा पूर्वं कथितम्–महान् जन्ममृत्योर्भयादुद्धारकः, तेन श्रेष्ठोऽस्ति। कर्मणः अकरणेन तव शरीरयात्राऽपि न भविष्यति सिद्धा। शरीरयात्रायाः अर्थं जनाः कुर्वन्ति– 'शरीरनिर्वाहः'। कीदृशः शरीरनिर्वाहः? किं भवान् शरीरम्? अयं पुरुषो जन्मजन्मान्तरतो युगयुगान्तरतः शरीरस्य यात्रां कुर्वन् समायाति। यथा वस्त्रं जीर्णञ्जातम्, तदा द्वितीयं तृतीयं वस्त्रं धारितम्, इत्थमेव कीटपतङ्गतः मानवावधिं यावत्, ब्रह्मण आरभ्य यावन्मात्रं जगत् तत्सर्वं परिवर्तनशीलमस्ति। उच्चैः नीचैः, योनिष्वनवरतमयं जीवः शरीराणामेव यात्रां कुर्वन् वर्त्तते। 'कर्म' किमप्येतादृशं वस्तु वर्त्तते, यदस्याः यात्रायाः सिद्धिं कुर्वीत्, पूरयेद्वा। मन्यतामेकमेव जन्मग्रहणमद्यापि प्रवर्तते, साम्प्रतन्तु पथिकश्चलन्नेवास्ति, स

भिन्नशरीराणां यात्रां कुर्वन् वर्त्तते। यात्रा तु तदा पूर्णा भविष्यति यदा गन्तव्यं मिलेत्। परमात्मनि स्थितेरनन्तरमस्यात्मनः शरीराणां यात्रा समाप्ता भवति, अर्थात् शरीरत्यागस्य शरीरधारणस्य च क्रमः समाप्तिं याति। अतः कर्मैतादृशं किमप्यस्ति वस्तु यदस्य पुरुषस्य पुनः शरीरयात्राया आवश्यकता न भवेत्। '**मोक्ष्यसेऽशुभात्**' (४/१६) अर्जुन! इदं कर्म कृत्वा त्वमशुभात् संसारबन्धनात् मुक्तो भविष्यसि। कर्मकिमप्येतादृशं वस्त्वस्ति, यत् संसारबन्धनात् मुक्तिं दापयति। साम्प्रतं प्रश्नः जागर्ति यत् तन्निर्धारितं कर्मकिमस्ति? अतः परं कृष्णः कथयति–

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

अर्जुन! यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। ताः सर्वोपक्रिया अपि कर्म कोटिमारोहन्ति, याभिर्यज्ञं पूर्णतामेति। सिद्धमस्ति यत् कर्मैकं निर्धारित प्रक्रिया, अस्ति। अतोऽतिरिक्तं यानि कर्माणि भवन्ति, किन्त्वेतानि कर्माणि नहि? कृष्णः कथयति–नहि, ते कर्माणि न सन्ति। '**अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**'– अस्य यज्ञस्य प्रक्रियातो व्यतिरिक्तं संसारे यत्किञ्चित् कर्मसम्पाद्यते, अखिलं जगत् यस्मिन्नहर्दिनं व्यस्तमस्ति, तदस्य लोकस्यैकबन्धनमस्ति न तु कर्म। कर्म तु '**मोक्ष्यसेऽशुभात्**'– अशुभादर्थात् संसारबन्धनात् मुक्तिदापयितास्ति। मात्रयज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। तदुपक्रियासमूहोऽपि कर्मास्ति येन यज्ञः पूर्यते। अत अर्जुन! तस्य यज्ञस्य पूर्त्तये सङ्गदोषात् पृथग्भूयः सम्यग् रूपेण कर्माचरणं कुरु। सङ्गदोषात् पार्थक्यं विनेदं कर्म न सिद्ध्यति।

साम्प्रतमहमवागच्छं यत् 'यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति' किन्त्वत्रैको नवीनो प्रश्नः समुत्पन्नोऽभवत् यत् तद्यज्ञं किमस्ति, यं विदधीत्? एतदर्थं प्रथमं यज्ञस्य रहस्यं नोक्त्वा श्रीकृष्णः वदति यत् यज्ञस्यागमनं कुतः? अयं ददाति किम्? तस्य विशेषतासु प्रकाशं प्रसार्य चतुर्थेऽध्याये च विवेचितं यत् यज्ञः किमस्ति, यमहं कार्यरूपे परिणतं कुर्याम् तथा च मया यत् कर्मसम्पाद्येत्? योगेश्वरश्रीकृष्णस्य रहस्यविस्फोरणशैल्या सुस्पष्टं प्रतीयते यत् कृष्णो यस्य वस्तुनश्चित्रणं कर्त्तुं कामयते प्रथमं तु तस्य वस्तुनो विशेषतां चित्रयति येन श्रद्धा जागृता भवेत्,

तत्पश्चात् कृष्णः, तस्मिन् व्यवह्रयमाणान् सावधानीप्रकारान् वर्णयति, अन्ततः मुख्यसिद्धान्तं प्रत्यपादयत्।

स्मरणीयमेतत् यत् श्रीकृष्णोऽत्र कर्मणो द्वितीयाङ्गस्योपरि प्रकाशं प्रसारितवान् यत् कर्म एका निर्धारिता क्रियास्ति। यत्किञ्चित् क्रियते जनैस्तत्सर्वं कर्मनास्ति।

द्वितीयेऽध्याये प्रथमवारं कर्मनाम गृहीतं, तस्य विशेषतासु च बलमददात्, तत्र करणीय सावधानीनामुपरि प्रकाशमकरोत् किन्तु नैतदुक्तं कृष्णेन किमस्ति कर्म? अत्र तृतीयेऽध्याये कथयति यत् कर्मविधानं विना न कश्चित् तिष्ठति। प्रकृतिपराधीनो भूत्वा मनुष्यः कर्म करोति। अतः परं ये जनाः हठबलेनेन्द्रियाणि रुन्धन्ति, मनसा विषयाणां चिन्तनं कुर्वन्ति, ते सर्वे दम्भिनः दम्भाचारिणश्च सन्ति। अतएवार्जुन! मनसेन्द्रियाणि समाहृत्य त्वं कर्म कुरु। किन्तु प्रश्नो यथावत् यत् कीदृशं कर्मकरवाणि? इत उपरि योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथितवान्– अर्जुन! त्वं निधारितं कर्म कुरु।

साम्प्रतं प्रश्न उदेति यत् किन्नाम निर्धारितं कर्म यदहं करवाणि? तदोक्तं कृष्णेन यत् यज्ञस्य कार्यरूपे विपरिणमनं कर्मास्ति। पुनरुत्तिष्ठति प्रश्नः, यज्ञः किमस्ति? अत्र यज्ञस्योत्पत्तिं विशेषताञ्च वर्णयित्वा शान्तो भविष्यति वक्ताग्रिमे चतुर्थाध्याये यज्ञस्य पूर्णरूपं मेलिष्यति, यस्य विधानमेव कर्मास्ति।

कर्मण इयं परिभाषागीतावबोधस्य कुञ्जिकास्ति। संसारे जनाः यज्ञातिरिक्तं किमपि–किमपि कर्मकुर्वाणा वर्त्तन्ते। कश्चित् कृषिं करोति, कश्चित् व्यापारं करोति, कश्चित् पदासीनः शास्ति, कश्चित्तु सेवते, कश्चिदात्मानं बुद्धिजीवीति भाषते, कश्चित्तु श्रमजीवी, कश्चित्तु समाजसेवां कर्ममनुते, कश्चित्तु देशसेवाम्– येषु कर्मस्तु च जनाः सकामनिष्कामयोश्चकर्मणः पीठिकां कल्पयन्ति। किन्तु श्रीकृष्णः कथयति– नेमानि कर्माणि। **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**– यज्ञप्रक्रियातिरिक्तं यत्किञ्चित् कर्मक्रियते, तदस्य लोकस्य बन्धनकारकं कर्मास्ति, न तु मोक्षदं कर्म। वस्तुतः यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। साम्प्रतं यज्ञं न व्याख्याय पूर्वमेतत् प्रकाशयति यत् यज्ञः कुतः समायातः–

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

प्रजापतिर्ब्रह्मा कल्पादौ यज्ञेन सह प्रजाः विरच्योक्तवान् यदस्य यज्ञद्वारेण वृद्धिमाप्नुहि। अयं यज्ञो युष्मभ्यं 'इष्टकामधुक्'– यस्मिन् कदाप्यनिष्टो मा भवेत्, विनाशरहितेष्टसम्बद्धकामानां पूर्तिकरो भवेत्।

यज्ञसहितं प्रजाः कोऽरचयत्? प्रजापतिर्ब्रह्मा। ब्रह्मा कः? किं चतुर्मुख अष्टनेत्रश्च देवो, यथा प्रचारोऽस्ति? नहि, श्रीकृष्णानुसारेण देवता नाम्नि काऽपि सत्ता न वर्त्तते। पुनः प्रजापतिः कः? वस्तुतो यः प्रजानां मूलोद्गमस्थाने परमात्मनि प्रवेशं प्राप्तवान्, स महापुरुषः प्रजापतिरस्ति। बुद्धिरेव ब्रह्मास्ति। '**अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान्।**' **(रामचरितमानस)** तस्मिन् समये बुद्धिर्यन्त्रमात्रं भवति। तस्य पुरुषस्यवाणी परमात्मैव वदति।

भजनस्य वास्तविकक्रियायाः प्रारम्भानन्तरं बुद्धेरुत्तरोत्तरमुत्थानं भवति। आरम्भे सा बुद्धिर्ब्रह्मविद्या संयुक्ता भवनेन 'ब्रह्मवित्' कथ्यते। क्रमशः विकाराणां शमनानन्तरं ब्रह्मविद्यायां श्रेष्ठत्वादयं 'ब्रह्मवित् वरः' समुच्यते। उत्थानोत्तरं सूक्ष्मता प्राप्ते सति बुद्धेरवस्था विकसिता भवति सा 'ब्रह्मवित् वरीयान्' उदीर्यते। तस्यामवस्थायां ब्रह्मवेत्तारः पुरुषा अपरानप्युत्थानमार्गमानेतुमधिकारं प्राप्नुवन्ति। बुद्धेः पराकाष्ठाऽस्ति 'ब्रह्मविद्वरिष्टः' अर्थात् ब्रह्मविदः सावस्था यस्यामिष्टः प्रवहति। एवं स्थितिवन्तः महापुरुषाः प्रजानां मूलोद्गमे परमात्मनि प्रविष्टाः स्थिताश्च वसन्ति। एतेषां महापुरुषाणां बुद्धिर्मात्रयन्त्रमस्ति। स एव प्रजापतिः कथ्यते। स प्रकृतेर्द्वन्द्वस्य विश्लेषणं कृत्वाऽऽराधनाक्रियायाः रचनां कुर्वन्ति। यज्ञानुरूपसंस्काराणां प्रदानमेव प्रजायाः रचनास्ति। इतः पूर्वं समाज अचेतावस्थायां तिष्ठति। सृष्टिरनादिरस्ति। संस्काराः पूर्वत एव सन्ति, किन्तु अस्तव्यस्त विकृताः वर्त्तन्ते। यज्ञानुरूपं तेषां रचनैव सुसज्जीकरणमस्ति।

एवंदृशः पुरुषः कल्पादौ यज्ञसहितं प्रजां व्यरचयत्। कल्पोनीरोगं वर्त्तयति। वैद्यः कल्पं करोति, कश्चित् कायाकल्पं करोति। अयं क्षणिकः शारीरिकः कायाकल्पोऽस्ति। वास्तविकःकल्पस्तु तदा भवति, यदा भवरोगान्मुक्तिर्मिलति।

आराधनायाः प्रारम्भोऽस्य कल्पस्य पूर्वपीठिकास्ति। आराधनापूरिताऽभवत् तदा भवतः कल्पोऽपि पूरितः।

अनेन प्रकारेण परमात्मस्वरूपस्थमहापुरुषाः भजनस्यारम्भे यज्ञसहितान् संस्कारान् सुगठितं कृत्वा कथितवन्तः यदनेन यज्ञेन त्वं वृद्धिं प्राप्स्यसि। कीदृशी वृद्धिः? किं मृदानिर्मितं भवनं परिपक्वेष्टिका भवनं भविष्यति? आयस्रोतांसि बर्धिष्यन्ते? नहि, '**यज्ञ इष्टकामधुक्**'– इष्टसम्बद्धानां कामनानां पूर्तिः करिष्यति। इष्टोऽस्ति परमात्मा तस्य परमात्मनः सम्बद्धकामना पूर्तिकरोऽस्ति। प्रश्नः स्वाभाविकोऽस्ति यत् यज्ञः साक्षात् परमात्मप्राप्तिं कारयिष्यत्यथवा क्रमानुसारेण शनैः–शनैः?–

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

अस्य यज्ञस्य माध्यमेन देवानां समुन्नयनं विधेयमर्थाद् दैवीसम्पदः वृद्धिं विधेहि। ते देवाः युष्माकमुन्नयनं करिष्यन्ति। अनेन प्रकारेण परस्परं वृद्धिं कुर्वन् परमश्रेयः प्राप्स्यसि, यदनु किमपि प्राप्तव्यः शेषो न भविष्यति, एतादृशं परमकल्याणं लभस्व। यथा–यथा यज्ञे प्रवेशं करिष्याम्यहम् (अग्रे यज्ञस्यार्थः भविष्यति, आराधनाविधिः) तथा–तथा हृदयदेशे दैवीं सम्पदर्जिता सती स्थास्यति। 'परमदेवः' एकमात्रं परमात्मास्ति, तस्मिन् परमात्मनि प्रवेशदापयित्री या सम्पद् वर्त्तते, अन्तःकरणस्य या सजातीयाः प्रवृत्तिरस्ति, तामेव दैवीसम्पदिति कथयन्ति सिद्धाः। सा परमदेवं प्रापयति, अतएव सा दैवीसम्पद् कथ्यते, न तु वाह्यदेवता प्रस्तरसलिलानि, यथा जनाः कल्पनां कुर्वन्ति। योगेश्वर श्रीकृष्णस्य वक्तव्येषु तेषां न किमप्यस्तित्वम्। अग्रे वदति योगेश्वरः–

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

यज्ञद्वारेण सम्बर्धिताः देवताः (दैवीसम्पद्) भवते '**इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ते**'– इष्टमर्थादाराध्यसम्बद्धभोगान् दास्यन्ते, नान्यत् किमपि। '**तैः दत्तान्**'–

त एवैकमात्रं दातारः। इष्टस्य प्राप्तेः नान्यः कोऽप्यपरो विकल्पः। एतेषां दैवीगुणानां सम्वर्धनंविना ये जना अस्याः स्थितेः, भोगरूपलाभं लभन्ते, ते निश्चयरूपेण चौराः सन्ति। यदाऽसौ प्राप्तवानेव नहि, तर्हि भोक्ष्यसे किम्? किन्तु कथयत्यवश्यमेव यदहं पूर्णोऽस्मि, तत्त्वदर्शी चास्मि। एवं निराधारां घोषणां कर्त्ता अस्मात् पथः मुखस्य तिरोहयिता। स निश्चयेन चौरः, न तु प्राप्तिकर्त्ता। किन्तु प्राप्तिकर्त्तारः किं लभन्ते?–

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

यज्ञादवशिष्टमन्नं भोक्तारः साधुजनाः सर्वेभ्यः पापेभ्यः मुक्ता भवन्ति। दैवीसम्पदः वृद्धिं कुर्वन्–कुर्वन् परिणामे प्राप्तकालएव पूर्तिकालोऽस्ति। यदा यज्ञः सम्पन्नः तदावशिष्टं ब्रह्मएवान्नमस्ति। अमुमेव विषयं श्रीकृष्णः प्रकारान्तरेणोक्तवान्– '**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्**'– यज्ञः यं सृजति तमशनमास्वादयन् ब्रह्मणि प्रविष्टो भवति। अत्र योगेश्वरः कथयति यत् यज्ञावशिष्टाशनं (ब्रह्मपीयूषम्) पानकर्त्तारः जनाः सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तिं लभन्ते। सन्तजनास्तु मुक्ता भवन्ति, किन्तु पापीजनाः मोहस्य माध्यमेनोत्पत्स्यमान शरीरस्य हेतवे स्वयं पाच्यन्ते। ते पापं खादन्ति। ते भजनमपि कृतवन्तः, आराधनामपि ज्ञातवन्तः, अग्रेसरा अपि बभूवुः, किन्तु विनिमये एका मधुरा कामना प्रादुर्भूता यद् '**आत्मकारणात्**'–शरीराय शरीरस्य च सम्बन्धमधिकृत्य किञ्चिदुपलभ्येत्। तस्मै तु मेलिष्यति, किन्तु तावत् भोगानन्तरं स आत्मानं तत्रैव स्थिरं प्राप्स्यति, यतो गमनारम्भः कृतः। इतोऽधिका हानिः का भविष्यति? यदेदं शरीरं नश्वरं, तर्हि अस्य सुखभोगाः कियत्कालं यावत् सहयोगं करिष्यन्ति। आराधनान्तु ते कुर्वन्ति किन्तु विनिमये पापं भुञ्जन्ति– '**पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।**' स तु नश्यति नहि किन्तु अग्रे न बर्धिष्यते। अतएव श्रीकृष्णः निष्कामभावेन कर्म (भजनम्) विधातुं प्रेरयति। इदानीं यावत् श्रीकृष्णः सन्दिष्टवान् यत् यज्ञः परमश्रेयो ददाति, तस्य च रचना महापुरुषाणां माध्यमेन भवति। किन्तु महापुरुषाः प्रजायाः रचनायां किमर्थं प्रवृत्ताः भवन्ति? अत्र कृष्णः कथयति–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

सर्वे प्राणिनो अन्नाद् प्रादुर्भवन्ति। **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्**- अन्नं परमात्मैवास्ति। तं ब्रह्मपीयूषमभिलक्ष्य प्राणी यज्ञोन्मुखमग्रेसरो भवति। अन्नस्य प्रादुर्भावो वृष्ट्या भवति। मेघमण्डलद्वारेण सम्भवावर्षानहि, अपितु कृपावृष्टिः। पूर्वं सञ्चितं यज्ञकर्मैव कृपारूपेण वर्षति। अद्यतनाराधनाश्वः कृपारूपेण मेलिष्यति। एतदेव वृष्टिर्यज्ञाद् भवति। स्वाहा पदस्योच्चारणेन तिलयवादीनां दाहेन वृष्टिश्चेत् सुसम्भवा, तदा विश्वस्याधिकांशतः, मरुभूमयः कथमूषरत्वं लभन्ते? उर्वराः कथं न स्युः? अत्र कृपावृष्टिर्यज्ञानुदानमस्ति। अयं यज्ञः कर्मभिरुत्पन्नोऽस्ति, कर्मभिरेवयज्ञः पूर्णतामेति।

तत्कर्म वेदादुत्पन्नं जानीहि। वेदः ब्रह्मस्थितमहापुरुषाणां वागस्ति। यत् तत्त्वं विदितं नास्ति, तस्य प्रत्यक्षानुभूतेर्नाम वेदोऽस्ति, न तु केषाञ्चित् श्लोकानां सङ्ग्रहः। वेदा अविनाशिनः परमात्मनः समुत्पन्नाञ्जानीहि। उक्तन्तु महात्मभिः किन्तु ते परमात्मनि तद्रूपा बभूवुः। तेषां माध्यमेनाविनाशी परमात्मैव व्याहरति। अतएव वेदा अपौरुषेयाः समुच्यन्ते। महापुरुषाः वेदान् कुतः प्रापुः? वेदस्त्वविनाशिनः परमात्मनः प्रादुर्भूतः। ते महापुरुषाः परमात्मनः स्वरूपाः, ते मात्र यन्त्राणि सन्ति, अतएव तेषां द्वारा स वदति। कुतोहि यज्ञद्वारेणैव मनसः निरोधकाले स विदितो भवति। एतेन सर्वव्यापी परमाक्षरः परमात्मा सर्वदा यज्ञे प्रतिष्ठितोऽस्ति। यज्ञ एव परमात्मानं प्राप्तुमेकमात्रमुपायोऽस्ति। अस्मिन् विषये पुनः प्रेरयति-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

हे पार्थ! ये पुरुषा अस्मिन् लोके मानवशरीरं प्राप्य उक्तप्रकारेण वर्णित साधनचक्रानुसारेण नहि प्रवर्त्तन्ते अर्थाद् दैवीसम्पद् उत्कर्षविधानं, देवतानां

सम्बर्धनम्, परस्परं वृद्धिक्रियामाध्यमेनाक्षयधामस्य प्राप्तिकरणम्–अस्य क्रमस्यानुसारेण यः नाचरणं करोति, इन्द्रियाणि सुखं दातुमिच्छन् 'पापायुपुरुषः' व्यर्थमेव जीवति।

बन्धुजनाः! योगेश्वरः श्रीकृष्णः द्वितीयेऽध्याये कर्मनाम जग्राह, अस्मिन्नध्याये चोक्तवान् यत् नियतकर्मणः आचरणं कुरु। यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। एतदतिरिक्तं यत् किञ्चित् कर्म क्रियते तदस्य लोकस्य बन्धनमस्ति। अतएव सङ्गदोषात् पृथग् भूय तस्य यज्ञस्य पूर्त्तये कर्मण आचरणं कुरु। योगेश्वरः कृष्णः यज्ञस्य विशेषतासु प्रकाशं कृतवानुक्तवांश्च यज्ञस्योत्पत्तिं ब्रह्मणोऽस्ति। प्रजा अन्नमुद्दिश्य तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ताः भवन्ति। यज्ञः कर्मणः, कर्मचापौरुषेयो वेदादुत्पद्यते, यदा हि वेदमन्त्राणां द्रष्टारः महापुरुषा आसन्। एषां पुरुषत्वं तिरोहितमभूत्। प्राप्त्या सहाविनाशी परमात्मैव शेषोऽभवत्। अतएव वेदाः परमात्मन उत्पन्नाः सन्ति। सर्वव्यापीपरमात्मा यज्ञे सर्वदा प्रतिष्ठते। अस्य साधनचक्रानुसारेण यो नहि व्यवहरति, स पापायुः पुरुष इन्द्रियसुखस्येच्छुकोऽस्ति, स व्यर्थं जीवति। अर्थात् यज्ञ एतादृश विधिविशेषोऽस्ति, यस्मिन्निन्द्रियाणि सुखं न लभन्ते अपितु अक्षयसुखस्य लाभो मिलति। इन्द्रियाणां संयमेव साकं यज्ञे प्रवर्त्तितुं विधानमस्ति। इन्द्रियाणां सुखं वाञ्छन्तः जनाः पापायुषः सन्ति। इदानीं यावत् कृष्णः नैतदुपदिष्टवान् यत् यज्ञः किमस्ति? किं तावत् यज्ञविधानं कुर्वन्त एव स्थास्यामोऽथवाऽस्य कदाचिदन्तो भविष्यति? अत उपरि योगेश्वरो ब्रूते–

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

परन्तु योः मनुष्यः, आत्मनि रतः, आत्मतृप्तः, आत्मसन्तुष्टश्चास्ति, तस्य कृते किमपि कर्त्तव्यं नावशिष्यते। एतदेव लक्ष्यमासीत्। यदाव्यक्तः, सनातनः, अविनाशी आत्मतत्त्वं प्राप्तोऽभवत् तदा अग्रे कमन्वेषयानि? एतादृशस्य पुरुषस्य कृते न कर्मण आवश्यकता वर्त्तते, न कस्याप्याराधनायाः। आत्मपरमात्मानौ परस्परं पर्यायवाचिनौ स्तः। अस्यैव पुनश्चित्रणं करोति–

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

अस्मिन् संसारे तेन पुरुषेण क्रियमाण कर्मणा न कोऽपि लाभः, कर्म त्यागेन च न काचिद्धानिः, यदाहि पूर्वमावश्यकमासीत्। तस्य सर्वेषु प्राणिषु कश्चिदपि स्वार्थोः न शेषो भवति। आत्मैव तु शाश्वतः, सनातनः, अव्यक्तः, अपरिवर्तनशीलोऽक्षयश्चास्ति। यदा स एव प्राप्तः, तेनैव सन्तुष्टः, तेनैव तृप्तः, तस्मिन्नेवोतप्रोतः स्थितश्चास्ति, अपरा कापि सत्ता न विद्यते तदा कस्यान्वेषणं करवाणि? प्राप्स्यति किम्? तस्य पुरुषस्य कृते कर्मत्यागेन न कापि हानिः? कुतोहि विकारा यस्मिन् चित्तेऽङ्किता भवन्ति, तच्चित्तमेवनावशिष्टम्। तस्य सम्पूर्णजीवेषु, वाह्यजगति, आन्तरिकसङ्कल्पेषु च न लेशमात्रमपि किमपि प्रयोजनमवशिष्यते। सर्वाधिकं प्रयोजनन्तु परमात्मप्राप्तिरेवासीत्। यदा स उपलब्ध, तदाऽपरेण तस्य किं प्रयोजनम्?

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इमां स्थितिं प्राप्तुं त्वमनासक्तः सन्निरन्तरं '**कार्यं कर्म**'-करणीयं यत् कर्म, तत्कर्मैव सम्यग् रूपेण सम्पादय। कुतोहि, अनासक्तः पुरुषः कर्माचरणेनैव परमात्मानं प्राप्नोति। 'नियतं कर्म', 'कार्यं कर्म' एकमेवास्ति। कर्मणः प्रेरणां ददानः कथयति कृष्णः-

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

जनकस्यार्थो राजाजनको नहि। जन्मदाता जनकः समुच्यते। योगएव जनकोऽस्ति। भवतः स्वरूपं जनयति, प्रकटयति। योगेनयुक्तः प्रत्येकं महापुरुषो जनकोऽस्ति। एतादृशः योगसंयुक्ता बहवो ऋषयः '**जनकादयः**'- जनकादि ज्ञानिनः पुरुषा अपि '**कर्मणा एव हि संसिद्धिम्**' कर्मद्वारैव परमसिद्धिंप्राप्नुयुः। परमसिद्धेस्तात्पर्यं परमतत्त्व परमात्मनः प्राप्तिः। जनकादयो यावन्तः पूर्ववर्तिनः ऋषयः प्रादुरभवन्, अस्य 'कार्यं कर्म' द्वारेण या यज्ञस्य प्रक्रियाऽस्ति, तत्कृत्वैव

'संसिद्धिम्'- परमसिद्धिं प्राप्तवन्तः। किन्तु प्राप्तेरनन्तरं महापुरुषाः, लोकसंग्रहं समीक्ष्य कर्म कुर्वन्ति, लोकहितं वाञ्छन्तः कर्म कुर्वन्ति। अतस्त्वमपि प्राप्त्यनन्तरं लोकनायकत्वं प्राप्तुं कर्मविधानाय योग्योऽसि। कथम्?—

इतः पूर्वमधुनैव श्रीकृष्णेनोद्घोषितं यत् प्राप्तेरनन्तरं महापुरुषाश्चेत् कर्म कुर्वन्ति तेन कर्मणा न च लाभो न च हानिः। पुनरपि **'लोकसंग्रहः'**- लोकहितव्यवस्थार्थं सम्यग् रूपेण नियतकर्मणः कुर्वन्त्याचरणम्।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठपुरुषाः यत् यदाचरणं कुर्वन्ति, तदनुसारेणापरेजना अपि समाचरन्ति। स महापुरुषः प्रमाणरूपेण यत् प्रस्तौति निखिलं जगत्तस्यानुसरणं करोति।

पूर्वन्तु श्रीकृष्णः स्वरूपे स्थितस्य आत्मतृप्तस्य महापुरुषस्य दिनचर्योपरि प्रकाशमकरोत् यन्महापुरुषाणां कर्मविधानेन न कोऽपि लाभः, कर्मत्यागेन न काऽपि क्षतिः, पुनरपि जनकादयः कर्मणि सम्यग् प्रकारेण रताः स्युः। तत्रैव तैर्महापुरुषैः सह श्रीकृष्णः स्वं तुलयति, प्रमाणयति च यदहमपि महापुरुषोऽस्म्येकः।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

हे अर्जुन! ममद्वारा करणीयं कार्यं त्रिषुलोकेषु न विद्यते। इतः पूर्वं कथितं कृष्णेन, तेषु महापुरुषभूतेषु न किमपि कर्त्तव्यं शेषायते। अत्र कथयति कृष्णः— त्रिषुलोकेषु ममद्वारा करणीयं किमपि कार्यं नावशिष्टम् तथा किञ्चिन्मात्रमपि प्राप्तव्यं वस्तुसुदुर्लभं नास्ति। तदाऽपि सम्यक् प्रकारेण कर्मणि वर्त्ते। किमर्थम्?—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

कुतोहि चेत् ससावधानः कदाचित् कर्मणि नाहं वर्ते तदा सर्वः समाजो ममानुकरणं कृत्वा कर्मविरतो भविष्यति। किं भवतामनुकरणमसमीचीनम्? कथयति कृष्णः, आम्!

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

यद्यहं ससावधानं कर्म न करवाणि, तदायं सम्पूर्णो लोको भ्रष्टतां प्राप्नुयात्, अहञ्च '**सङ्करस्य**'– वर्णसङ्करस्य प्रवर्त्तको भवन् सन् समस्तप्रजायाः प्रध्वंसको विनाशकश्च भवेयम्।

स्वरूपे स्थिता महापुरुषाश्चेत् सतर्कमाराधनाक्रमे संलग्ना न भवेयुः, तर्हि समाजस्तस्यानुकरणं कृत्वा परिभ्रष्टो भविष्यति। महापुरुषस्तु कृताराधनो नैष्कर्म्यस्य स्थितिं प्राप्तवान्। ते कर्म न कुर्युस्तदा तेषां कृते न काऽपि हानिः, किन्तु समाजस्तु साम्प्रतं यावदाराधनायाः प्रारम्भमेव नाकरोत्। पृष्ठानुवर्तिनां मार्गदर्शनार्थं महापुरुषाः कर्म कुर्वन्ति, अहमपि करोमि अर्थात् श्रीकृष्ण एको महापुरुष आसीत्, न तु वैकुण्ठादवतरितः कश्चिद् विशिष्टो भगवान्। स उक्तवान् यत् महापुरुषो लोकसंग्रहार्थं कर्म करोति, अहमपि करोमि। यदि न करवाणि तदा लोकस्य पतनं भविष्यति, सर्वे कर्मत्यागं करिष्यन्ति।

अतीव चञ्चलं मनः। इदं सर्वं समीहते, केवलं भजनं नेच्छति। यदि स्वरूपस्था महापुरुषाः कर्म न कुर्युः, तदानुकरणविधिना पृष्ठानुवर्तिनस्त्वरितं कर्मत्यागं करिष्यन्ति। व्याजबुद्ध्या ते जानीयुः, यदिमे भजनं न कुर्वन्ति, ताम्बूलं चर्वन्ति, परिमलं घर्षन्ति, सामान्यरूपेण वार्तालापं कुर्वन्ति पुनरपि महापुरुषरूपेण मान्यतां लभन्ते– इत्थं चिन्तयित्वा ते समाराधनातः पराङ्मुखा भवन्ति पतन्ति च। श्रीकृष्णः कथयति–यद्यहं कर्म न कुर्यां तदा सर्वे भ्रष्टा भविष्यन्ति। अहमपि वर्णसङ्करस्य कर्त्ता भवेयम्।

नारीणां दूषिते वर्णसङ्करता तु दृष्टिपथायते श्रुतिपथायते च। अर्जुनोऽप्यस्माद्भयात् बहुविकल आसीत् यत् स्त्रियो दूषिता भविष्यन्ति तदा वर्णसङ्कराः सन्ततयः प्रादुर्भविष्यन्ति, किन्तु श्रीकृष्णः कथयति– यद्यहं सावधानतापूर्वकमाराधनायां संलग्नो न भवामि तदा वर्णसङ्करस्य कर्त्ता स्याम्। वस्तुतस्त्वात्मनो वर्णः शुद्धोऽस्ति– परमात्मा। स्वशाश्वतस्वरूपपथात् भ्रान्तता वर्णसङ्करताऽस्ति। यदि स्वरूपस्थ महापुरुषः क्रियायां न प्रवर्त्तते, तदा

जनास्तेषामनुकरणे क्रियारहिता भविष्यन्ति, आत्मपथो विचलिता भविष्यन्ति। ते प्रकृतौ लुप्ता भविष्यन्ति।

नारीणां सतीत्वस्यैवं विशेषजातिवर्गस्य (नस्लस्य) शुद्धतैका सामाजिकी व्यवस्थाऽस्ति, अधिकाराणां प्रश्न उदेति। समाजस्य कृते तस्योपयोगिताऽपि वर्त्तते, किन्तु मातुर्पितुश्च विस्मृतेः सन्तानस्य साधनोपरि न कोऽपि प्रभावः समापतति। '**आपन करनी पार उतरनी।**' हनुमान्, व्यासः, वशिष्ठः, नारदः, शुकदेवः, कबीरः, ईसेत्यादिश्रेष्ठ महापुरुषाः बभुवुः, यदाहि सामाजिककुलीनतया तेषां सम्बन्धो नास्ति। आत्मास्वकीयपूर्वजन्मनो गुणधर्मौ समादायागच्छति। श्रीकृष्णः कथयति– '**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।**' (१५/७) मनसासंयुक्तेन्द्रियद्वारेण यत् कार्यमस्मिन् जन्मनि निष्पद्यते, पूर्वतन संस्कारमादाय जीवात्मा प्राचीनानि शरीराणि सन्त्यज्य नूतने शरीरे प्रविशति। अस्मिन् सन्दर्भे जन्मदातुर्मातुः पितुश्च किं दायित्वम्? तेषां विकासे न कोऽप्यन्तरालो दृश्यते। अतोहि नारीणां दूषिते सति वर्णसङ्करता न समायाति। नारीणां दूषणतया वर्णसङ्करस्य न कोऽपि सम्बन्धः। शुद्धस्वरूपमभिलक्ष्याग्रसरो न भूत्वा प्रकृतावेव भ्रमणं वर्णसङ्करोऽस्ति।

यदि महापुरुषाः सावधानतया क्रियासु (नियतकर्मणि) प्रवर्तमाना भवन्तः क्रियां न कारयेयुस्तदा ते समस्त प्रजासमूहस्य हननकर्त्तारो घातकाश्च भवेयुः। साधनक्रमे चलित्वा तस्य मूलाविनाशिनः प्राप्तिरेव जीवनमस्ति, प्रकृतौ च लक्ष्यच्युत भ्रमणमेव मृत्युरस्ति। किन्तु स महापुरुष इमां सकलां प्रजां चेत् क्रियापथे न चालयति, सकलां प्रजां पथच्युतितः सन्निवार्यसन्मार्गोपरि न चालयति, तदाऽसौ समस्त प्रजायाः हत्याकर्त्ताऽस्ति, हिंसकोऽस्ति। क्रमश्चलतो यश्चालयति सः शुद्धाहिंसको भवति। गीतानुसारेण शरीरस्य निधनं, नश्वरकलेवरस्य निधनं मात्र परिवर्तनमस्ति न तु हिंसा।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्।।२५।।

हे भारत! कर्मण्यासक्ता अज्ञानीजनाः यथा कर्मकुर्वन्ति, तथैव

कर्मण्यनासक्ता विद्वांसः पूर्णज्ञातारोऽपि लोकहृदये प्रेरणां कल्याणसंग्रहञ्च वाञ्छन्तः कर्मकुर्युः। यज्ञस्य विधिं जानानः कुर्वन्तश्चापि वयमज्ञानिनः। ज्ञानस्यार्थोऽस्ति प्रत्यक्षमवबोधः। यावल्लेशमात्रमपि मम पृथकता वर्त्तते, तावदाराध्योऽपि पृथगेव, तदानीं यावदज्ञानस्य विद्यमानता। यावदज्ञानमस्ति, तावत्कर्मण्यासक्तिरवतिष्ठते। अज्ञानीजनः यावत्यासक्त्याराधनां करोति, तथैवानासक्तोऽपि। यस्य कर्मणा प्रयोजनमस्त्येव न, तदासक्तिः कथं भविष्यति। एतादृशः पूर्णज्ञो महापुरुषोऽपि लोकहिताय कर्म कुर्यात्, दैवीसम्पद उत्कर्षं विदधीत्, यथा समाजस्तमनुसरेत्।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

ज्ञानी पुरुषाणां कर्त्तव्यमस्ति यत्ते कर्मण्यासक्तानामज्ञानीजनानां बुद्धौ भ्रमं नोत्पादयेयुः अर्थात् स्वरूपस्था महापुरुषाः ध्यानं दद्युः यत्तेषां केनाप्याचरणेन पृष्ठानुवर्त्तिनां जनानां मनसि कर्मप्रत्यश्रद्धा नोत्पद्येत्। परमात्मतत्त्वयुक्तस्य महापुरुषस्य कर्त्तव्यमस्ति यत् स्वयं सम्यग् रूपेण नियतं कर्म कुर्वन् तैरपि कर्मकारयेयुः।

इदमेवासीत् कारणं यत् 'पूज्यमहाराजाः' वृद्धावस्थायामपि रात्रेः द्विवादने उत्थाय कांसितुमारभत्, त्रिवादनतः वदितुं प्रारभन्ते स्म-उत्तिष्ठतः, मृत्तिकापुत्तलाः। सर्वे समुत्थाय चिन्तने लगन्ति स्म, तदा तु स्वयं किञ्चित्कालाय शयनं कुर्वन्ति स्म। कियत्कालानन्तरं पुनरुत्थाय तिष्ठन्ति स्म। कथयन्ति स्म- "यूयं विचारयथ, यन्महाराजः शेते किन्तु नाहं स्वपामि, श्वासे लीनोऽस्मि। वृद्धावस्थायाः शरीर-मस्ति, उपवेशने कष्टं भवति, एतस्मादेवाहं शयानोऽस्मि किन्तु युष्माभिःस्थिररूपेण ऋज्वासनेन चोपविश्य चिन्तनेरन्तव्यम्। यावत् तैलधारावत् श्वासस्य तन्त्री संलग्ना न भवेत्, क्रमभङ्गो न भवेत्, अन्ये सङ्कल्पाः मध्ये व्यवधानोत्पादनं कर्त्तुं न शक्नुयुः, तावत् सततं संलग्नता विधानं साधकस्य धर्मोऽस्ति। मम श्वासस्तु वेणुवत् स्थिरा वर्त्तते।" एतदेवकारणमस्ति यदनुयायिभिः कर्मकारयितुं स महापुरुषोऽपि सम्यग् रूपेण कर्मणि प्रवर्त्तते। "**जिस गुन को गावै, करके उसे दिखावै।**" इत्थं स्वरूपस्थ महापुरुषाणां कर्त्तव्यमस्ति, यत् स्वयं

कर्मकुर्वाणाः साधकानामप्याराधनायां नियोजयेयुः। साधका अपि श्रद्धापूर्वकमाराधनायां रताः स्युः; किन्तु ज्ञानयोगी स्यादथवा समर्पितभाव निष्कामकर्मयोगी भवेत्, साधके साधनाया अहङ्कारो नाङ्कुरेत्। कस्य माध्यमेन कर्माणि भवन्ति, तस्य विधाने किमस्ति कारणम्? अत उपरि श्रीकृष्णः करोति प्रकाशम्–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

आरम्भतः समाप्तिपर्यन्तं कर्माणि प्रकृतेर्गुणैर्निष्पाद्यन्ते। पुनरप्यहङ्काराक्रान्तो मूढो पुरुषः 'अहं कर्तास्मि' इत्थं मन्यते। इदं कथं कल्पयेत् यदाराधनाप्रकृति गुणानां द्वारेण भवति? इत्थं कः ददर्श? इत उपरि कथयति कृष्णः–

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

हे महाबाहो! गुणकर्मणोर्विभागम् '**तत्त्ववित्**'–परमतत्त्वपरमात्मज्ञातारः महापुरुषा अपश्यन्। सम्पूर्णगुणाश्च गुणेषु वर्त्तन्ते–इत्थं मत्वा ते गुणकर्मणोः कर्त्तृत्वे आसक्ता न भवन्ति।

अत्र तत्त्वस्यार्थः परमतत्त्वपरमात्मास्ति न तु पञ्चविंशति तत्त्वानि यथा जनाः गणयन्ति। योगेश्वरः श्रीकृष्णस्योपदेशे तत्त्वमेकमात्र परमात्माऽस्ति। नापरं किमपि तत्त्वम्। गुणान् पारयित्वा परमतत्त्व परमात्मनि स्थितः महापुरुषः गुणानुसारेण कर्मविभाजनं पश्यति। तमोगुणो भविष्यति यदा, तदा तस्य कार्यं भविष्यति– आलस्यं, निद्रा, प्रमादः, कर्मणि प्रवृत्तेः, पलायनस्य स्वभावः। राजसीगुणाः स्थास्यन्ति चेत्तदाराधनायां प्रवृत्तिः, शौर्यं, स्वामीभावयुतं कर्म भविष्यति। सात्विकगुणस्य च कार्यरते सति ध्यानं, समाधिः, अनुभवोपलब्धिः, धारावाहिकचिन्तनं सरलता च स्वभावे समायाति। गुणः परिवर्तनशीलोऽस्ति। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानीपुरुषएव द्रष्टुं शक्नोति यत् गुणानुरूपं कर्मणामुत्कर्षमपकर्षञ्चापि भवति। गुणाः स्वकार्यं कारयन्ति, अर्थात् गुणाः गुणेषु वर्तन्ते– इत्थं बुद्ध्वा स

प्रत्यक्षद्रष्टा कर्मण्यासक्तो न भवति; किन्तु ये गुणं लङ्घितुं नाशक्नुयुः, ये साम्प्रतं पथ्येव वर्त्तन्ते तैः कर्मण्यासक्तत्वेन भवितव्यम्। अतएव–

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

प्रकृतिगुणैर्मोहिताः पुरुषाः गुणकर्मणोर्मध्यतः क्रमशः निर्मलगुणेषु प्रोन्नतिं दृष्ट्वा तेष्वासक्ता भवन्ति। तान् सम्यग् बोधवञ्चितान् '**मन्दान्**'- शिथिलप्रयत्नयुतान् जनान् सम्यगवबोद्धारः ज्ञानीजनाः चलायमानं न कुर्युः। तान् हतोत्साहितान् न कुर्युः प्रत्युत् प्रोत्साहनं दद्युः। कुतोहि कर्मकृत्वैव तैः नैष्कर्म्यस्य स्थितिः प्राप्तव्यास्ति। स्वशक्तिस्थित्योराकलनं कृत्वा कर्मणि प्रवर्तमानानां ज्ञानिनां साधकानामस्तिकर्त्तव्यं यत् कर्माणि गुणानामनुदानं मन्येयुः, आत्मानं कर्त्तारं मत्वाऽहङ्कारिणो न भवेयुः, निर्मलगुणानां प्राप्तावपि तेष्वासक्तो न स्युः। किन्तु निष्कामकर्मयोगिनां कृते कर्मगुणयोः विश्लेषणे समयप्रदानस्य न काप्यावश्यकता। तेन तु समर्पणेन सह कर्मकरणीयमस्ति। कः गुणः आयाति, कश्च याति, एतदवलोकमिष्टस्य दायित्वमस्ति। गुणानां परिवर्तनं क्रमानुक्रमेणोत्थानं स इष्टावदानं ज्ञेयम्, कर्म सम्पादनञ्चापि तस्यावदानं मन्तव्यम्। अतः कर्त्तृत्वस्याहङ्कारस्य वाथवा गुणेष्वासक्ति सम्भावनायाः समस्या तदर्थं न भवति, यदाहि स अनवरतं संलग्नो भवति। इत उपरि युद्धस्य स्वरूपं वर्णयन् श्रीकृष्णः कथयति–

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

अतएवार्जुन! त्वम् '**अध्यात्मचेतसा**'– अन्तरात्मनि चित्तस्य निरोधनं कृत्वा, ध्यानस्थो भूत्वा, सर्वाणि कर्माणि मयि समर्प्य, निराशः सन्, ममतारहितः सन्, सन्तापरहितो भूत्वा युद्धं कुरु। यदा चित्तं ध्याने स्थितमस्ति, लेशमात्रमपि नाशाप्रभावः, न कर्मणि ममत्वम्, नासफलतायाः सन्तापः, तदा स पुरुषः कीदृशं युद्धं करिष्यति? यदा सर्वतश्चितं समाहृत्य हृदयदेशे निरुद्धोभवन् प्रतीयते तदा स किमर्थं युद्धं करिष्यति, केन करिष्यति, तत्रास्ति कः? वस्तुतः यदा

भवान् ध्याने प्रवेशं करिष्यति तदैव युद्धस्य वास्तविकं स्वरूपं प्रत्यक्षमायाति, तदा कामक्रोधौ, रागद्वेषौ, आशातृष्णेत्यादीनां विकाराणां समूहः, विजातीयाः प्रवृत्तयः याः 'कुरु' कथ्यन्ते, संसारे प्रवृत्तिं ददानाः वर्त्तन्ते। बाधारूपेण भयङ्करमाक्रमणं कुर्वन्ति। अलमेतेषां पारङ्गमनमेव युद्धमस्ति। एतान् निर्मूलयन् सन् अन्तरात्मनि विलीनीकरणम्, ध्यानस्थी भवनमेव यथार्थयुद्धमस्ति। इत उपरि पुनः बलमर्पयति कृष्णः-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

अर्जुन! यः कश्चित् मनुष्यो दोषदृष्टिमुक्तो भूत्वा, श्रद्धाभावसमर्पण- युतो भूत्वा, सदा ममोक्त मतानुसारेण प्रवर्त्तते यत् 'युद्धं कुरु' ते पुरुषा अपि सम्पूर्णकर्मभिर्मुक्ता भवन्ति। योगेश्वरस्येदमाश्वासनं कस्मैचित् हिन्दवे, मुसलमानाय, ईसाईजनाय नास्ति प्रत्युत् मानवमात्रहितायास्ति। तस्य मतमस्ति युद्धं कुरु! एतेनैतत् प्रतीयते, यदयमुपदेशो युद्धकामेभ्य आसीत्। अर्जुनस्य समक्षं सौभाग्यतः विश्वयुद्धस्यायोजनमासीत्, भवतः समक्षन्तु न किमपि युद्धमस्ति। भवान् गीताया उपदेशानुश्रवणे कथं सन्ति संलग्नाः, कुतोहि कर्मणो मुक्तेरुपायं तु युद्धकर्त्तॄणां कृते एवास्ति; किन्तु नैतत् किमपि। वस्तुत इदं युद्धमन्तर्देशस्यास्ति। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः, विद्याविद्ययोः, धर्मक्षेत्रकुरुक्षेत्रयोः संघर्षोऽस्ति। भवान् यथा-यथा चित्तस्य निरोधं करिष्यति, विजातीय प्रवृत्तयः बाधारूपेण प्रत्यक्षमायान्ति, भयङ्करमाक्रमणं कुर्वन्ति। तस्य शमनं कुर्वन् चित्तस्य निरोधनमेव युद्धमस्ति। यः दोषदृष्टिविरहितः सन् श्रद्धया सहास्मिन् युद्धे प्रवृत्तो भवति, स कर्मबन्धनात्, जन्ममरणात् सम्यक् प्रकारेणावकाशं प्राप्नोति। योऽस्मिन् युद्धे प्रवृत्तो न भवति, तस्य का गतिर्भवति? अत उपरि कथयति कृष्णः-

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

ये दोषदृष्टिवन्तः '**अचेतसः**'- मोहनिशायामचेताः जनाः ममास्य मतानुसारं न वर्त्तन्ते, अर्थात् ध्यानस्थो भूत्वा आशाममतासन्तापमुक्तो भूत्वा ससमर्पणं

युद्धं न कुर्वन्ति '**सर्वज्ञानविमूढान्**'- ज्ञानपथे सर्वथा मोहितान् जनान् त्वं कल्याणाद् भ्रष्टानवगच्छ। यदेदं सत्यमस्ति, तदा जनाः कथं न कुर्वन्ति? अत उपरि ब्रवीति कृष्णः-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

सर्वे प्राणिनः स्वप्रकृतिं प्राप्नुवन्ति, स्वभावपरवशो भूत्वा कर्मणि भागं- लभन्ते। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानीजनोऽपि स्वप्रकृत्यनुसारेण चेष्टाङ्करोति। प्राणिनः स्वकर्मणि वर्त्तन्ते ज्ञानिनश्च स्वस्वरूपे। यथा यस्य प्रकृतेः प्रभावोऽस्ति तद्वदेव स कार्यङ्करोति, इदं स्वयं सिद्धमस्ति। अत्र निराकरणं कोऽपि किं करिष्यति? इदमेवास्ति कारणं यत् सर्वे जनाः मम मतानुसारेण प्रवर्तितुं न सक्षमाः। ते आशाममतासन्तापरागद्वेषाणां च त्यागं कर्त्तुं न क्षमन्ते, येन कर्मणः सम्य- गाचरणं न पूर्यते। इदमेवाधिकं स्पष्टयन् द्वितीयं कारणं वदति-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

इन्द्रियेषु तथेन्द्रियभोगेषु च रागद्वेषौ स्थितौ विद्येते। अनयोर्वशे न स्थातव्यम्, कुतोहि अस्मिन् कल्याणमार्गे कर्ममुक्तिप्राप्तिकारिकायां प्रणाल्यामिमे रागद्वेषादयश्च शत्रवः सन्ति। आराधनाया अपहरणं कुर्वन्तीमे। यदा शत्रवोऽन्तराले वर्त्तन्ते तदा वाह्ये कस्केन किमर्थं योत्स्यते? शत्रवस्त्विन्द्रिय भोगयोः संसर्गे सन्ति, अन्तःकरणे वर्त्तन्ते। अत इदं युद्धमप्यन्तःकरणस्य युद्धमस्ति, कुतोहि शरीरमेव क्षेत्रम्, यस्मिन् सजातीय विजातीय द्विविधाः प्रवृत्तयः अविद्या विद्या च निवसतः। ये मायायाः द्वेऽङ्गे स्तः। एतासां प्रवृत्तीनां पारकरणम्, सजातीय प्रवृत्तिं संसाध्य विजातीय प्रवृत्तेः समाप्तिकरणमेव युद्धमस्ति। विजातीय प्रवृत्तेः समापनान्ते सजातीयस्योपयोगः समाप्तो भवति। स्वरूपस्य स्पर्शं कृत्वा सजातीयस्यापि विलयः। इत्थं प्रकृतेः पारङ्गमनं युद्धमस्ति, यद् ध्याने सम्भवोऽस्ति।

रागद्वेषयोः समापने समयो याति। अतएव बहवः साधकाः क्रियां विहाय

सहसा महापुरुषाणामनुकरणं कर्त्तुमारभन्ते। योगेश्वरः कृष्णः अस्मात् समाधानं करोति–

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

एकः साधकः दशवर्षपूर्वमेव साधनायामस्ति संलग्नोऽपरस्त्वद्यैव साधनायां प्रविशति। उभयोः क्षमते न समाने भविष्यतः। प्रारम्भिकः साधकः यदि अपरस्य साधकस्यानुकरणं करोति, तर्हि स विनश्यति। अत उपरि श्रीकृष्णः ब्रूते यत् सम्यक् प्रकारेण परिपालितस्याचरितस्य चान्यधर्मापेक्षया गुणहीनोऽपि स्वधर्म अधिकोत्तमः। स्वभावतः समुत्पन्न कर्मणि प्रवृत्तेः क्षमतैव स्वधर्मः समुच्यते। स्वक्षमतानुसारेण कर्मणि प्रवृत्तौ जाते सति साधक एकस्मिन् दिने पारयिष्यति। अतः स्वधर्माचरणे मरणमपि कल्याणकारकं भवति। यतः साधनं वञ्चितो भविष्यति, प्राप्ते शरीरे तत एव पुनः प्रारम्भो भविष्यति। आत्मा तु म्रियते नहि। शरीरस्य वस्त्रपरिवर्तनेन भवतः बुद्धिविचाराश्च न परिवर्तन्ते। उत्तरवर्तिनामिवाभिनयेन साधको भयं प्राप्स्यति। भयन्तु प्रकृतौ जायते, न तु परमात्मनि। प्रकृतेरावरणञ्चात्यधिकं सघनं भविष्यति।

अस्मिन् भगवत्पथे अनुकरणस्य बाहुल्यमस्ति। 'पूज्यमहाराजाः' एकदा आकाशवाणीमश्रौषीत् यत् 'अनुसुइया' गत्वा निवासं विधेहि, तदा जम्मूतः चित्रकूटमाययौ अनुसुइयायाश्च घोरे कान्तारे निवासं कर्त्तुमारेभे। अनेके महात्मानस्तेन पथा गतागतं कुर्वन्ति स्म। एकेनावलोकितं यत् परमहंसः दिगम्बरः नग्नः निवसति, तस्य सम्मानमस्ति, तदा त्वरितमसौ महात्मा कौपीनं प्रक्षिप्तवान्, दण्डकमण्डलुञ्चेकस्मिन् काले एकस्मै महात्मने प्रदाय स्वयमपि दिगम्बरो बभूव। किञ्चित् कालानन्तरं समागत्यावलोकितवान् यत् परमहंसः सामान्यैः जनैः साकं वार्तालापं करोति, अपशब्दं (गाली) प्रदानञ्चापि विदधाति। महाराजम् आदेशोऽमिलत् यद् भक्तानां कल्याणाय किमपि ताडनापि देया, अस्य पथः पथिकानामुपरि निरीक्षणं कार्यम्। महाराजस्यानुकरणं कृत्वाऽसावपि गाली प्रदानं कर्त्तुमारब्धवान्, किन्तु जनास्तत् प्रतीकाररूपेण किञ्चित् किञ्चिदपि प्रयुज्यन्ते स्म। महात्मा उदीरितुमारेभे तत्र न कोऽपि किमपि वदति स्म, अत्र तु प्रत्युत्तरं यच्छन्ति।

एकद्वि वर्षानन्तरं परावृतस्तु दृष्टवान्, परमहंसः तूलगर्भासनमलङ्करोति, जनाः व्यजनं चालयन्ति, चँवरं दोलयन्ति। सोऽपि काननस्यैवैकं तख्ताभिधानं काष्ठासनमानयत् तूलगर्भासनञ्च व्यस्तारयत्, अनुचरद्वयं व्यजनचंवरयोश्चालनाय नियोजितवान्। प्रतिसोमवासरे मेला लगितुं प्रारम्भोऽभवत् यत् कश्चित् पुत्रं कामयेत् तर्हि पञ्चाशत् रूप्यकाणि दद्यात्, कन्यां कामयेत् चेत् विंशतिरूप्यकाणि यच्छेत्। किन्तु '**उघरे अन्त न होहिं निबाहू**' एकस्मिन्नेव मासानन्तरे वराटिका द्वयस्य मूल्यं प्राप्य प्रस्थितः। अस्मिन् भगवत्पथे अनुकरणं न चलति, साधकेन स्वधर्मानुचरणमेव समाश्रयणीयम्।

किमस्ति स्वधर्मः? द्वितीयेऽध्याये श्रीकृष्णः स्वधर्मस्य नाम जग्राह यत् स्वधर्ममपि दृष्ट्वा त्वं युद्धं कर्त्तुं योग्योऽसि। क्षत्रियस्य कृते एतदधिकं कल्याणकरं मार्गं न विद्यते। स्वधर्मे अर्जुनः क्षत्रियरूपेण प्राप्यते। सङ्केतं दत्तवान् यद् अर्जुन! योऽस्ति ब्राह्मणः, वेदोपदेशस्तेषां कृते क्षुद्रजलाशयतुल्योऽस्ति। त्वं वेदादुपरि चर, ब्राह्मणो भवार्थात् स्वधर्मे परिवर्तनं सम्भवमस्ति। तत्र पुनरुक्तवान्– रागद्वेषयोः वशे माभूः, एनं छिन्धि। स्वधर्म श्रेयस्करोऽस्ति–अस्यायमाशयो नास्ति यदर्जुनः ब्राह्मणस्य अनुकरणं कृत्वा तद्वत् वेशभूषां रचयेत्।

एकमेव कर्मपथं महापुरुषः श्रेणीचतुष्टयेषु विभाजितवान्– निकृष्टः, मध्यमः, उत्तमः, अत्युत्तमश्च। एतच्छ्रेणीसाधकानां कृते क्रमशः शूद्रः, वैश्यः, क्षत्रियः, ब्राह्मणः इति संज्ञां दत्तवान्। शूद्रश्रेणीक्षमताતः कर्मारम्भो भवति, साधनक्रमे च स एव साधकः ब्राह्मणत्वमाप्नोति। अतोऽप्यग्रे यदा स परमात्मनि प्रवेशं लभते तदा '**न ब्राह्मणो न क्षत्रियो न वैश्यो न शूद्रः, चिदानन्दरूपः शिवः केवलोऽहम्।**' स वर्णादुपरि प्रतिष्ठितो भवति। एतदेव श्रीकृष्णोऽपि कथयति यत् '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**'– चतुर्णां वर्णानां मया रचना कृता। तर्हि किं जन्माधारेण मनुष्यान् विभाजितवान्? नहि, '**गुणकर्म विभागशः**'– गुणानामाधारेण कर्मविभाजनं कृतम्। कीदृशं तत्कर्म? किं सांसारिकं कर्म? श्रीकृष्णः कथयति–'नियतं कर्म'। किमस्ति नियतं कर्म? तदस्ति यज्ञस्य प्रक्रिया। यस्मिन् भवति श्वासस्य प्रश्वासे हवनम्, प्रश्वासस्य श्वासे हवनम्, इन्द्रियसंयमादयः। यस्य शुद्धार्थोऽस्ति– योगसाधनाराधना। आराध्यदेवं यावत् प्रापयित्री विधि–

विशेषएवाराधना समुच्यते। एतदाराधना कर्मैव श्रेणीचतुष्टयेषु विभाजितम्। यादृश क्षमतायुक्तो पुरुषो भवेत् तं तच्छ्रेणीत आरम्भः करणीयः- एतदेव सर्वेषां स्वकः स्वकः स्वधर्मोऽस्ति। यदि सोऽग्रेवर्तिनामनुकरणं करिष्यति, तदा भयं लप्स्यते। सर्वथा तु नष्टो न भविष्यति, कुतोह्यस्मिन् बीजनाशस्तु न भवति। आम्, स प्रकृतिप्रभावतो भयाक्रान्तः दयनीयश्चावश्यं भविष्यति। शिशु कक्षायाः छात्रः स्नातककक्षायां पठितुमारभेत् चेत् तदा किं स्नातको भवितुं शक्ष्यति? स प्रारम्भिकवर्णमालाज्ञानतोऽपि वञ्चितो भविष्यति। अर्जुनः प्रश्नं करोति यन्मनुष्यः स्वधर्मस्याचरणं कस्मात् नहि कर्तुं पारयति?–

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

श्रीकृष्ण! पुनरयं पुरुषः बलादाकृष्य प्रवृत्तवदनिच्छन्नपि कस्य प्रेरणया पापमाचरति? भवतः मतानुसारेण कथं न चलितुं पारयति? अत उपरि श्रीकृष्णः ब्रूते–

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

अर्जुन! रजोगुणादुत्पन्नोऽयं कामः, क्रोधश्च अग्निवत् भोगानां भोगे न कदापि तृप्तिमवाप्नुवन् घोरपापिनौ स्तः। कामक्रोधौ, रागद्वेषयोः पूरकौ स्तः। साम्प्रतमेव मया यस्य चर्चाकृतासीत्, अस्मिन् विषये त्वं तौ द्वौ शत्रू अवबुध्यस्व। साम्प्रतमेतयोः प्रभावं वर्णयति–

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

येन प्रकारेण धूमादग्निः, मलाद् दर्पणं पिहितं भवति, यथा जेरेणावृतः गर्भगतः शिशुः पिहितो भवति, तद्वत् कामक्रोधादि विकारैरिदं ज्ञानं पिहितमस्ति। आर्द्रं काष्ठं प्रज्वलिते सति धूम्रमेव धूम्रं जनयति। काष्ठे स्थितोप्याग्निः

ज्वालाशिखारूपं न दधाति। मलपिहित दर्पणे यथा प्रतिबिम्बः न स्पष्टायते, झिल्ल्यावरणेन यथा गर्भो आवृतो भवति, तथैव विद्यमानेष्वेतेषु विकारेषु परमात्मनः प्रत्यक्षं ज्ञानं न भवति।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

कौन्तेय! अग्निवत् भोगैरतृप्तः, ज्ञानिनां सहज वैरिणा पूर्वोक्तेन कामेन ज्ञानं पिहितमस्ति। साम्प्रतन्तु श्रीकृष्णेन कामक्रोधौ द्वौ वैरिणौ वर्णितौ। प्रस्तुत–श्लोके स केवलमेकस्य शत्रोः कामस्य नाम गृह्णाति। वस्तुतः कामे क्रोधोऽन्तर्भवति। सम्पन्ने कार्ये क्रोधः समाप्तो भवति, किन्तु कामना न कदाऽपि समाप्तिं गच्छति। कामनापूर्तावागते व्यवधाने क्रोधः पुनः जागर्ति। कामस्यान्तराले क्रोधोऽपिनिहितोऽस्ति। अस्य शत्रोर्निवासः क्वास्ति? कुत अस्य भवेदन्वेषणम्? ज्ञाते सति निवासे अमुं समूलं विनष्टं कर्त्तुं सुविधालाभो भविष्यति। अत उपरि कृष्णः कथयति–

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिश्चास्य निवासस्थाने कथ्येते। अयं कामः मनो–बुद्धीन्द्रियद्वारेण ज्ञानमाच्छाद्य जीवात्मानं मोहगर्ते पातयति।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

अतएवार्जुन! त्वं पूर्वमिन्द्रियाणि '**नियम्य**'– संयतङ्कुरु, कुतोहि शत्रुस्त्वस्यान्तराले लुक्कायितोऽस्ति। स त्वच्छरीरान्तराले वर्तते। बहिरन्वेषणेन स कुत्रापि न मेलिस्यति। अयं हृदयदेशस्य, अन्तर्जगतः संग्रामोऽस्ति। इन्द्रियाणि वशे कृत्वा ज्ञानविज्ञानयोः प्रध्वंसकमेतं पापिनं कामं मारय। कामस्तु ऋजु–रूपेण नियन्त्रणे नागमिष्यति। अतः विकाराणां निवासस्थानोपरि एवाक्रमणं कुरु, इन्द्रियाणि संयतं विधेहि।

किन्तु इन्द्रियाणि मनश्च संयतकरणं कठिनमस्ति। किमहमिदं कार्यङ्कर्त्तुं शक्ष्यामि? अत उपरि कृष्णो भवतः सामर्थ्यं वर्णयन् प्रोत्साहयति–

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

अर्जुन! अस्माच्छरीरात् त्वमिन्द्रियाणि पराणि सूक्ष्मानि बलयुतानि च जानीहि। इन्द्रियेभ्यः परं मनो वर्त्तते। इदं मन इन्द्रियेभ्योऽपि बहुबलयुक्तमस्ति। मनसः परा बुद्धिरस्ति। यश्च बुद्धेरपि परं अस्ति, स एव तवात्मास्ति। स एव त्वमस्ति, एतदर्थमिन्द्रियाणां मनसः बुद्धेश्च निरोधकरणे त्वं समर्थोऽसि।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

अनेन प्रकारेण बुद्धितः परं सूक्ष्मं बलवन्तं चात्मानं ज्ञात्वा, आत्मबलं ज्ञात्वा, बुद्धिद्वारेण स्वमनः वशे कृत्वार्जुन! इमं कामरूपं दुर्जयं शत्रुं जहि। स्वशक्तिमनुभूय अमुं दुर्जयं शत्रुं जहि। इन्द्रियाणां माध्यमेनात्मानं मोहयति, तर्हि स्वबलमवबुद्ध्य, आत्मानं बलवन्तं मत्वा कामरूपिणं शत्रुं मारय। नास्त्यावश्यकता कथनस्य यदयं शत्रुरान्तरिकोऽस्ति, युद्धमन्तर्देशस्यापि चास्ति।

निष्कर्षः–

अधिकांशतो गीताप्रेमिणो व्याख्यातारोऽमुमध्यायं कर्मयोग संज्ञामददन्, किन्तु नैतत् सङ्गतम्। द्वितीयेऽध्याये योगेश्वरः कर्मणः नाम गृहीतवान्। स कृष्णः कर्मणः महत्वस्य प्रतिपादनङ्कृत्वातस्मिन् कर्मजिज्ञासामजागरीदस्मिन्नध्याये च कर्मणः परिभाषा प्रतिपादिता यत् यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। सुस्पष्टमस्ति यत् यज्ञः काचित् निर्धारिता दिशाऽस्ति। अतो व्यतिरिक्तं यत् किञ्चित् कर्म निष्पाद्यते, तदस्य लोकस्य बन्धनमस्ति। श्रीकृष्णः यद् वक्ष्यति, तत्कर्म 'मोक्ष्यसेऽशुभात्'– संसारबन्धनान्मुक्ति दापयिता कर्मास्ति।

श्रीकृष्णः यज्ञस्योत्पत्तिमवर्णयत्। अयं किं ददाति? तस्य विशेषतानां चित्रणं चकार यज्ञं विधातुं बलमददात्। तेनोक्तम्, एतस्य यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। ये न कुर्वन्ति, ते पापायुषः, आरामकामाः व्यर्थं जीवन्ति। पुराकाले

प्रादुर्भूताः महर्षयोप्यस्य विधानं कृत्वैव निष्कर्मसिद्धिं प्राप्नुयुः। ते आत्म-तृप्ताः सन्ति। तेषाङ्कृते कर्मावश्यकता न वर्तते। पुनरपि पृष्ठानुवर्तिनां कृते मार्गदर्शनार्थं तेऽपि कर्मणि सम्यक् प्रकारेण रता भवन्ति। तैर्महापुरुषैः सह कृष्ण आत्मानमतोलयत् यत् कर्मविधानात् ममापि नास्ति किमपि प्रयोजनम् किन्तु पृष्ठानुगामिनां हितायाहं कर्मकुर्वन् वर्ते। श्रीकृष्णः विस्पष्टं स्वपरिचयं दत्तवान् यदसावेको योगेश्वर आसीत्।

स कर्मप्रवृत्तसाधकान् चलायमानं कर्त्तुं न्यवारयत्, कुतोहि कर्मकृत्वैवासौ साधकः स्थितिं प्राप्स्यति। चेन्न करिष्यति तदा विनश्यति। अस्य कर्मणो विधानाय ध्यानस्थो भूत्वा युद्धं करणीयमस्ति। नेत्राणि पिहितानि सन्ति, इन्द्रियेभ्यः परावृत्य चित्तस्य निरोधः परिपक्वस्तदा कीदृशं युद्धम्? तस्मिन् समये कामक्रोधौ, रागद्वेषौ बाधकौ भवतः। एतासां विजातीयप्रवृत्तीनां पारं गमनमेव युद्धमस्ति। आसुरीसम्पदः कुरुक्षेत्रात्, विजातीयप्रवृत्तीनां शनैः-शनैः निवारणं कुर्वन् ध्यानस्थितिर्युद्धमस्ति। वस्तुतो ध्यानमेव युद्धमस्ति। अयमेवास्याध्यायस्य सारांशोऽस्ति, यस्मिन् न कर्मणः वर्णनं न च यज्ञस्य। यदि यज्ञः बुद्धिपथमायाति तदा कर्मावबोधोऽपि सुगमः। इदानीं यावत्तु कर्मावबोधनं न कृतम्।

अस्मिन्नध्याये केवलं स्थितप्रज्ञानां महापुरुषाणां प्रशिक्षणात्मकपक्षोपरि-बलं दत्तम्। अयन्तुगुरुजनानां कृते निर्देशोऽस्ति। ते कदापि तत्कर्म न कुर्युः, पुनरपि न काचित् क्षतिः, एवमकृते सत्यपि तेषां न कोऽपि निजो लाभः, किन्तु ये साधका अधिकां परमगतिमीहन्ते, तेषां कृते विशेषरूपेण किमप्युक्तमेव नहि, तदायं 'कर्मयोगः' कथमस्ति? कर्मणः स्वरूपमपि न विस्पष्टः, यद् विदधीत् कुतोहि 'यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति' इदानीं यावत् तेनैतावदेवोदीरितम्। यज्ञस्य तु विवेचनं नाकरोत्, कर्मणः स्वरूपं क्व स्पष्टमभवत्?आम् ! युद्धस्य यथार्थचित्रणं गीतायामत्रैव मिलति।

सम्पूर्णायां गीतायां दृष्टिपातं कुर्यां चेत्, तदा द्वितीयेऽध्याये कथितं यच्छरीरं नश्वरमस्ति, अतो युद्धं कुरु। गीतायां युद्धस्येदमेव सबलं कारणं वर्णितम्। अग्रे चलित्वा ज्ञानयोगस्य सन्दर्भे क्षत्रियस्यकृते युद्धमेव कल्याणस्यैकमात्रसाधनं वर्णितम्। कथितवांश्च यदियं बुद्धिः त्वदर्थं ज्ञानयोगस्य विषये वर्णिता। कीदृशी

बुद्धिः? एतदेव यत् विजयपराजयोरुभयोर्लक्ष्ययोः लाभएवास्ति, एवं बुद्‌ध्वा युद्धं कुरु। पुनश्चतुर्थाध्याये कथितवान् यत् योगस्थो भूत्वा स्वहृदिस्थं स्वं संशयं ज्ञानरूपेण खड्‌गेन छिन्धि। स खड्‌गो योगे वर्तते। पञ्चमाध्यायत आरभ्य दशमाध्यायं यावत् युद्धस्य चर्चापि न वर्तते। एकादशेऽध्याये केवलमेतदेवोक्तं यच्छत्रवः ममद्वारेण पूर्वमेव मारिताः सन्ति, त्वन्निमित्तो भूत्वा स्थिरो भव! यशः प्राप्तिं कुरु। इमे सर्वे तव मारणेन विनैव मारिताः सन्ति। मां प्रेरकत्वेन स्वीकरिष्यति। तानेतान् मृतानेव मारय।

पञ्चदशमेऽध्याये संसारः सुविरुढमूलयुतः पिप्पलवृक्षवत् वर्णितोऽस्ति, यस्मिनसङ्गतरूपिणा शस्त्रेण कर्त्तयित्वा परमपदस्यान्वेषणस्य निर्देशः समुपलब्धः। अग्रिमाध्यायेषु न युद्धस्योल्लेखः। आम्! षोडशतमेऽध्यायेऽसुराणां चित्रणमस्ति, ये सन्ति नरकगामिनः। तृतीयेऽध्याये युद्धस्य विशदं चित्रणमस्ति। त्रिंशत्तम-श्लोकतः त्रिचत्वारिंशत्तमश्लोकं यावत् तस्य युद्धस्य स्वरूपं, तस्यानिवार्यता च युद्धात् पराङ्‌मुखानां विनाशः, युद्धे मारितव्यानां शत्रूणां नामानि, तान् मारयितुं स्वशक्तेरावाहनम्, निश्चयरूपेण तान् विच्छिद्य प्रक्षेपणार्थं सबलमुपादिदेश। अस्मिन्नध्याये शत्रूणां तथा तेषामान्तरिकं स्वरूपं सुस्पष्टमस्ति, येषां विनाश-प्रेरणा प्रदत्ता। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'शत्रुविनाशप्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भवगद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'शत्रुविनाशप्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

तृतीयेऽध्याये योगेश्वरः समाश्वासितवान् यद् दोषदृष्टि मुक्तो भूत्वा योऽपि कोऽपि मानवः श्रद्धायुतः सन् मम मतानुसारेण चलिष्यति, स सम्यग् रूपेण कर्मबन्धनान्मुक्तो भविष्यति। कर्मबन्धनान्मुक्तिदापनस्य क्षमता योगे (ज्ञानयोगे कर्मयोगे चोभयोः) अस्ति। योगेऽव युद्धसञ्चारो निहितो वर्त्तते। प्रस्तुताध्याये स उपदिशति यदस्य योगस्य प्रणेता कोऽस्ति? अस्य क्रमिकविकासः कथं भवति?

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अर्जुन! अहमविनाशिनं योगं कल्पादौ विवस्वन्तं (सूर्यम्) अकथयम्, विवस्वान् मनुमशिक्षयत्, मनुरिक्ष्वाकुं प्राबोधयत्। क उक्तवान्? अहम् ! श्रीकृष्णः क आसीत्? एको योगी। तत्त्वस्थितस्य महापुरुषस्यैव योगस्य विषये कल्पारम्भे अर्थात् भजनस्यारम्भे विवस्वान् अर्थात् यः विवशोऽस्ति, एतादृशान् प्राणिनः कथयति। सुरायां सञ्चारं करोति। अत्र सूर्य एको प्रतीकोऽस्ति। कुतोहि सुरायामेव स परमप्रकाशस्वरूपो वर्त्तते, तत्रैव च तस्य प्राप्तेर्विधानमप्यस्ति। वास्तविक-प्रकाशदाता (सूर्यः) स एव राजते।

अयं योगोऽविनश्वरोऽस्ति। श्रीकृष्णेनोक्तमासीत् यदस्मिनाारम्भस्य नाशो न भवति। अस्य योगस्यारम्भमात्रं कुर्यात्, तदायं पूर्णत्वं दापयित्वैव शान्तो भवति। शरीरस्य कल्प औषधिभिर्भवति, किन्त्वात्मनः कल्पो भजनेनैव भवति।

भजनस्यारम्भ एवात्मकल्पस्य शुभारम्भोऽस्ति। इदं साधनस्वरूपं भजनमपि कस्यापि महापुरुषस्यानुदानमस्ति। मोहनिशायां निश्चेष्टो मानवः, यस्मिन् भजनस्य न कोऽपि संस्कारो वर्त्तते, योगस्य विषये यः कदाऽपि चिन्तामपि नाकरोत्- एतादृशः पुरुषः कमपि महापुरुषं यदा पश्यति तदा तस्य दर्शनमात्रेण, तस्य वाण्याः, छिन्न-भिन्न सेवया सान्निध्येन च योगस्य संस्कारास्तस्मिन् संचरिताः भवन्ति। गोस्वामी तुलसीदासोऽपि इदमेव तथ्यं प्रकाशयति- **जे चितये प्रभु, जिन प्रभु हेरे। ते सब भये परम पद जोगू (रामचरित मानस)।**

कृष्णः कथयति यत्, इमं योगमारम्भे सूर्यमहमकथयम्। **'चक्षोः सूर्योऽजायत्'** महापुरुषाणां दृष्टिनिक्षेपमात्रेण योगस्य संस्काराः सुरायां प्रसारिता भवन्ति। स्वयं प्रकाशस्य स्ववशस्य परमेश्वरस्य निवासः सर्वेषां हृदये वर्त्तते। सुरायाः (श्वासस्य) निरोधे तस्य प्राप्तेर्विधानमस्ति। सुरायां संस्काराणां सूर्यं प्रति कथनमस्ति। प्राप्ते समये संस्कारोऽयं मनसि प्रस्फुरिष्यति, एतदेव सूर्यस्य मनुं प्रति कथनमस्ति। मनसि प्रस्फुरणे जाते सति महापुरुषस्य तद्वाक्यं प्रति कामना जागृता भविष्यति। यदि मनसि कापि वार्ता वर्त्तते, तदा तां प्राप्तुमवश्यमिच्छा भविष्यति, इदमेवेक्ष्वाकुं प्रति मनोः कथनमस्ति। लालसा भविष्यति यत् स्वनियतं कर्म कुर्याम्, योऽनश्वरोऽस्ति, यः कर्मबन्धनात् मोक्षं दापयति। एवमस्ति तत्करणीयम्, आराधना च गतिं गृह्णाति। गतिं गृहीत्वा योगोऽयं कुत्र प्रापयति, अतः परं कथयति-

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।२।।

अनेन प्रकारेण केनचित् महापुरुषेण द्वारा संस्काररहितपुरुषाणां सुरायाम्, सुरातो मनसि, मनस इच्छायां, इच्छा च तीव्रा भूत्वा क्रियात्मिकाचरणे कार्य-रूपेण परिणता भूत्वा योगस्य क्रमश उत्थानं कुर्वन्-कुर्वन् राजर्षिश्रेणीं यावत् प्राप्तो भवति, तस्यामवस्थायां संप्राप्य विदितो भवति। एतादृक् स्तरेषु साधकेषु ऋद्धीनां सिद्धीनाञ्च सञ्चारो जायते। स योग अस्मिन् महत्वपूर्णकालेऽस्मिन् लोके (शरीरे) प्रायो नष्टो भवति। अस्य सीम्नः रेखां कथं पारं क्रियेत्? किमस्मिन् विशेषस्थले सम्प्राप्तो भूत्वा सर्वे नष्टा भवन्ति? श्रीकृष्णः कथयति,

नहि, यः ममाश्रितोऽस्ति, मम प्रियभक्तोऽस्ति, अनन्यसखाऽस्ति स नष्टो न भवति।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

तदेव पुरातनो योग इदानीं मया त्वदर्थं वर्णितः, कुतोहि त्वं मे भक्तः सखाचाऽस्ति। योगश्चायमुत्तमः सरहस्यश्च। अर्जुनः क्षत्रियश्रेणीकः साधक आसीत्, राजर्षिपदस्यावस्थावानासीत्, यत्र ऋद्धीनां सिद्धिनां कुप्रभावतः साधकः नष्टो भवति। अस्मिन्नेव कालेऽपि योगः कल्याणमुद्रायामेव सन्तिष्ठते; किन्तु साधका अत्र प्राप्ताः पथच्युताः भवन्ति। एवमविनाशिनं किन्तु रहस्यमयं योगं श्रीकृष्णऽर्जुनमुक्तवान्, कुतोहि नष्टप्रायावस्थायामर्जुन आसीत्। एतदर्थ- मुक्तवान्? अतएव यत्त्वं मम भक्तोऽसि, अनन्यभावेन ममाश्रितोऽसि, प्रियोऽसि, सखा चासि।

अध्यायस्यारम्भे भगवता कथितं यदिमममविनाशिनं योगं कल्पादावहं सूर्यमुपादिशम्। सूर्यात् मनवे गीतेयं प्राप्ता, मनुरिमां स्वस्मृतौ सुरक्षितवान्। मनोरियं स्मृतिरिक्ष्वाकवे प्रदत्ता, ततः राजर्षयो ज्ञातवन्तः। किन्तु तस्मात्कालादयं योगो लुप्तोऽभवत्, तदेव पुरातन स्मृतिज्ञानं भगवानर्जुनमकथयत्। सारांशतो मनुः यज्ज्ञानं लब्धवान् तदेव ज्ञानं गीता समुच्यते। मनवे तज्ज्ञानमुत्तराधिकारे प्राप्तो बभूव। इतो व्यतिरिक्तं कां स्मृतिमसौ धारयितुं सक्षमः? गीता-ज्ञानश्रवणानन्तरमष्टादशाध्यायस्यान्ते अर्जुनः कथितवानहं स्मृतिं लब्धवान् तथैव यथा मनुः प्राप्तवानासीत्। अस्तु, इयं श्रीमद्भगवद्गीतैव विशुद्धाः मनुस्मृतिरस्ति।

यस्य परमात्मनः मे कामनास्ति, स (सद्गुरुः) परमात्मनोऽभिन्नो भूत्वा यदा निर्देशनं दातुमारभेत्, तदानीमेव वास्तविक भजनस्यारम्भो भवति। अत्र प्रेरकावस्थायां परमात्मासद्गुरुश्च परस्परं पर्यायवाचिनौ स्तः। यस्मिन् धरातलेऽहं स्थितोऽस्मि, तस्मिन्नेव स्तरे यदा स्वयं प्रभुः हृदये अवतरेत्, रोधावरोधञ्च प्रारभेत्, पथच्युत स्थितौ सम्भालयेत् तदैव मनः वशमायाति, ''**मन वश होइ तबहि, जब प्रेरक प्रभु बरजे**'' यावदिष्टदेवो रथी भूत्वा, आत्माभिन्नो भूत्वा

प्रेरकरूपेण पुरतो न स्थिरो भवति तावत् यथार्थमात्रायां प्रवेशो न भवति। सः साधकः प्रत्याश्यवश्यमेवास्ति, किन्तु भजनं तस्य सविधे क्वास्ति?

"पूज्य गुरुदेवा भगवन्तः" कथयन्ति स्म– "आह! अहं कतिवारं पतन् सन् सुरक्षितोऽभवम्। भगवानेव ररक्ष। भगवानेवं बोधयामास, इदमुक्तवान्।" अहमपृच्छम्– "महाराजन्! किं भगवानपि वदति? वार्तालापं करोति?" उवाच– "आम्! भोः! भगवानित्थं वार्तालापं करोति यथा वयं यूयञ्च वदामः, घण्टां यावत् वार्तालापोऽभवत्, क्रमस्तु न खण्डितो जातः।" मे मनसि परमौदास्यमाश्चर्यञ्चाप्यभवत् यद् भगवान् कथं वदन् भविष्यति, इदन्तु नूतनं वृत्तान्तम्। किञ्चित् कालानन्तरं महाराजोप्यवोचत्– "किमर्थं विह्वलोऽसि, त्वया सहापि वार्तालापं करिष्यति।" तेषां कथनमक्षरशः सत्यमासीत्, एतदेव सख्यभावः, सखावत् भगवान् निराकरणं कुर्वन्नासीत्, तदैवास्या नष्टशीलायाः स्थितेः साधकः पारं याति।

इदानीं यावत् योगेश्वरः श्रीकृष्णः केनचित् महापुरुषेण योगस्यारम्भः, अस्मिन् तथा च योगारम्भे सम्भावितानि व्यवधानानि, ततः पारं गमनस्य मार्गमबोधयत्। अतः परमर्जुनः प्रश्नं करोति–

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

भगवन्! भवतज्जन्म तु '**अपरम्**'– इदानीमभवत्, मम चान्तराले सुरायाः सञ्चार अतीव प्राचीनोऽस्ति, तर्हि अहं कथं स्वीकरवाणि यदमुं योगं भजनस्यादौ भवान्नेवाकथयत्? अत उपरि योगेश्वरः कृष्ण उवाच–

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।५।।

अर्जुन! मम तव च बहूनि जन्मान्यतीतानि। हे परन्तप! तानि सर्वाणि त्वं न जानासि, किन्त्वहं जानामि। साधको नहि जानाति, स्वरूपस्थः महापुरुषः

जानाति, अव्यक्तस्थितिशीलः, जानाति। किं भवानपि अपरेषामिव जन्मगृह्णाति? श्रीकृष्णः कथयति-नहि, स्वरूपस्य प्राप्तिः शरीरप्राप्तितो भिन्ना वर्तते। मम जन्मैभिर्नयनैर्द्रष्टुं न शक्यते। अहमजः, अव्यक्तः, शाश्वतः सन्नपि शरीरस्याधारयुक्तोऽस्मि।

अवधू जीवत में कर आसा।

मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा।।

शरीरे विद्यमाने सति तस्मिन् परमतत्त्वे प्रवेशः प्राप्यते। लेशमात्रमपि चेन्न्यूनताऽस्ति, जन्मग्रहणमावश्यकं भवति। इदानीं यावदर्जुनः श्रीकृष्णं स्वसदृशं शरीरधारी जानाति। सोऽन्तरङ्गं प्रश्नमुपस्तौति- किं भवज्जन्म तादृशं यथा सर्वेषाम्? किं भवानपि शरीरधारिणामिव जन्मधारयति? श्रीकृष्णः कथयति-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६।।

अहं विनाशरहितः, पुनर्जन्मरहितः, समस्त प्राणिनाञ्च स्वरे सञ्चारिते सत्यपि स्वप्रकृतिमधीनस्थं कृत्वात्ममायया प्रकटयामि। एका माया त्वविद्यास्ति, या प्रकृतावेव विश्वासं दापयति, नीचानामधमयोनिनाञ्च कारणं भवति। अपरा मायाऽस्ति- आत्ममाया, या आत्मनि प्रवेशं दापयति, स्वरूपस्य जन्मनः कारणं भवति। अमुमेव 'योगमाया' अपि कथयति। यतोऽहं पृथगस्मि तस्मिन् शाश्वतस्वरूपे इयं नियोजयति, मेलनं कारयति। तदात्मिक प्रक्रियाद्वारा अहमात्म-त्रिगुणमयीं प्रकृतिं स्वाधीनं कृत्वा प्रकटयामि।

प्रायो जनाः कथयन्ति-भगवोदवतारो भविष्यति, तदा दर्शनं करिष्यामः। श्रीकृष्णः कथयति- एतादृशो न किमपि व्यापारो भवति यत् कश्चिदपरः पश्येत्। स्वरूपस्य जन्मपिण्डरूपे न भवति। श्रीकृष्णः कथयति-योगसाधनद्वारा, आत्ममायाद्वारा स्वत्रिगुणमयीं प्रकृतिं स्ववशे कृत्वा क्रमशः प्रकटयामि। किन्तु कस्यां परिस्थितौ?-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे अर्जुन! यदा यदा परमधर्मस्य परमात्मनः कृते हृदयं ग्लानिना परिपूरितं भवति, यदाऽधर्मस्य वृद्ध्या भावुकाः पारङ्गमनेऽसमर्था भवन्ति, तदाहमात्मानं सृजामि। इत्थमेव ग्लानिर्मनोः 'मानसे' समभवत्–

हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।।

(रामचरित मानस)

यदा भवतो हृदयमनुरागपूरितं भवेत्, तस्य शाश्वतधर्मस्य कृते '**गदगद गिरा नयन बह नीरा**' इति स्थितिर्यदागच्छेत्, यदा कृते सत्यपि प्रयत्नेऽनुरागीजनोऽधर्मात् पराजितो भवति– इति स्थितावहं स्वस्वरूपं रचयामि। अर्थाद् भगवदाविर्भावः केवलमनुरागीणां कृते, एव भवति– **सो केवल भगतन हित लागी। (रामचरित मानस, १/१२/५)**

अयमवतारः कस्यचिद् भाग्यवतः साधकस्यान्तराल एव भवति। भवान् प्रकटीभूय करोति किम्?

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।८।।

अर्जुन! **साधूनां परित्राणाय**– परमसाध्यमेकमात्रं परमात्मास्ति। परमात्मानं साधिते सति कापि साधना न शेषा वर्तते। तस्मिन् साध्ये प्रवेशं प्रापयितुमर्हाणां विवेकः, वैराग्यः, शमः, दमादि दैवीसम्पदां प्रवाहितं कर्त्तुं तथा '**दुष्कृताम्**'– याभिर्दूषितानि कार्याणि जन्यन्ते, तासां कामः, क्रोधः, रागः, द्वेषादि विजातीय-प्रवृत्तीनां समूलं विनाशकरणाय तथा धर्मस्य सम्यग् रूपेण स्थिरीकरणाय युगे-युगेऽहं प्रकटयामि।

युगस्य तात्पर्यं सत्ययुगत्रेताद्वापरादयो नहि, युगधर्माणामुत्थानं पतनं मनुष्याणां स्वभावोपरि वर्त्तते। युगधर्माः सदैवासन्। मानसे संकेतः मिलति–

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे।।

(रामचरित मानस, ७/१०३/१)

युगधर्माः सर्वेषां हृदये नित्यं भवन्तः प्रतीयन्ते। अविद्यया नहि, प्रत्युत्

विद्यया, राममायायाः प्रेरणया हृदये भवन्ति। यत् प्रस्तुतश्लोके आत्ममाया-रूपेण वर्णितोऽस्ति, सैवास्ति राममाया। हृदये रामस्थितिं दापयित्री, रामेण प्रेरिता सा विद्या। कथमेतज्ज्ञानं भवेत् यत् कः युगः साम्प्रतं कार्यं करोति? तदा-

सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।

(रामचरित मानस, ७/१०३/२)

यदा हृदये सत्वगुण एव कार्यरतो भवेत्, राजस-तामसौ द्वौ गुणौ शान्तौ भवेताम्, विषमताः समाप्ता भवेयुः, यत्र कस्यापि केनापि द्वेषो न भवेत्, विज्ञानस्यार्थादिष्टात् निर्देशन ग्रहणस्य तदुपरि स्थिरतायाः क्षमता स्यात्, मनसि प्रसन्नतायाः पूर्णसञ्चारो भवेत्, यदैतादृशी योग्यता समागच्छेत् तदा सत्ययुगे प्रवेशो मिलितः। इत्थमेवापरयुगयुगलस्य वर्णनं करोत्यन्ते च-

तामस बहुत रजोगुण थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।।

तामसगुणः परिपूर्णो भवेत्, किञ्चिद् रजोगुणस्यापि तस्मिन् मिश्रणं स्यात्, परितः वैरविरोधानामस्तित्वं वर्धेदेवंदृशो व्यक्तिः कलयुगीनोऽस्ति। यदा तमोगुणः कार्यङ्करोति तदा मनुष्ये आलस्यनिद्राप्रमादस्य बाहुल्यं भवति। स कर्त्तव्यं जानन्नपि तस्मिन् प्रवेष्टुं न शक्नोति, निषिद्धं कर्म जानन्नपि तस्मात् निवृत्तिर्न भवति। अनेन प्रकारेण युगधर्मस्योत्थानपतनं मानवानामान्तरिकयोग्यताया उपरि निर्भरो भवति। केचन जना इमां योग्यतां युगचतुष्टयमुक्तवन्तः, केचन तु वर्णचतुष्टयं स्वीकृतवन्तः, केचित्त्वेतामत्युत्तमोत्तममध्यमनिकृष्टाश्च चतुःश्रेणीकाः साधकाः मन्यन्ते। प्रत्येकं युगे इष्टाः सहयोगं कुर्वन्ति। आम् ! उच्चैः श्रेण्यामनुकूलतायाः परिपूर्णताप्रतीता भवति, निम्नयुगेषु सहयोगः क्षीणः प्रतीयते।

संक्षेपतः श्रीकृष्णः कथयति यत् साध्यवस्तुदायकविवेकवैराग्यादिं निर्विघ्नरूपेण प्रवाहित करणाय तथा दूषणस्य कारक कामक्रोधरागद्वेषादीनां पूर्णविनाशाय परमधर्मे परमात्मनि स्थिरकरणाय युगे-युगे प्रत्येकं परिस्थितिषु प्रत्येकं श्रेणिष्वहं प्रकटयामि। तत्र ग्लानिरपेक्ष्यते। यावदिष्टः समर्थनं न दद्यात् तावत् भवन्तः ज्ञातुं न शक्ष्यन्ति यद् विकाराणां विनाशोऽभवदथवा

कियन्मात्रमवशिष्टोऽस्ति। प्रवेशादारभ्य पराकाष्ठापर्यन्तमिष्टः प्रत्येकं श्रेणिषु सर्वयोग्यतया सह तिष्ठति। ईश्वरस्य प्रादुर्भावः कस्यचिदनुरागिणो हृदये भवति। यदेश्वरः प्रकटयति तदा तु सर्वे दर्शनं कुर्वन्तो भविष्यन्ति? श्रीकृष्णः कथयति, नहि—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

अर्जुन! मदीयं तज्जन्मार्थात् ग्लानिना सह स्वरूपस्य रचना तथा मम कर्मार्थात् दुष्कृतिकारणानां विनाशः, साध्यवस्तुप्रापकक्षमतानांनिर्दोषसञ्चारः, धर्मस्य स्थिरता इदं कर्मजन्म च दिव्यमर्थादलौकिकमस्ति, लौकिकं नहि। एभिश्चर्मनेत्रैस्तन्न द्रष्टुं शक्यते। मनसा बुद्ध्या च तन्न माप्यते। यदा यदैतन्निगूढमस्ति, तदा केन तद् दृश्यते? केवलं '**यो वेत्ति तत्त्वतः**'— तत्त्वदर्शिन एव ममास्य जन्मकर्म पश्यन्ति, मम च साक्षात्कारं कृत्वा पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्ति, प्रत्युत् मयि प्रविशन्ति।

यदा तत्त्वदर्शिन एव भगवतः जन्मकर्म च द्रष्टुं पारयन्ति, लक्ष्याधिक-परिमिताः जनाः सम्मर्दंविदधानः किमर्थं तिष्ठन्ति यत् क्वचिदवतारो भविष्यति, तदा दर्शनं करिष्यामः? किं भवानस्ति तत्त्वदर्शी? महात्मवेशभूषायां विविध-रूपेण मुख्यतः महात्मपरिधानस्य व्याजेन बहवो जनाः प्रचारं कुर्वन्तोऽटन्ति, यत् ते सन्त्यवताराः अथवा तेषां दलोन्नायकाः (दल्लालाः) प्रचारं कुर्वन्ति। जनाः गड्डुलिकेवावतारं द्रष्टुं धावन्ति; किन्तु श्रीकृष्णः कथयति यत् केवलं तत्त्वदर्शीजनः द्रष्टुं शक्नोति। साम्प्रतं तत्त्वदर्शी कः?

द्वितीयेऽध्याये सदसदोः निर्णयं ददानः योगेश्वरः कृष्णोऽबोधयत् यद् अर्जुन! असद् वस्तुन अस्तित्वं नास्ति, सद् वस्तुनश्च कालत्रये कुत्रापि कदाप्यभावो न वर्त्तते। तर्हि किं भवानित्थं कथयति? तेनोक्तम्—नहि, तत्त्वदर्शिभिरेतद् दृष्टम्। न केनचित् भाषाविदा दृष्टम्, न केनचित् समृद्धिशालिना दृष्टम्।अत्र पुनर्बलं ददाति यन्ममाविर्भावस्तु भवति; किन्तु तत्त्वदर्शिन एव तद्द्रष्टुं पारयन्ति। तत्त्वदर्शी, एकः प्रश्नोऽस्ति। एवंदृशं नास्ति किमपि यत् यथा पञ्चतत्त्वानि सन्ति, पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि सन्ति, एतेषां गणनां ज्ञात्वा तत्त्वदर्शिन अभूवन्। श्रीकृष्ण

अग्रे कथितवान्, यदात्मैव परमतत्त्वमस्ति। आत्मा परमेण संयुक्तः सन् परमात्मा भवति। आत्मसाक्षात्कारकर्त्तैव ममाविर्भावं बुद्ध्यते। सिद्धमस्ति यदवतारः कस्यचिद् विरहिणोऽनुरागिणो हृदयएव भवति। आदौ स बोद्धुं न शक्नोति यन् मां कः संकेतयति? को मार्गदर्शनं करोति? किन्तु परमतत्त्व परमात्मदर्शनेन सह द्रष्टुं पारयति, बोद्धुं शक्नोति, पुनश्च शरीरं विहाय पुनर्जन्म न लभते।

श्रीकृष्णेन कथितं मम जन्मदिव्यमस्ति, अस्य ज्ञातारः मां प्राप्नुवन्ति– तदा जनाः तस्य मूर्तिमरचयन् पूजां कर्त्तुमारेभिरे, आकाशेऽपि तस्य निवासाय कल्पनामकुर्वन्, एवंदृशः न किमपि। तेषां महापुरुषाणामाशयः केवलमेतावदासीत् यदि भवान् निर्धारितं कर्म करोतु तदा प्राप्स्यति यद् भवानपि दिव्यः। भवान् यद्भवितुं शक्नोति तदहमभवम्। अहं भवतः सम्भावनास्मि, भवतो भविष्यमस्मि। स्वान्तराले भवानेतादृशीं पूर्णतां यस्मिन् दिने प्राप्स्यति, तदा भवानपि स एव भविष्यति, यः कृष्णोऽस्ति। यत् कृष्णस्य स्वरूपमस्ति, तदेव स्वरूपं भवतोऽपि भवितुं शक्नोति। अवतारः क्वचिद् बहिर्देशात् न भवति। आम्! यद्यनुराग-पूरितं हृदयं भवेत्, तदा भवदन्तरालेप्यवतारस्यानुभूतिः सुसम्भवा। स भवन्तं प्रोत्साहयति यद् बहवो जना उक्तमार्गमनुसृत्य तदुपरि चलित्वा मम स्वरूपं प्राप्तवन्तः–

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

उभाभ्यां राग-विरागाभ्यां निर्मुक्ताः, वीतरागास्तथेत्थमेव भयाभयाभ्यां क्रोधाक्रोधाभ्यां विमुक्ता अनन्यभावेन अहङ्काररहिताः मम शरणागताः बहवः जनाः ज्ञानतपोभ्यांपूता भूत्वा मम स्वरूपं प्राप्तवन्तः। इदानीमेव भवितुं प्रारम्भः नैतत्स्थितिः, इदं विधानं सर्वदैवासीत्। बहवः पुरुषा अनेन प्रकारेण मम स्वरूपं प्राप्तमकुर्वन्। कथम्? येषां येषां हृदयमधर्मस्य वृद्धिं दृष्ट्वा परमात्मने ग्लानितः परिपूर्णमभवत् तस्यां स्थितावहं स्वस्वरूपं रचयामि। ते सर्वे मम स्वरूपं प्राप्नुवन्ति। योगेश्वरः श्रीकृष्णः यत् तत्त्वदर्शनं कथितवानासीत्, तदेव साम्प्रतं ज्ञानं कथ्यते। परमतत्त्वमस्ति परमात्मा तं प्रत्यक्षदर्शनेन सहावबोधनं ज्ञानमस्ति।

एतादृशाः बोधयुक्ताः ज्ञानिनः मम स्वरूपमासादयन्ति। अतोऽयं प्रश्नः परिपूर्णोऽभवत्। इदानीं सः योग्यताया आधारेण भजनकर्त्तृणां श्रेणीविभाजनं करोति–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

पार्थ ! यो जनो मां यावत्या संलग्नतया यथा भजति, तं जनमहमपि तथैव भजामि। तावत्यामात्रया सहयोगं ददामि। साधकस्य श्रद्धैव कृपा भूत्वा तदर्थं मिलति। इदं रहस्यं ज्ञात्वा सुधीजनाः मम मार्गानुसारेण चलन्ति। यथाऽहं वर्ते, मह्यं यत्प्रियमस्ति तथैवाचरणं कुर्वन्ति। यदहं कारयितुमीहे तदेव कुर्वन्ति।

भगवान् कथं भजते? स रथी भूत्वावतिष्ठते, स चलितुं लगति, एतदेव तस्य भजनमस्ति। दूषणं यस्मात् प्रादुर्भवति तस्य विनाशं कर्त्तुं स समक्षमुत्तिष्ठति। सत्ये प्रवेशं दापयत्रीन् सद्गुणान् परित्राणाय स सन्नद्धो भवति। यावदिष्टदेवः हृदयतः पूर्णरूपेण रथी न भवेत्, प्रतिपदञ्च सावधानं न कुर्यात्, तावत् कोऽपि कीदृशोऽपि भजनानन्दी कथं न भवेत्, नेत्रमधिकाधिकं विरुन्धेत्, लक्षाधिकं प्रयत्नं कुर्यात्, सोऽस्याः प्रकृतेः द्वन्द्वात् पारं गन्तुं न शक्नोति। स कथं ज्ञास्यति यदहं कियतीं दूरीं समाप्तमकरवम्, कियती शेषाऽस्ति? इष्ट एवात्मन अभिन्नो भूत्वा प्रस्तुतो भवति तस्य च मार्गदर्शनं करोति यत् त्वमत्र वर्तसे, इत्थं कुरु, इत्थं चल। अनेन प्रकारेण प्रकृतिपरिखां भरन् सन् शनैः–शनैरग्रे वर्धयन् स्वरूपे प्रवेशं दापयिष्यति। भजनन्तु साधकद्वारेण करणीयं भवति, किन्तु तस्यद्वारेणास्मिन् मार्गे या दूरीमाप्यते स इष्टानुदानमस्ति। एवं ज्ञात्वा सर्वे मनुष्याः सर्वतोभावेन ममानुसरणं कुर्वन्ति। केन प्रकारेण ते प्रवर्त्तन्ते?–

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

ते पुरुषा अस्मिन् शरीरे कर्मणां सिद्धिं कामयन्तो देवानर्चयन्ति। कर्म कीदृशं तत्? श्रीकृष्ण उक्तवान् – "अर्जुन ! त्वं नियतं कर्म कुरु।" नियतं कर्म

किमस्ति? यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। यज्ञः किमस्ति? साधनाया विधिविशेषः, यस्मिन् श्वास-प्रश्वासयोः हवनम्, इन्द्रियाणां बहिर्मुखान् प्रवाहान् संयमाग्नौ हवनं क्रियते, यस्य परिणामोऽस्ति- परमात्मा। कर्मणः शुद्धार्थोस्त्याराधना, यस्य स्वरूपमस्मिन्नध्यायेऽग्रे मेलिष्यति। अस्या आराधनायाः परिणामः किमस्ति? **'संसिद्धिम्'**- परमसिद्धिः परमात्मा, **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**- शाश्वत ब्रह्मणि प्रवेशः, परमनैष्कर्म्यस्य स्थितिः। श्रीकृष्णः कथयति- ममानुसारेणा-चरणशीलाः जना अस्मिन् मानवलोके कर्मपरिणामपरमनैष्कर्म्य सिद्ध्यर्थं देवान् पूजयन्ति अर्थात् दैवीसम्पदं बलवतीं कुर्वन्ति।

तृतीयेऽध्याये तेन कथितमासीत् यदनेन यज्ञेन त्वं देवानां समृद्धिं कुरु। दैवीसम्पदं बलवतीं विधेहि। यथा-यथा हृदयप्रदेशे दैवीसम्पदः उन्नतिर्भविष्यति, तथा-तथा तवाप्युन्नतिर्भविष्यति। अनेन प्रकारेण परस्परमुन्नतिं कुर्वन् परमश्रेयो लप्स्यसे। अन्तं यावदुन्नति विधानस्येयमन्तःक्रियास्ति। अस्योपरि बलं ददानः कृष्णो ब्रूते यन् ममानुकूलमाचरन्तः जनाः मनुष्यशरीरे कर्मणां सिद्धिं वाञ्छन्तः दैवीं सम्पदं बलवतीं कुर्वन्ति येन सा नैष्कर्म्य सिद्धिः शीघ्रं भवति, सा विफला न जायते, सफला हि भवति। शीघ्रस्य तात्पर्यम्? किं कर्मणि प्रवृत्ति समकालमेवेयं परमसिद्धिः प्राप्ता भवति? श्रीकृष्णः कथयति-नहि, अस्मिन् सोपाने क्रमश आरोहणस्य विधानमस्ति। कश्चिदुत्प्लुत्य भावातीतसदृशश्चमत्कारो न भवति। अत उपरि द्रष्टव्यम्-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

अर्जुन! **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चतुर्णां वर्णानां रचनामहमकुर्वम्, तर्हि किं मनुष्याणां चतुर्धा विभाजनं कृतं मया? श्रीकृष्णः कथयति-नहि, **'गुणकर्म विभागशः'**- गुणानां माध्यमेन कर्मणश्चत्वारः भागाः कृताः। गुणाः सन्ति मापदण्डाः। तमोगुणस्य प्रभावे तु आलस्यं, निद्रा, प्रमादः, कर्मणि प्रवृत्तिनिवारकस्वभावः, ज्ञाते सत्यपि अकर्त्तव्यान्निवृत्तेर्विवशतया। एतादृशामव-स्थायां क्व वर्त्तते साधनारम्भावसरः? घण्टाद्वयपर्यन्तमाराधनार्थमासनोपरि स्थीयते, उक्तकर्मणि सप्रयत्नं निवेशं वाञ्छति किन्तु दशमिनटस्यापि समयः

स्वलक्ष्यस्य साधने नोपलभ्यते। शरीरन्तु तत्रोपविशति, किन्तु येन मनसा तत्रोपविश्य ध्यानमुचितं तत्तु वायुना सह चरति स्वच्छन्दम्, कुतर्काणां जालं वयति, तरङ्गात्तरङ्गाः प्रस्फुरन्ति, तर्हि भवान् किमर्थमुपविष्टोऽस्ति? कथं समयो विनाशयति। तस्मिन् समये केवलम् "**परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**"–ये महापुरुषा अव्यक्तावस्थां सन्ति प्राप्ताः, अविनाशिनि तत्त्वे सन्ति लीनाः, तेषां तथास्मिन् मार्गे स्वतः प्रोन्नतजनानां सेवायां संलग्नो भव। एतेन दूषिताः संस्काराः शमिता भविष्यन्ति। साधनायां प्रवेशप्रदापयितारः संस्काराः प्रबला भविष्यन्ति।

क्रमशस्तमोगुणस्य जातायां न्यूनतायां रजोगुणस्य सम्वर्धिते प्राबल्ये सत्त्व-गुणस्य च प्रभावशैथिल्ये साधकस्य क्षमता वैश्यश्रेणीका भवति। तस्मिन् समये स एव साधक इन्द्रियसंयमं तथात्मिकसम्पत्तेः संग्रहं स्वभावतः कर्त्तुं लगिष्यति। कर्माभ्यासेन तस्मिन्नेव साधके सत्त्वगुणस्य बाहुल्यं भविष्यति, रजोगुणस्तु न्यूनायिष्यते, तमोगुणः शान्तायिष्यते, तस्मिन् समये स एव साधकः क्षत्रियश्रेण्यां प्रवेशं प्राप्स्यति। शौर्यम्, कर्मणि प्रवृत्तेः स्थापनसामर्थ्यम्, लक्ष्याद्विचलन स्वभावस्य निर्मूलीकरणम्, समस्त भावानामुपरि स्वामित्वभावः, प्रकृतेर्गुणत्रयान् क्षेत्तुं क्षमता तस्य स्वभावे सन्निविष्टा भविष्यति। तदैव कर्मणः सूक्ष्मत्वे प्राप्ते मात्रसात्विकगुणस्य प्रभुत्वे जाते कार्यसम्पादनस्यावसरे सत्वगुणस्य प्राबल्ये मनसः शमनम्, इन्द्रियाणां दमनम्, एकाग्रतायाः स्थितिः, सरलता समुद्भवः, ध्यानम्, समाधिः, ईश्वरीय निर्देशः, आस्तिकता इत्यादि ब्रह्मणिप्रवेशदापयत्रि स्वाभाविकक्षमतया सह स एव साधकः ब्राह्मणश्रेणीकः समुच्यते। अस्य ब्राह्मणश्रेणीकस्य कर्मणो निम्नतमासीमाऽस्ति। यदा स एव साधको ब्रह्मणि लीनो भवति, तस्यां स्थितौ स स्वयं न तु ब्राह्मणः, न तु क्षत्रियः, न तु वैश्यः, न तु शूद्र; किन्त्वन्येषां मार्गदर्शनस्य हेतुः स एव ब्राह्मणोऽस्ति। कर्म एकमेवास्ति नियतं कर्म–आराधना। अवस्थाभेदेनास्य कर्मण–उच्चैः नीचैः सोपानचतुष्टये विभाजनमभवत्। कः विभाजितवान्? केनचित् योगेश्वरेण विभाजितम्, अव्यक्तस्थितियुतेन केनचित् महापुरुषेण विभाजितम्। तस्य कर्तारं मामविनाशिन-मकर्त्तारं जानीहि। किमर्थम्?–

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

कुतोहि कर्मफले न वर्त्तते ममेच्छा। कर्मणां फलं किमस्ति? श्रीकृष्णः पूर्वमुक्तवान् यद् यज्ञक्रियायेनकर्मणापरिपूर्णाभवति, तस्याः क्रियायाःनाम कर्मास्ति। पूर्तिकाले च यज्ञः यस्य रचनां करोति, तस्य ज्ञानामृतस्य पानकर्त्ता शाश्वतसनातनब्रह्मणिप्रवेशं प्राप्नोति। कर्मणः परिणामोऽस्ति परमात्मा। तस्य परमात्मन इदानीं कामना अपि नास्ति मे, कुतोहि स मत्तोभिन्नो नास्ति। अहमव्यक्तः स्वरूपोऽस्मि, तस्यैव स्थितियुक्तोऽस्मि। अतः परं न वर्त्तते कापि सत्ता, यदर्थमस्मै कार्याय स्नेहं करवाणि। अतएव कर्म मां लिम्पायमानं नहि करोति। अनेन स्तरेण च यो मां जानाति, अर्थात् यः कर्मणां परिणामं परमात्मानं प्राप्तं करोति, तमपि कर्माणि न बध्नन्ति। यथा श्रीकृष्णः तथैव तेन स्तरेण ज्ञानवान् महापुरुषः।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

पूर्वभवैर्मोक्षस्येच्छुकैः पुरुषैरप्येतदेव ज्ञात्वा कर्मविहितम्। किं ज्ञात्वा? एतदेव यद् यदा कर्मणां परिणामः परमात्मभिन्नः नावशिष्येत्, कर्मणां परिणाम-स्वरूपस्य परमात्मनः स्पृहा न विद्यमाने सति तं पुरुषं कर्म न बध्नाति। श्रीकृष्ण एतत् स्थितियुक्तः। अतएव स कर्मणि नलिप्यते, तेनैव स्तरेण च अहमपि ज्ञास्यामि, तदाहमपि कर्मबन्धनान्मुक्तो भविष्यामि। यथा श्रीकृष्णः सम्यग् रूपेण तेनैव स्तरेण योऽपि ज्ञास्यति तद्वत् स पुरुषोऽपि कर्मबन्धनात् मुक्तो भविष्यति। साम्प्रतं श्रीकृष्णः 'भगवान् महात्माऽव्यक्तः योगेश्वरः तथा महायोगेश्वरः' योऽपि स्यात्, तत्स्वरूपं सर्वेभ्य अस्ति। एतदेव बुद्ध्वा पूर्वकालिकाः मुमुक्षु पुरुषाः, मोक्षकामाः पुरुषाः सर्वोपरि पदमादधुः। अतएवार्जुन ! पूर्वजैः सदातः कृतानीमानि कर्माणि कुरु। एतदेव कल्याणस्यैकं मार्गमस्ति।

इदानीं यावत् श्रीकृष्णः कर्मविधानोपरि बलमददात्, किन्तु नैतत् स्पष्टं कृतवान् यत् किमस्ति कर्म? द्वितीयेऽध्याये स कर्मणः नाममात्रं गृहीतवान् यदिदं कर्म त्वं निष्कामकर्मविषये शृणु। कर्मणः विशेषतानां वर्णनञ्चकार, किन्तु नैतदुक्तं तेन किमस्ति कर्म? तृतीयेऽध्याये तेनोक्तं यत् ज्ञानमार्गं हितकरं लगेत् निष्कामकर्मयोगो वा, कर्म तु करणीयं भविष्यति। कर्मणां त्यागेन न कश्चित् ज्ञानी भवति, कर्मणश्चारम्भकरणेनापि कश्चित् निष्कर्मी। हठवशात् ये

कर्म न कुर्वन्ति ते दम्भिनः सन्ति, अतएव मनसेन्द्रियाणि वशमानीय कर्मकर्त्तव्यम्। कीदृशं कर्मविधेयम्? तदोक्तं तेन, नियतं कर्मविधेयम्। सम्प्रतीदं निर्धारितं कर्म किम्? तदोक्तवान्, यज्ञस्य प्रक्रियैव नियतं कर्मास्ति। एको नवीनः प्रश्न उत्थितः-यज्ञं किमस्ति, यस्य विधानेन कर्मपूर्तिः स्यात्? तत्रापि यज्ञस्योत्पत्तिं वर्णितवान्, तस्य विशेषताश्चावर्णयत्, किन्तु यज्ञं न व्याख्यातवान् येन कर्मणः ज्ञानं भवितुं शक्नुयात्। साम्प्रतं यावत् नैतत् स्पष्टमभवत् यत् कर्म किमस्ति? साम्प्रतं कथयति, अर्जुन! कर्मकिमस्ति, किञ्चाकर्मास्ति? अस्मिन् विषये विद्वद्वरेण्या अपि सन्ति मोहिताः, तत्कर्म सम्यक् ज्ञातव्यम्–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्मकिमस्ति, अकर्मचास्ति किम्? अस्मिन् विषये बुद्धिमन्तः पुरुषा अपि मोहिताः सन्ति, अतएव तत्कर्म त्वदर्थं सम्यक् प्रकारेण वक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा '**अशुभात् मोक्ष्यसे**'- अशुभादर्थात् संसार-बन्धनात् सम्यग् रूपेण मुक्तो भविष्यति। कर्मैतादृशं किमपि वस्त्वस्ति, यत् संसार-बन्धनात् मुक्तिं दापयति। एतत् कर्मज्ञानाय श्रीकृष्णः पुनः बलं ददाति–

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

कर्मणः स्वरूपमपि ज्ञातव्यम्, अकर्मणः स्वरूपमपि बोद्धव्यम्, विकर्मणश्चार्थात् विकल्पशून्य विशेषकर्मणः यदाप्तपुरुषैः क्रियते, तदप्यनुसन्धेयम्, कुतोहि कर्मणो गहना गतिः। कतिपये जनाः विकर्मणः, अर्थं 'निषिद्धं कर्म,' 'मनसा युक्तं कृतं कर्म' इत्याद्यर्थान् कृतवन्तः। वस्तुतोऽत्र 'वि' उपसर्गो विशिष्टताया द्योतकोऽस्ति। प्राप्तेरनन्तरं महापुरुषाणां कर्माणि विकल्पशून्यानि भवन्ति। आत्मस्थितानाम्, आत्मतृप्तानाम्, आप्तकामानां महापुरुषाणां कृते कर्मविधानेन न कोऽपि लाभोऽस्ति, कर्मत्यागेन च न कापि हानिरस्ति, पुनरपि ते उत्तरवर्तिनां हिताय कर्म कुर्वन्ति। एतादृशं कर्म विकल्पशून्यमस्ति। विशुद्धमस्तीदं कर्म च 'विकर्म' समुच्यते।

उदाहरणार्थं गीतायां यत्रापि कस्मिन् कार्ये 'वि' उपसर्गः संयुक्तोऽभवत्, तस्य विशेषतायाः द्योतकोऽस्ति, न तु निकृष्टतायाः। यथा–'**योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः**' (गीता ५/७) यः योगेन युक्तोऽस्ति, स विशेषरूपेण शुद्धात्मवान्, विशेषरूपेण विजितान्तःकरणवानित्यादि विशेषतानां द्योतकाः सन्ति। अनेनैव प्रकारेण गीतायां स्थाने–स्थाने 'वि' इत्युपसर्गस्य प्रयोगः कृतो मिलति, यः विशेषपूर्णतायाः द्योतकोऽस्ति। अनेनैव प्रकारेण 'विकर्म'–अत्रापि 'वि' इत्युपसर्गः विशिष्टकर्मणः द्योतकोऽस्ति, यः प्राप्तेरनन्तरं महापुरुषैः सम्पाद्यते, यच्छुभाशुभसंस्कारं न स्थापयति। अधुना भवता विकर्म दृष्टम्, अवशिष्टं तु कर्माकर्मणी, यदग्रिमे श्लोके ज्ञातुं प्रयासं विदधीत्। यद्यत्र कर्माकर्मणोः विभाजनं बुद्धौ नागच्छेत् तदा कदापि न बोधो भविष्यति।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

यः पुरुषः कर्मणि अकर्म पश्येत्, कर्मणस्तात्पर्यमाराधनाऽर्थात् आराधनां कुर्यात्, एतच्चापि बोध्यं यत् नाहं कर्त्ता, प्रत्युत् गुणानामवस्थैव चिन्तने मां नियोजयति, 'अहमिष्टेन सञ्चालितोऽस्मि'– इत्थं द्रष्टव्यं यदा च एतादृशस्याकर्मणः द्रष्टुं क्षमता समागच्छेत्, धारावाहिकरूपेण कर्मसम्पन्नं सत् स्यात्, तदैव ज्ञेयं यत् कर्म साधुदशायां सम्पन्नं भवति। स एव पुरुषः मानवेषु बुद्धिमानस्ति, मानवेष्वस्ति योगी, योगयुक्तः बुद्धिमानस्ति, सर्वेषाञ्च कर्मणां कर्त्ताऽस्ति। तद्द्वारेण कर्मविधाने लेशमात्रमपि त्रुटिर्नागमिष्यति।

सारांशतः आराधनैव कर्मास्ति। तत्कर्म करणीयं कुर्वञ्चाकर्म द्रष्टव्यं यदहं तु यन्त्रमात्रमस्मि, प्रेरकस्तु इष्टोऽस्ति, अहञ्च गुणोद्भूतावस्थानुसारेण चेष्टां कर्त्तुं पारयामि। यदाकर्मण एवंदृशी क्षमतासमाव्रजेत् धारावाहिकञ्च स्वयं कर्म संसिध्येत्, तदैव परमकल्याणस्य स्थितिदायकं कर्म भवितुं शक्नोति। 'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म यत्, "यावदिष्टः रथी न भवेत्, रोधावरोधं न कर्त्तुमारभेत्, तावत् यथार्थमात्रायां साधनाया आरम्भ एव नहि भवति।" इतः पूर्वं यत्किञ्चित् क्रियते, कर्मणि प्रवेशप्रयासादधिकं न किमपि। हलस्य सर्वंभारं बलीवर्दस्य कन्धोपरि भवति निर्भरं तथापि क्षेत्रस्य कर्षणं हलवाहकस्यावदानमस्ति। यथार्थतः अनेन

प्रकारेण साधनस्य सर्वं दायित्वं साधकोपरि भवति, किन्तु वास्तविक साधकस्तु अस्तीष्टः, यस्तुसाधकमनुवर्तते, यस्तु साधकस्य मार्गदर्शनं करोति। यावदिष्टो निर्णयं न ददेत्, तावद् भवान् ज्ञातुं न शक्ष्यति यदहं किमकरवम्? अहं प्रकृतौ भ्रान्तोऽस्मि उद्वा परमात्मनि? एवमिष्टस्य निर्देशने यः साधक अस्मिन्नात्मिक-पथोपरि अग्रेसरो भवति, आत्मानमकर्त्तारं बुद्ध्वा धारावाहिकरूपेण कर्म करोति, स एव बुद्धिमान्, तस्य ज्ञानं यथार्थमस्ति, सोऽस्ति योगी। जिज्ञासा सहजास्ति यत् सततं कर्मकुर्वन्नेव स्थास्याम्याथवा कदाचित् कर्मभिरवकाशो मेलिष्यति? अत्र योगेश्वरः कृष्णः कथयति-

श्रीकृष्णानुसारेण यत् किञ्चित् कर्म क्रियते, तन्नास्ति कर्म। कर्म तु एका निर्धारिता क्रिया वर्त्तते। '**नियतं कुरु कर्म त्वम्**-अर्जुन! त्वं निर्धारितं कर्म विधेहि। किमस्ति निर्धारितं कर्म? तदोक्तवान्, '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**'- एतस्य यज्ञस्य कार्यरूपे परिणतकरणमेव कर्मास्ति, तदास्यातिरिक्तं यत् किमपि कर्म क्रियते, किं तन्नास्ति कर्म? श्रीकृष्णः कथयति-'**अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**'- एतस्य यज्ञस्य कार्यरूपे प्रवर्तनानन्तरं यत् किमपि क्रियते, तदस्य लोकस्य बन्धनमस्ति, न तु कर्म। '**तदर्थं कर्म**'- अर्जुन! तस्य यज्ञस्य पूर्त्यर्थं यथोचित् रूपेणाचरणं विधेहि। यदा यज्ञस्य च स्वरूपमुक्तं, तत् शुद्धरूपेणाराधनायाः एको विधिविशेषः ज्ञेयः, यो विधिः तमाराध्यदेवं यावत् प्रापयित्वा तस्मिन् विलयं दापयति।

अस्मिन् यज्ञे इन्द्रियाणां दमनं, मनसः शमनम्, दैवीसम्पदोऽर्जनम् इत्यादि तथ्यं वर्णयन् समुवाच-बहवः योगिनः प्राणापानयोः गतिं निरुद्ध्य प्राणायामपरायणाः भवन्ति। यत्रान्तरालतो न तु सङ्कल्प उदेति, न च वाह्यवातावरणस्य सङ्कल्पः मानसे प्रविशति। इति स्थितौ चित्तस्य सर्वथा निरोधः, निरुद्धस्य चित्तस्य च विलयकाले सः पुरुषः '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्**'- शाश्वते, सनातने ब्रह्मणि प्रवेशं प्राप्नोति। एतदेव सर्वं यज्ञोऽस्ति, यस्य कार्यरूपे परिणयनं कर्मसमुच्यते। अतः कर्मणः शुद्धार्थः आराधना अस्ति। कर्मण अर्थोऽस्ति भजनम्। कर्मार्थस्तु योगसाधना, योगसाधनां सम्यक् सम्पादितकरणम्, यस्य विशदं वर्णनमस्मिन्नध्यायेऽग्रे समायाति। अत्र तु कर्माकर्मणोः केवलं विभाजनमभवत्, येन कर्म कुर्वति, तस्मै कर्मकुर्वाणे यथार्थः निर्देशः दातुं भवेत् सुगमः।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अर्जुन! '**यस्य सर्वे समारम्भाः**'– येन पुरुषेण समग्रतया कृतारम्भक्रियां (यां पूर्वश्लोके वर्णितवान्- अकर्म दर्शनस्य क्षमता-समागते सति कर्मणि

प्रवृत्तः पुरुषः सम्पूर्ण कर्मणां कर्त्ताऽस्ति। यस्य कर्मविधाने लेशमात्रमपि त्रुटिर्न सम्भवा) **'कामसङ्कल्पवर्जिताः'**– क्रमश उन्नयन विधिना सूक्ष्मता भवति जागृता यद्वासना मनश्च सङ्कल्पविकल्पयोरुपरि संस्थिताः (कामनासङ्कल्पानाञ्च निरोधनं मनसः विजितावस्थाऽस्ति–अतः कर्म एतादृशमस्ति वस्तु यन्मनः कामनासङ्कल्पविकल्पानाञ्चोपरि संस्थापयति), तस्मिन् समये **ज्ञानाग्निदग्ध-कर्माणम्**– अन्तिमः सङ्कल्पस्यापि शमनेन सह, यमहं न जानामि, यस्य ज्ञानायाहमिच्छुक आसम्, तस्य परमात्मनः प्रत्यक्षं ज्ञानं सम्भवम्। क्रियात्मकपथोपरि गमनं कृत्वा परमात्मनः प्रत्यक्षबोधस्य नाम ज्ञानमस्ति। तेन ज्ञानेन सहैव **'दग्धकर्माणम्'**– कर्माणि नित्याय भवन्ति दग्धाः। यः प्राप्तव्योन्मुख आसीत् स प्राप्तवान्, अग्रे न कापि सत्ता यस्य शोधं कुर्याम्, एतेन कर्म कृत्वा कस्यान्वेषणं करवाणि? तदस्य बोधेन सह कर्मण आवश्यकतैव समाप्ता भवति। एवं स्थितिवान् बोधयुक्तान् पुरुषान् 'पण्डित' इत्युक्त्वा सम्बोधनं कृतम्। तेषां ज्ञानं परिपूर्णमस्ति। एवं स्थितियुक्तः महापुरुषः किङ्करोति? कथमाचरति? तस्याचरणोपरि प्रकाशनं करोति कृष्णः–

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।२०।।

अर्जुन! स पुरुषः सांसारिकाश्रयात् विमुक्तो भूत्वा नित्यवस्तूनि परमात्मनि तृप्तो भूत्वा कर्मफलानि परमात्मासक्तिञ्च विहाय (कुतोहि परमात्मापि साम्प्रतं भिन्नो नास्ति) सम्यग् रूपेण कर्माणि संलग्नोऽपि किमपि न करोति।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

येनान्तःकरणं शरीरञ्च विजितम्, भोगस्य सम्पूर्णा सामग्री परित्यक्ता, एवमाशारहितस्य पुरुषस्य शरीरं केवलं कर्मकुर्वन् दृष्टिपथायते। स वस्तुतः किमपि न करोति, अतएव पापं न प्राप्नोति। स पूर्णत्वप्राप्तोऽस्ति, अतएव जन्ममृत्यू न प्राप्नोति।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

स्वतः यत्किञ्चिदपि प्राप्तो भवेत् तस्मिन्नेव सन्तोषकरः, सुखदुःखयो, रागद्वेषयो, हर्षशोकयोश्च द्वन्द्वान्निवृत्तः '**विमत्सरः**'-ईर्ष्यारहितस्तथा सिद्ध्यसिद्ध्योः समभाववान् पुरुषः कर्मकृत्वापि कर्मभिर्न लिप्यते। सिद्धिरर्थात् यत् प्राप्तव्यमासीत् तत् साम्प्रतं नास्ति भिन्नं स च कदापि पृथगपि न भविष्यति, अतएवासिद्धेरपि भयं नास्ति अनेन प्रकारेण सिद्ध्यसिद्ध्योः समभाववान् पुरुषः कर्मकृत्वापि न बन्धनं लभते। कीदृशं कर्म स करोति? तदेव नियतं कर्म, यज्ञस्य प्रक्रिया। एतदेव द्रढयन् कथयति कृष्णः–

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अर्जुन! **यज्ञायाचरतः कर्म-** यज्ञस्याचरणमेव कर्मास्ति, साक्षात्कारस्य च नाम ज्ञानमस्ति। अस्य यज्ञस्याचरणं कृत्वा साक्षात्कारेण सह ज्ञाने स्थितः, सङ्गदोषात् आसक्तेश्च रहितस्य मुक्तपुरुषस्य सम्पूर्णानि कर्माणि सम्यग् रूपेण विलीनानि भवन्ति। तानि कर्माणि किमपि परिणाममुत्पादयितुं न शक्नुवन्ति, कुतोहि कर्मणां फलं परमात्मा तेन भिन्नो न स्थितः। सम्प्रति फले कीदृशं फलं लगिष्यति? अतएव तेषां मुक्तपुरुषाणां कृते स्वस्मै कर्मणः आवश्यकता समाप्ता भवति। पुनरपि लोकसङ्ग्रहार्थं ते कर्म कुर्वन्त्येव, कुर्वन्तश्चापि त एभिर्कर्मभिर्लिप्ता न भवन्ति। यदा कुर्वन्ति कर्माणि तर्हि लिप्ताः कथं न भवन्ति? अत उपरि कथयति कृष्णः–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

ईदृशानां मुक्तपुरुषाणां समर्पणं ब्रह्मास्ति, हविर्ब्रह्मास्ति, अग्निरपि ब्रह्मैवास्ति अर्थात् ब्रह्मरूपाग्नौ ब्रह्मरूपिणा कर्त्रा यद् हवनं क्रियते तदपि ब्रह्मास्ति। '**ब्रह्मकर्म समाधिना**'– यस्य कर्म ब्रह्मणः स्पर्शं कृत्वा समाधिस्थमभवत्, तस्मिन् विलयं गतम्, एतादृशः पुरुषाणाङ्कृते यत् प्राप्तव्यमस्ति तदपि ब्रह्मैवास्ति। स किमपि न करोति, केवलं लोकसङ्ग्रहाय कर्माचरति।

इदन्तु प्राप्तिवतां महापुरुषाणां लक्षणमस्ति, किन्तु कर्मणि प्रवेशं प्राप्तुं प्रारम्भिक साधकाः किन्नाम यज्ञं कुर्वन्ति?

पूर्वाध्याये श्रीकृष्ण उक्तवानासीत्– अर्जुन कर्म कुरु। किं तत् कर्म? तेनोक्तम्– नियतं कर्म, निर्धारितं कर्म विधेहि। निर्धारितं कर्म किमस्ति? तदा **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्रलोकोऽयं कर्मबन्धनः'** (३/९)– अर्जुन! यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति, एतस्मात् यज्ञादतिरिक्तमन्यत्र यत्किञ्चित् क्रियते तदस्य लोकस्य बन्धनमस्ति, न तु कर्म। कर्म तु संसारबन्धनात् मोक्षं दापयति। अतः **'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर'**– तस्य यज्ञस्य पूर्त्तये सङ्गदोषात् पृथग् भूय सम्यग् रूपेण यज्ञस्याचरणं विधेहि। अत्रैकं नूतनं प्रश्नं योगेश्वरो दत्तवान् यत् स यज्ञः किम्, यं कुर्याम्, कर्म च मत्तः पारं गच्छेत्? स कर्मणः विशेषतायां बलं दत्तवान् उक्तवाञ्च यत् यज्ञ आगतः कुतः? यज्ञः ददाति किम्? तस्य विशेषतायाः चित्रणं कृतवान्, किन्तु इदानीं यावत् नैतदुक्तवान् यत् किमस्ति यज्ञः? सम्प्रति तस्य यज्ञस्य विवेचनं करोति–

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

गतश्लोके योगेश्वरः श्रीकृष्णः परमात्मस्थितस्य महापुरुषस्य यज्ञं निरूपितवान्, किन्त्वपरे योगिनः ये साम्प्रतं तस्मिन् तत्त्वे स्थिताः नहि सन्ति, क्रियायां प्रवेष्टुकामा वर्त्तन्ते, ते आरम्भं कुतः कुर्युः? अस्मिन् सन्दर्भे कथयति यदपरे योगिजनाः **'दैवं यज्ञम्'** अर्थात् दैवीसम्पदं स्वहृदये बलवतीं कुर्वन्ति, यदर्थं ब्रह्मणः निर्देश आसीत् यदनेन यज्ञेन यूयं देवानां समृद्धिं कुरुत, यथा–यथा हृदयदेशे दैवीसम्पदोऽर्जिता भविष्यन्ति, सैव युष्माकं प्रगतिर्भविष्यति, क्रमशश्च परस्परमुन्नतिं कृत्वा परमश्रेयः प्राप्नुत। दैवीसम्पदः हृदयदेशे बलवतीकरणं प्रवेशिका श्रेणीकं योगिनां यज्ञोऽस्ति।

इयं दैवीसम्पद् षोडशाध्यायस्य प्रारम्भिकत्रिषु श्लोकेषु वर्णितास्ति, ये सन्ति साधकाः सर्वत्र महत्वपूर्णं कर्त्तव्यं सम्प्रधार्य तासां सम्पदां जागृतिं कुर्युः संलगन्तु च। इयं विषयं सङ्केतयन् योगीश्वरः कथितवान् यदर्जुन! शोकं माकार्षीः कुतोहि त्वं दैवीसम्पदं लब्धवानसि, त्वं मयि निवसिष्यसि, मम शाश्वतं स्वरूपं प्राप्स्यसि, कुतोहि इयं दैवी सम्पद् कल्याणार्थमेवास्ति, अस्याश्च विपरीता आसुरीसम्पद् नीचैरधमानाञ्च योनिनां कारणमस्ति। अस्या आसुर्याः सम्पदः हवनं भवितुमारभते, एतदर्थमयं यज्ञोऽस्ति, इतश्च यज्ञारम्भः।

अपरे योगिनः **'ब्रह्माग्नौ'**–परब्रह्मपरमात्मरूपाग्नौ यज्ञद्वारेण यज्ञस्यानुष्ठानं

कुर्वन्ति। श्रीकृष्णेनाग्रे वर्णितमस्ति यदस्मिन् शरीरे 'अधियज्ञम्' अहमेवास्मि। यज्ञानामधिष्ठातार्थात् यज्ञः यस्मिन् विलीयते, स पुरुषोऽपि अहमेवास्मि। श्रीकृष्ण आसीदेको योगी, आसीत् सद्गुरुः। इत्थमपरे योगिजनाः ब्रह्मरूपाग्नौ यज्ञस्वरूपं सद्गुरुमुद्दिश्य यज्ञमनुतिष्ठन्ते। सारांशतः सद्गुरुस्वरूपं ध्यायन्ति।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अपरे योगिजनाः श्रोत्रादीनां (श्रोत्रे, नेत्रे, त्वक्, जिह्वानासिकेत्यादि) सर्वेषामिन्द्रियाणां संयमरूपाग्नौ हवनं कुर्वन्ति, अयं भावः, इन्द्रियाणि विषयेभ्यः समाहृत्य संयतं कुर्वन्ति। नात्राग्निः ज्वलति। यथाग्नौ प्रक्षेपणे सति प्रत्येकं वस्तु भस्मसाद् भवति, तद्वत् संयमोप्यस्त्येकोऽग्निः, य इन्द्रियाणां सम्पूर्णं बहिर्मुखं प्रवाहं दहति। इतरे योगिजनाः शब्दादीन् (शब्दः, स्पर्शः, रूपम्, रसः, गन्धश्च) विषयानिन्द्रियरूपाग्नौ जुह्वति- अर्थात् तेषामाशयं परिवर्त्य साधनपरकं रचयन्ति।

साधकस्य संसारे स्थित्वा भजनं प्रमुखं कर्म। सांसारिक जनानां सदसद् शब्दाः तेन सह संघर्षन्ते। विषयोत्तेजकान् एतादृशान् शब्दान् श्रुत्वैव साधकस्तेषामाशयं योगे वैराग्यसहायकेषु वैराग्योत्तेजकेषु भावेषु परिवर्त्येन्द्रिय-रूपाग्नौ हवनं कुर्वन्ति। यथैकदार्जुनः चिन्तनरत आसीत्, अकस्मात् तस्य कर्णविवरे मधुरसङ्गीतलहरीसमापतिता। स शिर उत्थाय दृष्टवान् तदापुरत उर्वशी विद्यमानासीत्, यासीदेका वेश्या। सर्वेजनाः तस्य रूपमाधुरीमवलोक्याभव-नानन्दविभोराः किन्त्वर्जुनः तां मातृवद् ददर्श। तस्य शब्दरूपाभ्यां सम्प्राप्ताः विकाराविलीना अभवन्, इन्द्रियाणामन्तराले ते अभवन् विलुप्ताः।

अत्रेन्द्रियमेवाग्निरस्ति। अग्नौ प्रक्षिप्तं वस्तु यथा भस्मसाद्भवति तद्वदा-शयस्य परिवर्तनेनेष्टानुकूलं परिणमनेन विषयोत्तेजकाः रूपरसगन्ध-स्पर्शशब्दाश्चापि भस्मसाद् भवन्ति। साधकोपरि किमपि कुप्रभावं स्थापयितुं न क्षमन्ते। साधकः शब्दादिषु रुचिं न करोति, न ग्रहणं करोति।

अस्मिन् श्लोके 'अपरे' 'अन्ये' शब्दा एकस्यैव साधकस्योच्चावचा अवस्था वर्त्तन्ते। एकस्यैव यज्ञकर्त्तुः उच्चावचं स्तरमस्ति। न तु 'अपरे' 'अपरे' कथनेन कश्चित् पृथग् यज्ञो वर्णितः।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

इदानीं यावत् योगेश्वरः यस्य यज्ञस्य चर्चां कृतवान्, तस्मिन् क्रमशः दैवीसम्पदर्ज्यते, इन्द्रियाणां सम्पूर्णचेष्टानां संयमः क्रियते, बलात् विषयोत्तेजक-शब्दादीनां संघर्षे जाते सत्यपि तेषामाशयं परिवर्त्य तेभ्यो रक्षणं क्रियते। इत उन्नतावस्थायां जातायामपरे योगिजनाः सम्पूर्णेन्द्रियाणां चेष्टास्तथा प्राणानां व्यापारं साक्षात्कृत्य ज्ञानेन प्रकाशिते परमात्मस्थितिरूपे योगाग्नौ जुह्वति। यदा संयमस्य ग्रहणशक्तिरात्मना सह तद्रूपायते, प्राणेन्द्रियाणां व्यापारोऽपि शान्तायते तस्मिन् समये विषयानुद्दीप्तकरा इष्टे च प्रवृत्तिदापयितार इत्युभेधारे आत्मसाद्भवतः। परमात्मनि स्थितिं प्राप्नोति यज्ञस्य परिणामो निस्सरति। इयमेवास्ति यज्ञस्य पराकाष्ठा। यः परमात्मा प्राप्तव्य आसीत्, तस्यामेवस्थितौ समायातायां शेषो किमभवत्? पुनः योगेश्वरः कृष्णः यज्ञं सम्यक् रूपेण विवेचयति–

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अन्ये जनाः द्रव्ययज्ञं कुर्वन्ति अर्थादात्मपथे, महापुरुषाणां सेवासु पत्राणि पुष्पाणि चार्पयन्ति। ते समर्पणेन साकं महापुरुषाणां सेवायां द्रव्यं व्ययं कुर्वन्ति। श्रीकृष्ण अग्रे कथयति यद्भक्तिभावेन पत्राणि, पुष्पाणि, फलानि, जलानि यत् किञ्चित् मह्यमर्पयति तदहं खादामि तस्य च परमकल्याण स्रष्टा भवामि। अयमपि यज्ञोऽस्ति। प्रत्येकमात्मनः सेवाविधानं भ्रान्तानात्मपथमानयनं द्रव्ययज्ञः समुच्यते कुतोहि प्राकृतिकसंस्कारान् दग्धुमस्ति समर्थः।

इत्थमेव केचन पुरुषाः '**तपोयज्ञाः**'-स्वधर्मपालने इन्द्रियाणि तापयन्ति अर्थात् स्वभावादुत्पन्नक्षमतानुसारेण यज्ञस्य निम्नोन्नतयोरवस्थयोर्मध्ये तपन्ति। अस्य पथ अल्पज्ञतायां प्रथमश्रेणीकः साधकः शूद्रः परिचर्याद्वारा, वैश्यः दैवीसम्पद् सङ्ग्रहद्वारा, क्षत्रियः कामक्रोधादीनामुन्मूलनद्वारा, ब्राह्मणश्च ब्रह्मणि प्रवेशस्य योग्यतायाः स्तरेणेन्द्रियाणि तापयति। सर्वे समानं परिश्रमं कुर्वन्ति। वस्तुतः यज्ञ एक एवास्ति। अवस्थानुसारेणोच्चावच श्रेणयो व्यतीता भवन्ति।

'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म, ''मनसासहितमिन्द्रियं शरीरञ्च लक्ष्यानुरूपं

तापनमेव तपः समुच्यते। इमानि लक्ष्याद्दूरं पलायिष्यन्ते, इमानि समाहृत्य तत्रैव नियोजयत।''

अनेके पुरुषाः योगयज्ञस्याचरणं कुर्वन्ति। प्रकृतौ भ्रान्तस्यात्मनः प्रकृतेः परेपरमात्मना मिलनं नाम योगः कथ्यते। योगस्य परिभाषा षष्ठाध्यायस्य त्रयो-विंशतितमे श्लोके द्रष्टव्या। सामान्यतो वस्तुयुगलस्य मेलनं योगः कथ्यते। करगजेन लेखनी मिलिता, पूजनपात्रेण मेजाख्यमासनं मिलितं तर्हि किं योगः सम्पन्नः? नहि, एतत् सर्वं पञ्चभूतनिर्मितः पदार्थोऽस्ति, एकएवास्ति, कुत्र द्वयम्? द्वौ तु प्रकृतिपुरुषौ स्तः। प्रकृतौस्थितः आत्मा स्वं स्वशाश्वतरूपे परमात्मनि प्रवेशं प्राप्नोति तथा प्रकृतिः पुरुषे विलीना भवति एष एव योगः। अतः नैके पुरुषाः अस्मिन् मेलने सहायकशमदमेत्यादि नियमानां सम्यग् रूपेणाचरणं विदधति। योगयज्ञस्य कर्त्तारस्तथाऽहिंसादि कठोरव्रतयुक्ताः यत्नशीलाः पुरुषाः **'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च'**- स्वस्याध्ययनं स्वस्वरूपस्याध्ययनं कर्त्तारः ज्ञानयज्ञस्य विधातारः सन्ति। अत्र योगस्याङ्गानि (यमः, नियमः, आसनम्, प्राणायामः, प्रत्याहारः, धारणा, ध्यानम्, समाधिश्च) अहिंसादि कठोरव्रतैः निर्दिष्टः कृतो वर्त्तते। अनेके जनाः स्वाध्यायं कुर्वन्ति। पुस्तकस्य पठनन्तु स्वाध्यायस्यारम्भि-कस्तरमात्रमस्ति। विशुद्धस्वाध्यायोऽस्ति स्वस्याध्ययनम्, येन स्वरूपस्योप-लब्धिर्भवति, यस्य परिणामोऽस्ति ज्ञानमर्थात् साक्षात्कारः।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगति रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

बहवः योगिन अपानवायौ प्राणवायोः हवनं कुर्वन्ति, तथैव प्राणवायौ अपानवायोः हवनं विदधति। इतः सूक्ष्मावस्थायां जातायामन्ये योगिनः प्राणापानयोर्गतिमवरुद्ध्य प्राणायामपरायणा भवन्ति।

श्रीकृष्णः यं प्राणापान संज्ञया सूचयति महात्माबुद्धः तं 'अनापान' संज्ञया बोधयति। एतमेव तेन श्वासप्रश्वासोऽपि कथितः। प्राणस्तु स श्वासोऽस्ति यं भवानाभ्यन्तरे कर्षति, अपानश्च स श्वासोऽस्ति यं भवान् बहिः निस्सारयति। योगिनामनुभूतिरस्ति यद् भवन्तः श्वासेन सह वाह्य वायुमण्डलस्य सङ्कल्पमपि गृह्णन्ति, प्रश्वासे चान्तरिक सदसद् चिन्तनस्य च तरङ्गं बहिष्कुर्वन्ति। वाह्यगत

कस्यापि सङ्कल्पस्या ग्रहणं प्राणस्य हवनमस्ति तथाभ्यन्तरसङ्कल्पस्य बहिर्गमनान्निरोधोऽपानस्य हवनमस्ति। आभ्यन्तरतः कस्यापि सङ्कल्पस्य स्फुरणं मा स्यात्, वाह्य जगति चोदीयमानं चिन्तनमाभ्यन्तरे क्षोभं नोत्पादयेत्, इत्थं प्राणापानयोः द्वयोः गतौ समत्वे सम्पन्ने प्राणानां यमोऽर्थान्निरोधो भवति, अयमेव प्राणायामः। इयं मनसो विजितावस्था कथ्यते। प्राणानामवरोधः मनसश्चावरोध एक एव विषयः।

प्रत्येकं महापुरुषा इदं प्रकरणं गृहीतवन्तः। वेदेषूल्लेखो मिलत्यस्य– 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' (ऋग्वेद १६४/४५, अथर्ववेद ९/१५/२७) इत्यमुं विषयं पूज्यमहाराजाः कथयन्ति स्म– हो! एकमेव नाम चतसृभिः श्रेणिभिः जप्यते– वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती परा च। वैखरी वाक् तां कथयन्ति या व्यक्ता भवेत्। नाम्न इत्थमुच्चारणं भवेत् यद् भवानपि शृणोतु बहिष्ठोऽन्योऽपि शृणुयात्। मध्यमार्थात् मध्यमस्वरे जपो यं केवलं भवानेव शृणुयात्। पार्श्वस्थः व्यक्तिरपि तदुच्चारणं श्रोतुं न शक्नुयादिदमुच्चारणं कण्ठाज्जायते। शनैः–शनैः नाम्नोऽभ्यासो ध्वनिर्वा निर्मीयते तन्त्री सम्बन्धः सम्पद्यते। साधनाया अधिकाधिक सूक्ष्मत्वे सति पश्यन्ती, अर्थात् नामदर्शनस्यावस्था समायाति पुनर्नाम न जप्यते। इदन्नाम श्वासे मिश्रितं भवति। मनः द्रष्टारूपेण परिकल्प्य स्थापितं कुर्वीत, निरीक्षणं कर्त्तव्यं–श्वासः कथयति किम्? श्वास आयाति कदा, बहिर्याति कदा? महापुरुषाणां कथनमस्ति यदयं श्वासो नामातिरिक्तमन्यत् किमपि कथयत्येव नहि। साधकः नाम्नः जपं न करोति, केवलं श्वासोत्थितं ध्वनिंशृणोति, श्वासं पश्यति मात्रम्। अतएवेमां 'पश्यन्ती' कथयन्ति।

'पश्यन्ती' अस्यां मनः द्रष्टारूपेण स्थापनीयम्, किन्तु साधने समुन्नते जाते सति श्रवणस्याप्यावश्यकता न भवति। एकदा सुरतं नियोजितमात्रं कुर्यात् स्वतः श्रुतिगोचरं भविष्यति। '**जपै न जपावै, अपनै से आवै**'। स्वयं जपं मा कुरु, मनः श्रोतुं बाध्यं मा कुरु जपस्त्वनवरतगत्या चलन् स्यात्– अस्यैव नामास्ति 'अजपा'। नैवं यत् जपस्य प्रारम्भमेव नप्रकुर्यादजपा च सफला भवेत्। चेत् केनापि जपारम्भो न कृतः तदा अजपानां नाम्नः किमपि वस्तु तस्य सविधे न स्थास्यति। अजपाया अर्थोऽस्ति, अहं जपं न कुर्याम्, किन्तु जपः मम सान्निध्यं न त्यजेत्। एकदा सुरतस्य तन्त्रीं परिपूरयेत्, तदा जपः प्रवाहितो

भवेत्, अनवरतगत्या च चलन् स्यात्। अस्य स्वाभाविकजपस्य नामास्ति 'अजपा' इयञ्च 'परा वाण्याः जपः', इयञ्च प्रकृतितः परे तत्त्वे परमात्मनि प्रवेशं दापयति। इतः परं वाण्यां किमपि परिवर्तनं न भवति। परमतत्त्वस्य दिग्दर्शनं कारयित्वा तत्रैव विलीना भवति, अतएव इयं 'परा' समुच्यते।

प्रस्तुतश्लोके योगेश्वरः कृष्णः केवलं श्वासोपरि ध्यानं ध्यातुमुपादिदेश यत्त्वग्रे स्वयं ॐ (ओम्) इत्यस्य जपोपरि बलं ददाति। गौतमबुद्धोऽपि 'अनापान सत्यां' श्वासप्रश्वासयोश्चर्चां करोति। अन्ततः सः महापुरुषः किं वक्तुमीहते। वस्तुतः प्रारम्भे वैखरी, ततः मध्यमा, ततश्चोन्नते जाते जपे पश्यन्त्यवस्थायां श्वासोऽनुभूतौ समायाति। तस्मिन् समये जपस्तु श्वासे सम्मिश्रितः मेलिष्यति पुनः किञ्जपेयम्? पुनस्तु केवलं श्वासस्य निरीक्षणमेवावशिष्यते। एतस्मादेव प्राणापानमात्रं कथितम्, 'नामजप' नेत्थं कथितम्। कारणन्तु कथनस्यावश्यकतैव नास्ति। यदि कथयन्ति किञ्चित् तदा पथभ्रष्टो भूत्वा निम्नश्रेणिष्वटनं भविष्यति। महात्माबुद्धः, गुरुदेवः भगवान् तथा प्रत्येकं महापुरुषाः, ये अनेन पथा गताः सन्ति, सर्वे एकमेव तथ्यं वर्णयन्ति। वैखरी मध्यमा च नामजपस्य प्रवेशद्वारमात्रे स्तः। पश्यन्तीद्वारेण नाम्नि प्रवेशो मिलति। परायां नाम धारारूपेण प्रवहति, येन जपः सान्निध्यं न त्यजति।

मनः श्वासेन सह युक्तमस्ति। यदा श्वासोपरि दृष्टिरस्ति, श्वासे नाम मिश्रितोऽभवत्, आभ्यन्तरात् कस्यापि सङ्कल्पस्य नोत्थानं, वाह्य वायुमण्डलस्य च सङ्कल्पा आभ्यन्तरे प्रवेशं न कुर्वन्ति—इदमेव मनसोपरि विजयावस्थास्ति। एतेनैव सह यज्ञस्य परिणामः निस्सरति।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

अपरे नियताहारकर्त्तारः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति। 'पूज्यमहाराजाः' कथयन्ति स्म यद् योगिनामाहारो दृढः, आसनं दृढम्, निद्रयापि दृढया भवितव्यम्। आहारे-विहारे च नियन्त्रणमत्यावश्यकं भवति। एतादृशा नैके योगिनः प्राणानां प्राणेषु हवनं कुर्वन्ति, अर्थात् श्वासग्रहणोपरि ध्यानं केन्द्रयन्ति। प्रश्वासोपरि ध्यानं न ददन्ते। श्वासागते श्रुतम् 'ओम्' पुनः समागते श्वासे 'ओम्' इति श्रवणधारा

पूर्ववत्। अनेन प्रकारेण यज्ञद्वारा विनष्टपापा इमे सर्वे यज्ञस्य सन्ति बोद्धारः। उक्तनिर्दिष्ट विधिना चेत् कुतोऽपि यज्ञं कुर्वन्ति, तदा सर्वे यज्ञमर्मज्ञाः सन्ति। साम्प्रतं यज्ञस्य परिणामं वदति श्रीकृष्णः–

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

कुरुश्रेष्ठार्जुन! ''**यज्ञशिष्टामृतभुजः**''– यज्ञो यस्य सृष्टिं करोति, यज्ञावशेषं त्यजति तदमृतमस्ति। तस्य प्रत्यक्षं बोधं ज्ञानमस्ति। तज्ज्ञानामृतं प्राप्तकर्त्तारो योगिजनाः '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्**'– शाश्वतं सनातनं परं ब्रह्माणं लभन्ते। यज्ञोऽस्ति किमप्येतादृशं वस्तु, यः प्राप्ते पूर्णत्वे सनातने पर ब्रह्मणि प्रवेशं दापयति। यज्ञं न कुर्यां तदा कापत्तिः? श्रीकृष्णः कथयति– यज्ञरहित पुरुषेभ्यो मानवलोको मानवशरीरञ्च न सुलभायते, पुनरन्येषां लोकानां का कथा? तदर्थं तु तिर्यक् योनयः सन्ति सुरक्षिताः। इतः अधिकं नास्ति किमपि कत्थ्यम्। अतो यज्ञविधानं मानवमात्रस्य कृते नितान्तावश्यकमस्ति।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

एवमुक्तप्रकारका बहवो यज्ञा वेदेषु सन्ति वर्णिताः। ब्रह्ममुखात् विस्तारिताः सन्ति। प्राप्त्यनन्तरं महापुरुषाणां शरीरं परब्रह्म धारयति। ब्रह्माभिन्न तेषां महात्मनां बुद्धिर्मात्र यन्त्रमस्ति। तेषां माध्यमेन तद् ब्रह्मैव वदति। तेषु वाणीषु सर्वेषां यज्ञानां सविस्तारं वर्णनमस्ति।

एतान् सर्वान् यज्ञान् त्वं '**कर्मजान्विद्धि**'–कर्मणः समुत्पन्नानवेहि। एतदेव पूर्वमुक्तम् '**यज्ञः कर्मसमुद्भवः**' (३/१४)। तान् यज्ञान् क्रियात्मक–विधिनावबुद्ध्य (साम्प्रतमेवोक्तम्, यज्ञविधानेन येषां पापानि नष्टानि त एव यज्ञस्य यथार्थज्ञातारः) अर्जुन! त्वं '**विमोक्ष्यसे**'–संसारबन्धनतः पूर्णरूपेण मुक्तो भविष्यसि। अत्र योगेश्वरः कर्म सुस्पष्टवान्। स एव व्यापारः कर्म कथ्यते येनोपर्युक्तो यज्ञः पूर्यते।

सम्प्रति दैवी सम्पदः समर्जनम्, सद्गुरोर्ध्यानम्, इन्द्रियसंयमः, श्वासस्य

प्रश्वासे हवनम्, प्रश्वासस्य श्वासे हवनम्, प्राणापानयोर्गतिनिरोधः कृषिव्यापारतश्चेत् सम्भवेत्, सेवा राजनीति माध्यमेन सम्पन्नश्चेत् तर्हि करोतु भवान्। यज्ञप्रक्रिया त्वेवंभूताऽस्ति, यः प्राप्ते पूर्णत्वे तत्क्षणमेव परब्रह्मणि प्रवेशं दापयति। अपर वाह्यकार्यद्वारेण भवान् तत्क्षणं ब्रह्मणि प्रवेशं साधयति यदि तदा करोतु स्वेच्छया व्यापारादीन्।

वस्तुत इमाः सर्वा यज्ञचिन्तनस्यान्तर्भूताः क्रियाः सन्ति। आराधनाया-श्चित्रणमस्ति, यस्मिन्नाराध्यदेवः ज्ञायते। यज्ञस्तु तदाराध्यप्राप्तौ दूरीमदूरीकृत्य लक्ष्यप्राप्तेर्निर्धारिता प्रक्रियाविशेषाऽस्ति। अयं यज्ञः श्वासप्रश्वासप्राणायामादयो यया प्रणाल्या सिद्धयन्ति तस्याः कार्यप्रणाल्याः नाम कर्माऽस्ति। कर्मणः शुद्धार्थोऽस्ति 'आराधना', चिन्तनम्।

जनाः कथयन्ति यत् संसारे सर्वं कर्मजातं कर्म, कर्मकोटिमारोहति- इति दृष्ट्याऽभवत् कर्म। निष्कामभावनया यत् किञ्चित् कर्म क्रियते स तु निष्कामकर्मयोगः। कश्चित् कथयति यदधिकलाभार्थं विदेशीवस्त्रस्य विक्रयः क्रियते, तर्हि व्यापारोऽयं सकामः। देशसेवार्थं स्वदेशीवस्त्रस्य विक्रयः क्रियते चेत् तदा निष्कामकर्मयोगः। निष्ठापूर्वकसेवा विधानेन हानिलाभयोश्चिन्तामुक्तो भूत्वा कृतो व्यापारः निष्कामकर्मयोगः। जय-पराजययोर्भावनामुक्ताश्चेत् युद्धं कुर्यात्कश्चित् निर्वाचने प्रविशेत् तदा जातः निष्कामकर्मयोगः? मरणानन्तरं मुक्तिर्भविष्यति? वस्तुतः सर्वमेतदलीकम्। योगेश्वरः कृष्णः समादिदेश यदस्मिन् निष्कामकर्मयोगे निर्धारिता क्रिया एकैवास्ति। '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।**' अर्जुन! त्वं निर्धारितं कर्म विधेहि। यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्माऽस्ति। किमस्ति यज्ञः? श्वासप्रश्वासयोर्हवनम्, इन्द्रियसंयमः, यज्ञस्वरूप महापुरुषस्य ध्यानं, प्राणायामः-प्राणनिरोधः। इयमेव मनस विजेतावस्था अस्ति। मनस एव प्रसारः जगदुच्यते। श्रीकृष्णस्यैव शब्देषु '**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**'। (५/१९)- तैः पुरुषैश्चराचरजगदिदमत्रैव जितम्, यस्य मनः समत्वे स्थितमस्ति। मनसः समत्वेन जगतः जयेन च कः सम्बन्धः? यदि जगत् विजितमेव तर्हि को जातः निरोधः? तदा कथयति, तद् ब्रह्म निर्दोषं समं चास्ति, अत्र तु मनः निर्दोषं समत्वयुक्तं चाभवत्, अतः तन्मनः ब्रह्मणि स्थितो भवति।

सारांशतः मनसः प्रसार एव संसारः। चराचरजगदेव हवनसामग्रीरूपेण वर्त्तते। मनसः सर्वथा निरोधे जाते सति जगतो निरोधो भवति। मनसः निरोधेनैव सह यज्ञस्य परिणामः हस्तगतो भवति। यज्ञः यं सृजति तस्य ज्ञानामृतपानकर्त्तारः पुरुषाः सनातने ब्रह्मणि निविशन्ते। एतत्सर्वं यज्ञजातं ब्रह्मस्थितैः महापुरुषैः वर्णितमस्ति। नैतत् यत् पृथक्-पृथग् सम्प्रदायस्य साधकाः भिन्न-भिन्न प्रकारेण यज्ञं कुर्वन्ति, प्रत्युदिमे सर्वे यज्ञाः साधकानामुच्चैःनीचैरवस्थाः सन्ति। अयं यज्ञः यया क्रियया निष्पद्येत् तस्याः क्रियायाः नाम कर्मास्ति। सम्पूर्णायां गीतायामेकोऽपि श्लोको नैतादृशो वर्त्तते, यः सांसारिक कार्यव्यापाराणां समर्थनं विदध्यात्।

प्रायः यज्ञस्य नाम्नः समायाते सति जनाः क्वचिदेकां यज्ञवेदीं विरच्य तिलं, यवं गृहीत्वा 'स्वाहा' पदमुच्चारयन् हवनं प्रारभन्ते। इदमेकं छलमस्ति। द्रव्ययज्ञस्तु सर्वथैतत् भिन्नोऽस्ति, यं श्रीकृष्ण अनेकधोदीरितवान्, किन्तु पशु-बलिः, वस्तुदाहइत्यादिभिः सह यज्ञस्य कोऽपि सम्बन्धो नास्ति।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अर्जुन! सांसारिकद्रव्यैः सिद्धिं गतस्य यज्ञस्यापेक्षया ज्ञानयज्ञः (यस्य परिणामः ज्ञानस्य (साक्षात्कारः) अस्ति। यज्ञः यस्य सृष्टिं करोति, तस्यामृत-तत्त्वस्य तत्त्वावबोधं नाम ज्ञानमस्ति-एतादृशः यज्ञः) श्रेयस्करोऽस्ति, परम-कल्याणकारकोऽस्ति। हे पार्थ! सर्वाणि कर्माणि ज्ञाने विलीयन्ते, '**परिसमाप्यते**'-सम्यक् रूपेण समाहिताः भवन्ति। ज्ञानं यज्ञस्य पराकाष्ठाऽस्ति। तत्पश्चात् कर्मविधानेन न कोऽपि लाभः, कर्मत्यागेन च तस्य महापुरुषस्य न काऽपि हानिः।

इत्थं भौतिकद्रव्यैः सम्पद्यमानः यज्ञोऽपि यज्ञः कथ्यते, किन्तु तस्य यज्ञस्य तुलनायां यस्य परिणामः साक्षात्कारोऽस्ति, तस्य ज्ञानयज्ञस्या-पेक्षयात्यल्पोऽस्ति। भवान् कोटिरूप्यकैर्हवनं करोतु, शताधिकाः यज्ञवेदीः रचयतु, सत्पथे द्रव्यं व्येतु, साधु-सतां महापुरुषाणां सेवायां द्रव्यं व्ययं करोतु, किन्त्वस्य ज्ञानयज्ञस्यापेक्षयात्यन्ताल्पोऽस्ति। वस्तुतः यज्ञः श्वासप्रश्वासयोरस्ति, इन्द्रिय-

संयमस्यास्ति, मनसः निरोधस्यास्ति, यथा साम्प्रतमेव श्रीकृष्णः उक्तवान्। इमं यज्ञं कुतः प्राप्तं कुर्यात्? तस्य विधिं कुतः शिक्षेत्– मन्दिरेषु, मस्जिदेषु, गिरजाघरेषु प्राप्स्यति तथा पुस्तकेषु वा? तीर्थयात्रासु मेलिष्यति स्नानेन वा? श्रीकृष्णः कथयति– नहि, तस्य तु एकमेव स्रोतो वर्त्तते तत्त्वस्थितः महापुरुषः, यथा–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

अतएवार्जुन! त्वं तत्त्वदर्शिनो महापुरुषस्य सन्निधौ गत्वा सम्यक् रूपेण प्रणतो भूत्वा (दण्डवत् प्रणामं कृत्वा, अहङ्कारं त्यक्त्वा, शरणागतो भूत्वा), विधिवत् सेवां कृत्वा, निष्कपटभावेन प्रश्नङ्कृत्वा तज्ज्ञानमवेहि। ते तत्त्वज्ञाः ज्ञानीजनाः त्वां तज्ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति, साधनापथे चालयिष्यन्ति। समर्पितभावेन सेवाकरणानन्तरमस्य ज्ञानस्य शिक्षणाय सामर्थ्यमायाति। तत्त्वदर्शिनः महापुरुषाः परमतत्त्वपरमात्मनः प्रत्यक्षं दिग्दर्शनं कर्त्तारः सन्ति। ते यज्ञस्य विधिविशेषस्य ज्ञातारः सन्ति, ते च त्वं शिक्षयिष्यन्ति। यदि कृष्णोक्तभिन्नो यज्ञोऽभविष्यत् तर्हि ज्ञानिनां तत्त्वदर्शिनामावश्यकतैव नाभविष्यत्?

अर्जुन भगवतः कृष्णस्य समक्षमेवासीत् पुनरपि कृष्णः तत्त्वदर्शिनः सन्निधौ किमर्थं प्रेषयति? वस्तुतः कृष्ण आसीदेको योगी। तेषामयमाशयो यदद्य तु सानुरागो अर्जुनो मम समक्षमुपस्थितोऽस्ति, भविष्येऽनुरागिणां क्वचिद् भ्रमो मा भवेत् यत् कृष्णस्तु गतः, इदानीं कस्य शरणं गच्छेम? एतदर्थं तेन स्पष्टीकृतं यत् तत्त्वदर्शिनः सविधे याहि। ते ज्ञानीजनाः त्वामुपदेक्ष्यन्ति। तथा च–

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

तज्ज्ञानं तेषां माध्यमेन समवबुद्ध्य त्वं नेत्थं कदापि मोहं प्राप्स्यसि। तेभ्यः प्राप्त ज्ञानेन तस्य कार्यान्वयनेन त्वं स्वात्मनोऽन्तराले सम्पूर्णं भूतजातं द्रक्ष्यति अर्थात् सर्वेषु प्राणिष्वस्यात्मनः प्रसारमवलोकयिष्यसि। यदा

सर्वत्रैवैकस्यैवात्मनः द्रष्टुं क्षमता समागमिष्यति, तदनु त्वं मयि प्रवेक्ष्यसि। अतः तस्य परमात्मनः प्राप्तेः साधनं तत्त्वस्थितमहापुरुषाणांद्वारैवास्ति। ज्ञानस्य सम्बन्धे, धर्मस्य शाश्वतसत्यस्य च सम्बन्धे श्रीकृष्णानुसारेण कमपि तत्त्वदर्शिनं प्रश्नस्य विधानमस्ति।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।३६।।

यदि त्वं सर्वेभ्यः पापेभ्योप्यधिकपापकर्त्ताऽसि, तदापि ज्ञानरूपनौकया सर्वेभ्यः पापेभ्यो निस्सन्देहं पारमवतरिष्यसि। अस्याशयस्य भवानयं भावं न स्वीकरोतु यदधिकाधिकं पापं कृत्वाऽपि तरिष्यामि। श्रीकृष्णस्याशयस्यायं भावः यद् भवतां मनसि नायं भ्रमो भवेत्– 'अहं महान् पापोऽस्मि, नाहं पारं गमिष्यामि'– एतादृशीं काञ्चित् सुविधां न निस्सारयेत्, अतएव श्रीकृष्णः प्रोत्साहनमाश्वासनञ्च ददाति यत् सर्वपापेभ्यो पापसमूहादपि अधिकपापकर्त्ता भवेत्, पुनरपि तत्त्वदर्शिभ्यः प्राप्तज्ञानरूपया नौकया त्वं निस्सन्देहं सम्पूर्णेभ्यः पापेभ्यः सम्यक् रूपेण पारं पारयिष्यसि। केन प्रकारेण?–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

अर्जुन! येन प्रकारेण प्रज्ज्वलिताग्नि इन्धनं भस्मसात् करोति तद्वत् ज्ञान–रूपाग्निः सर्वाणि कर्माणि प्रदाहयति। इयं ज्ञानस्य प्रवेशिका नास्ति, यतः यज्ञस्य प्रवेशो मिलति। उद्वा इदं ज्ञानं साक्षात्कारस्य पराकाष्ठायाः चित्रणमस्ति, यस्मिन् ज्ञाने पूर्वं विजातीय कर्माणि भस्मसात् भवन्ति पुनश्च प्राप्त्या सह चिन्तनकर्माण्यपि तस्मिन्नेव विलीयन्ते। यः प्राप्तव्यमासीत् तत्प्राप्तम्। सम्प्रत्यग्रे चिन्तनङ्कृत्वा किमन्वेषयामि? एतादृशः साक्षात्कारयुक्तः ज्ञानीपुरुषः सर्वेषां शुभाशुभ कर्मणां समापनं करिष्यति। सः साक्षात्कारः क्व भविष्यति? बहिर्भविष्यत्याभ्यन्तरेवा? अत उपरि कथयति कृष्णः–

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

अस्मिन् संसारे ज्ञानसदृशं पवित्रकरणे समर्थं निस्सन्देहं न किमप्यस्ति। तस्य ज्ञानस्य (साक्षात्कारम्) त्वं स्वयं (नान्यः) योगस्य परिपक्वावस्थायां (आरम्भे नहि) स्वात्मान्तराले, हृदयदेशएवानुभविष्यसि, न बहिः। एतस्य ज्ञानस्य कृते का योग्यताऽपेक्षिता वर्त्तते? योगेश्वरस्यैव शब्देषु—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

श्रद्धावान्, तत्परस्तथा संयतेन्द्रिय पुरुषः एव ज्ञानं प्राप्तुं शक्नोति। भावपूर्वकः जिज्ञासा नहि, तदा तत्त्वदर्शिनः शरणं गते सत्यपि ज्ञानं नहि प्राप्यते। केवला श्रद्धैव पर्याप्ता नास्ति, श्रद्धावान् शिथिलप्रयासोऽपि भवितुं शक्नोति। अतः महापुरुषाणांद्वारा निर्दिष्ट पथोपरि तत्परतापूर्वकमग्रेसरताया अत्यावश्यकताऽस्ति। अनया साकं सम्पूर्णेन्द्रिय संयमः अनिवार्योऽस्ति। यः वासनाभिर्नास्ति विरतः, तदर्थं साक्षात्कार (ज्ञानस्य) प्राप्तिरस्ति कठिना। केवलं श्रद्धावान्, आचरणरतः संयतेन्द्रिय पुरुष एव ज्ञानं प्राप्नोति। प्राप्तज्ञानः असौस्तत्क्षणमेव परमशान्तिं लभते, यदनन्तरं किमपि प्राप्तव्यं नावशिष्यते, इयमेव अन्तिमा शान्तिरस्ति, पुनः कदाप्यशान्तो न भवति। यत्र च नास्ति श्रद्धा?—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

ये ज्ञानरहिताः यज्ञस्य विधिविशेषादनभिज्ञाः सन्ति एवं श्रद्धारहितास्तथा संशययुक्तपुरुषा अस्मात् परमार्थपथः भवन्ति भ्रष्टाः तेष्वपि संशययुक्तपुरुषेभ्यः न तु सुखमस्ति, न पुनः मानवशरीरमस्ति, न च परमात्मलाभः। अतः तत्त्वदर्शिनः महापुरुषस्य सविधे गत्वा एतत्पथगत संशयानां निवारणमत्यावश्यकम्, अन्यथा ते वस्तुनः परिचयं कदाऽपि न लप्स्यन्ते। पुनः प्राप्नोति कः?—

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।४१।।

येषां कर्माणि योगद्वारेण भगवति समाहिताः सन्ति, यस्य सम्पूर्णं संशयं परमात्मनः प्रत्यक्षबोधेन विनष्टं जातम्, परमात्मसंयुक्तान् एवंदृशान् पुरुषान्

कर्माणि न बध्नन्ति। योगद्वारेणैव कर्मणां शमनं भवति। ज्ञानेनैव संशयोच्छेदो भविता। अतः कृष्णः कथयति–

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

अतएव भरतवंशिन् अर्जुन! त्वं योगे स्थितो भव अज्ञानेन चोत्पन्नान् हृदये संस्थितान् स्वसंशयान् ज्ञानरूपखड्गेन छिन्धि। युद्धाय सन्नद्धो भव। यदा साक्षात्कारे बाधकः संशयरूप शत्रुः मनस अन्तराले वर्त्तते, तदा बहिः कोऽपि केन सह योत्स्यति? वस्तुतः यदा भवान् चिन्तनपथि भवत्यग्रेसरः, तदा संशयरूपेणोत्पन्नाः वाह्यप्रवृत्तयः बाधारूपेण स्वभावतः समायान्ति। इमाः प्रवृत्तयः शत्रुरूपेण भयङ्करमाक्रमणं कुर्वन्ति। संयमेन सह यज्ञस्य विधिविशेषस्याचरणं कुर्वन्नेभ्यः विकारेभ्यः पारं गमनमेव युद्धमस्ति। यस्य परिणामः परमशान्तिरस्ति। अयमेवान्तिमो विजयो यदनु पराजयो नास्ति।

निष्कर्षः–

अस्याध्यायस्यारम्भे योगेश्वरः कृष्ण उक्तवान्– इमं योगमादावहं सूर्यं प्रत्यकथयम्। सूर्यः मनुम्, मनुरिक्ष्वाकुं प्रति जगाद ततः राजर्षयश्च ज्ञातवन्तः। अहमथवाव्यक्तस्थितिवद्भिरुक्तम्। महापुरुषोऽप्यव्यक्तस्वरूपवानेवास्ति। शरीरन्तुतस्यावासाय भवनमस्ति। एतादृश पुरुषाणां वाण्यां परमात्मैव प्रवाहितो भवति। एवंभूतात् कस्माच्चित् महापुरुषात् योगः सूर्यद्वारा सञ्चारितो भवति। तस्य परमप्रकाशरूपस्य प्रसारः सुराया अन्तराले भवति, एतदर्थं सूर्यं प्रति कथितवान्। श्वासे सञ्चारिताः सन्तस्ते संस्काररूपे परिणमन्ते। सुरायां सञ्चितायां सत्यां, प्राप्ते समये तदेव मनसि सङ्कल्पो भूत्वागच्छति। तस्य महत्वं ज्ञाते सति मनसि तद्वाक्यं प्रति जागर्तीच्छा, स च योगः कार्यरूपं दधाति। क्रमश उत्थानं कृते सति योगोऽयं ऋद्धि-सिद्धीनां राजर्षिश्रेणीञ्च प्राप्ते सति पतनस्य स्थितिं स्पृशति, किन्तु ये सन्तिप्रियभक्ताः, अनन्य सखायश्च, तान् महापुरुषाः सम्भालयन्ति।

अर्जुनस्य प्रश्ने कृते सति, भवतः जन्म त्विदानीमभवत्। योगेश्वरः श्रीकृष्णः

कथितवान् यदहमव्यक्तः, अविनाशी, अजन्मा, सम्पूर्णभूतेषु प्रविष्टोऽप्यात्ममायया, योगप्रक्रियाद्वारा स्वकीयां त्रिगुणमयीं प्रकृतिं वशमानीय प्रकटयामि। प्रकटो भूत्वा करोमि किम्? साध्यवस्तूनां परित्राणं कर्त्तुं तथा येभ्यः दूषणान्युत्पद्यन्ते, तेषां विनाशाय परमधर्म परमात्मानं स्थिरं कर्त्तुमहमारम्भतः समाप्तिपर्यन्त-मवतरामि। मम जन्मकर्म च दिव्येस्तः। तत्केवलं तत्त्वदर्शिन एव ज्ञातुं पारयन्ति। भगवत आविर्भावस्तु कलियुगस्यावस्थात् एव भवति, यदि सत्यानुरागो भवेत्, किन्तु प्रारम्भिकः साधकः नशक्नोति ज्ञातुं यदयं भगवानेव ब्रवीति उद्वा कुतः सङ्केताः मिलन्ति। आकाशतः कः वदति। 'महाराजः' कथयति स्म, यद्भगवान् कृपाङ्करोति, रथीरूपेणात्मानं प्रस्तौति, तदा स्तम्भतः, वृक्षतः, शून्यतः, किमधिकं कणकणतः प्रादुर्भवति, सम्भालयति च। जाते सत्युत्थाने यदा परमात्मतत्त्वं विदितं भवेत् तदैव स्पर्शेण सह स्पष्टमवबुद्ध्यते सः। अतएवार्जुन! मम तत्स्वरूपं तत्त्वदर्शिनः दृष्टवन्तः, ज्ञात्वा च मां तत्क्षणमेव मयि प्रविष्टाः भवन्ति, यतः पुनर्गतागतं न भवति तेषाम्।

अनेन प्रकारेण कृष्णो भगवत आविर्भावस्य विधिमवदत् यत् स कस्यचिदनुरागिणः हृदये भवति न कदापि बहिः। श्रीकृष्णेनोक्तं यत् कर्माणि मां न बध्नन्ति, इत्थं च ये जानन्ति तानपि कर्म न बध्नाति। एतज्ज्ञात्वा मुमुक्षुपुरुषाः कर्मारम्भं कृतवन्तः यत् तत् स्तरेण ज्ञास्यामः यथा श्रीकृष्णः तद्वदुक्तस्तरेण ज्ञातवान् स पुरुषः ज्ञाते सति च तद्वत् स मुमुक्षुः अर्जुन। इयमुपलब्धिः सुनिश्चिता यदि यज्ञः निष्पन्नो स्यात्। यज्ञस्य स्वरूपमुक्तं यज्ञस्य परिणामः परमतत्त्वमुक्तं परमशान्तिश्चवर्णिता कृष्णेन। एतस्य ज्ञानस्य प्राप्तिः कुतः सम्भवा? अस्मिन् सन्दर्भे तत्त्वदर्शिनां सविधे गमनं पूर्वोक्त विधानेनाचरणञ्च कर्त्तुमुक्तवान् येन ते महापुरुषा अनुकूला भवेयुः।

योगेश्वरेण स्पष्टं कृतं यत् तज्ज्ञानं त्वं स्वाचरणेन प्राप्स्यसि। अपरस्याचरणेन न ते कोऽपि लाभः। तदपि ज्ञानं योगसिद्धिकाले मेलिष्यति, नादौ। तज्ज्ञानं (साक्षात्कारः) हृदयदेशे भविष्यति न तु बहिः। श्रद्धालुः, तत्परः, संयतेन्द्रियः, संशयरहितः पुरुष एवेदं ज्ञानं प्राप्तुं शक्नोति। अतः हृदये संस्थितं स्वकीयं सर्वं संशयं वैराग्यस्य तरवारिणा छिन्धि। इदं हृदयदेशस्य युद्धमस्ति। वाह्ययुद्धेन

सह गीतोक्त युद्धस्य नास्ति किमपि प्रयोजनम्।

अस्मिन्नध्याये योगेश्वरः कृष्णः मुख्यरूपेण यज्ञस्य स्वरूपं स्पष्टं कृतवान् उक्तवांश्च यत् यज्ञो येन पूर्यते, तस्य विधानस्य (कार्यप्रणाल्याः) नाम कर्मास्ति। अस्मिन्नध्याये सम्यक्कर्म व्याख्यातम्, अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'यज्ञकर्मस्पष्टीकरणम्' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्येण स्वामिना अड़गड़ानन्देन कृते 'यथार्थगीता' भाष्ये 'यज्ञकर्मस्पष्टीकरणम्' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

तृतीयेऽध्यायेऽर्जुनः प्रश्नं प्रास्तौत् यद् भगवन्! यदा भवान् ज्ञानयोगं श्रेष्ठं मनुते, तदा मां भयङ्करे कर्मणि किमर्थं विनियोजयति? अर्जुनाय निष्काम-कर्मयोगापेक्षया ज्ञानयोगः किञ्चित् सुगमः प्रतीयते। कुतोहि ज्ञानयोगे पराजिते सति देवत्वं, विजये सति महामहिमस्थितिप्राप्तिः, उभयोर्दिशयोर्लाभएव लाभः प्रकल्प्यते। किन्तु साम्प्रतं यावदर्जुनः सम्यग् रूपेण प्रबोधं लब्धवानासीत् यदुभयोर्मार्गे कर्मविधानमावश्यकमस्ति। (योगेश्वरस्तं तत्त्वदर्शिनो महापुरुषस्य शरणमपि ग्रहीतुं प्रेरयति, कुतोहि बोधाय तदेवैकं स्थानमस्ति।) अत उभयोर्मार्गयोरेकतरस्य चयनायार्जुनः पूर्वं निवेदनं कृतवान् —

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

हे श्रीकृष्ण! भवान् कदाचित् सन्न्यासमाध्यमेन विधेयानां कर्मणां पक्षे कदाचिन्निष्कामदृष्ट्याविधेयानि कर्माणि प्रशंसन्ति। अनयोर्द्वयोर्मध्यत एको यः सम्यक् प्रकारेण भवता निश्चयः कृतो भवेत्, यश्च मदर्थं परमकल्याणकरो भवेत्, तमेव मां ब्रूहि। क्वचिद् गच्छन्तं भवन्तं मार्गद्वयं कश्चिन्निर्दिशेत्तदा भवान् सुगमं मार्गं निश्चयरूपेण प्रक्ष्यति। यदि न पृच्छति भवान् तदाऽनुमीयते यद् भवान् नास्ति गमनेच्छुः। अत उपरि योगेश्वरः कृष्णो ब्रूते—

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अर्जुन! सन्न्यासमार्गेण विधीयमानं कर्म अथवा ज्ञानमार्गेण विधीयमानं कर्म च '**कर्मयोगः**'– निष्कामभावनया विधीयमानं कर्म इत्युभेऽपि परमश्रेयो दापयत्रिणी, परन्तु मार्गद्वयापेक्षया, सन्न्यासदृष्ट्याऽथवा ज्ञानदृष्ट्या विधीयमान–कर्मापेक्षया निष्कामकर्मयोगः श्रेष्ठोऽस्ति। प्रश्नः स्वाभाविकोऽस्ति श्रेष्ठः कथम्?

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

महाबाहो अर्जुन! यो न कमपि द्वेष्टि न किमप्याकांक्षते, सदैव स सन्न्यासी बोद्धुमर्हः। कामं स ज्ञानमार्गेण वा निष्कामकर्ममार्गेण सम्बद्धः कथं न भवेत्। रागद्वेषादि द्वन्द्वेभ्यो मुक्तः स पुरुषः सुखपुर्वकं भवबन्धनान्मुक्तो भवति।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

निष्कामकर्मयोगं ज्ञानयोगञ्चोभयं पृथक्–पृथग् निर्दिशति येषां गतिरस्मिन् पथि नितरां स्वल्पा वर्त्तते, न तु पूर्णज्ञः पण्डितोजनः कुतोहि द्वयोरेकस्मिन्नपि सम्यक् परिपक्वः पुरुषः द्वयोरपि फलस्वरूपं परमात्मानं लभते। उभयोर्फल–मेकमेवास्ति अतएव द्वौ समानौ।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

यत्र सांख्यदृष्ट्या कर्मकुर्वाणः सम्प्राप्नोति, तत्रैव निष्काममाध्यमेनाऽपि कर्म कुर्वन् याति। अतएव यो द्वौ फलप्राप्तिदृष्ट्या एकमेव पश्यति सएव यथार्थज्ञः। यदोभावपि स्थानमेकं प्राप्नुतस्तदा निष्कामकर्मयोगे विशेषता कथम्? श्रीकृष्णः कथयति–

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

अर्जुन! निष्कामकर्मयोगस्याचरणं विना '**सन्न्यासः**'-सर्वस्वस्य न्यास–प्राप्तिः दुःखप्रदा भवति। यदा योगाचरणस्यारम्भो नैव सम्प्राप्तस्तदा

सर्वथाऽसम्भवः प्रतीयते। अतएव भगवत् स्वरूपस्य मनने मग्नो मुनिर्यस्य मनसा युतानि सर्वेन्द्रियाणि सन्ति मौनी भूतानि, निष्कामकर्मयोगस्याचरणं कृत्वा परब्रह्म परमात्मानं यथाशीघ्रं प्राप्नोति।

स्पष्टमस्ति ज्ञानयोगे निष्कामकर्मयोगस्याचरणं करणीयं भविष्यति, कुतो हि द्वयोस्तु क्रिया एकैवास्ति। सैव यज्ञस्य क्रिया वर्त्तते, यस्याः शुद्धोऽर्थः "आराधना" अस्ति। उभयोर्मार्गयोरन्तरं केवलं कर्त्तुर्दृष्टिकोणस्यास्ति। एकस्तु स्वशक्तिमवबुद्ध्य लाभहानिञ्चाकलयन्नस्मिन् कर्मणि प्रवर्त्तते, द्वितीयश्च कर्मयोगी इष्टोपरि समर्पितो भूत्वास्यां क्रियायां नियुज्यते। उदाहरणं प्रस्तूयते यत् एकः छात्रो व्यक्तिगतरूपेणाधीते द्वितीयो पञ्जिकायामुट्टङ्कितो नामा वर्त्तते। द्वयोः पाठ्यविषय एक एव, परीक्षाऽप्येका, परीक्षक-निरीक्षकौ द्वयोरेकएवस्तः। तथैवानेन प्रकारेणोभयोः सद्गुरुस्तत्त्वदर्शी योग्यताप्रमाणपत्रमप्येकम्। केवलमुभयोरध्ययनस्य दृष्टिकोणे पृथकता वर्त्तते। आम् ! संस्थागतछात्रस्याध्ययने सौविध्याधिक्यम्।

पूर्वं कृष्णेनोक्तं यत् कामक्रोधौ दुर्जयौ वैरिणौ स्तः। अर्जुन! त्वमिमौ जहि। अर्जुनो व्यचिन्तयत् यत् कठिनं कार्यमेतत्। किन्तु श्रीकृष्णः कथितवान्-नहि, शरीरात् पराणीन्द्रियाणि, इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः परा बुद्धिः, बुद्धेः परं तव स्वरूपम्। त्वं तत्प्रेरितोऽसि। अनेन प्रकारेण स्वास्तित्वं विज्ञाय स्वशक्तिं पुरतः प्रस्तूय, स्वावलम्बनमधिकृत्य कर्मणि प्रवर्त्तनं ज्ञानयोगोऽस्ति। श्रीकृष्णेनोक्तमासीत्, चित्तं ध्यानस्थीकृत्य कर्मणि मयि समर्प्याशाममतासन्ताप-रहितो भूत्वा युद्धं कुरु। समर्पणेन सहेष्टे निर्भरो भूत्वा कर्मणि प्रवृत्तिर्निष्काम कर्मयोगः कथ्यते। उभयोः क्रियैका, परिणामश्च एक एव।

अत्र बलं ददानः श्रीकृष्णः कथयति, योगस्याचरणं विना संन्यासस्यार्थात् शुभाशुभकर्मणामन्तिमास्थितेः प्राप्तिरसम्भवा। श्रीकृष्णस्यानुसारेण नैतादृशः कोऽपि योगः यद् हस्तोपरिहस्तं निधाय सुखासीनः कथयेदहं परमात्माऽस्मि, शुद्धोऽस्मि, बुद्धोऽस्मि, मह्यं न कर्माऽस्ति न बन्धनमस्ति। सदसत् कर्मरतोऽहं वर्त्ते तदा इन्द्रियाण्यपि स्वविषये विचरन्ति। एतादृशः पाखण्डः श्रीकृष्णोपदेशेषु कदाऽपि न मिलति। साक्षात् योगेश्वरोऽपि स्वसुहृदर्जुनं ऋते कर्मेमां स्थितिं

दातुं न शशाक। यद्येवं स कर्त्तुं प्रभवेत् चेत्तर्हि गीतायाः कावश्यकता? कर्मतु करणीयमेवास्ति। कर्मकृत्वैव संन्यासस्थितिं प्राप्तुं शक्नुयात्। योगयुक्तपुरुषः शीघ्रमेव परमात्मस्थितिं प्राप्नोति। योगयुक्तपुरुषस्य लक्षणं किमस्ति? अत उपरि ब्रूते कृष्णः—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

'**विजितात्मा**'—यस्य शरीरं विशेषरूपेण जितमस्ति, '**जितेन्द्रियः**'- यस्येन्द्रियाणि वशमानीतानि, '**विशुद्धात्मा**'- विशेषरूपेण यस्यान्तःकरणं शुद्धमस्ति, एवम्भूतः पुरुषः '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**'—सर्वेषां प्राणिनामात्मनो-मूलोद्गमपरमात्मनः एकीभावभूतो योगेन युक्तोऽस्ति। अयं पुरुषः कुर्वन्नपि कर्म न कर्मणि लिप्तो भवति। तर्हि कर्म करोति किमर्थम्? पृष्ठानुगामिनां हेतवे, परमकल्याणकरस्य बीजस्य सङ्ग्रहार्थम्। लिप्तो कथं न भवति? कुतोहि सर्वेषां प्राणिनां यो हि मूलोद्गमः, यस्याभिधानं परमतत्त्वमस्ति, तस्मिन् तत्त्वे सोऽभवत् स्थितः। अग्रे किमपि वस्तु जातन्नाऽस्ति, यस्य शोधं करणीयमस्ति। पृष्ठस्थानि वस्तूनि जातानि लघुतराणि, तर्हि कस्मिन्नासक्तिं विदधीत्? एतस्मात् स न भवति कर्मावृतः। इदं चित्रणमस्ति योगयुक्तस्य पराकाष्ठायाः। पुनश्चित्रयति योगयुक्तानां दिनचर्याम्, यत् स्वीकुर्वन्नपि कर्मणि न तत्र विलिप्तो भवति?—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

परमतत्त्वपरमात्मानः ससाक्षात्कारो जानानानां योगयुक्तपुरुषाणामियं मनःस्थितिअर्थादनुभूतिरस्ति यदहं किञ्चिन्मात्रं किमपि न करोमि। नेयं तस्य कल्पना प्रत्युत् कर्मविधानानन्तरं तस्योपलब्धिः, यथा '**युक्तो मन्येत**' साम्प्रतं परमतत्त्व प्राप्तेरनन्तरं स सर्वं श्रृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, शयानः, गृह्णन्, व्यजन्, नेत्राणि विस्फारयन् निमीलयन्नपि तस्येन्द्रियाणि स्वार्थे वर्त्तन्ते, एवं

धारणायुक्तो भवति। तस्य कृते परमात्मन अधिकं नास्ति किमपि, यदा स परमात्मनि समाश्रितोऽस्ति तर्ह्यपरस्य सुखस्य कस्य कामनया कस्याऽपि स्पर्शादिकं करिष्यति। चेत् काचिच्छ्रेष्ठायाः वस्तुनः स्यादस्तित्वं तदासक्तेः प्रसरः सम्भवः स्यात्, किन्तु प्राप्तेरनन्तरमिदानीमग्रे क्व गमिष्यति? पृष्ठे त्यक्ष्यति च किम्? अतएव योगयुक्तपुरुषो न लिप्यते। इमं विषयमेकस्योदाहरणद्वारा प्रस्तौति—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

कमलं पङ्के प्रादुर्भवति, तस्य पत्रं सलिलोपरि तरति। ऊर्मयो दिवानिशं तदुपरितः गतागतं कुर्वन्ति; किन्तु भवान् पत्राणि पश्यतु शुष्कमेव मेलिष्यति। जलस्यैको विन्दुरपि तत्पत्रोपरि स्थातुं न शक्नोति। पङ्कसलिलयोः सम्पर्के स्थितमपि कमलं पङ्कसलिलाभ्यां न लिप्यते। तद्वत् यः पुरुषः सर्वाणि कर्माणि परमात्मनि विलीय तथासक्तिं विहाय कर्म करोति सोऽपि कमलवत् लिप्तो न भवति। पुनः स करोति किम्? भवतां हिताय, समाजस्य कल्याण साधनाय च उत्तरवर्त्तिनां प्राणिनां मार्गदर्शनाय च। अस्मिन् विषये कथयति कृष्णः—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

योगीजनः केवलं मनोबुद्धीन्द्रियशरीरैश्चासक्तिं विहायात्मशुद्ध्यर्थं कर्म कुर्वन्ति। यदा कर्माणि ब्रह्मणि विलीनान्यभवन् तदा किं साम्प्रतमप्यात्मा अशुद्धैवास्ति? नहि, ते सर्वे साधकाः 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' अभूवन्। सर्वेषु प्राणिषु ते साधकाः निजात्मनः प्रसारं परिपश्यन्ति। तेषां सर्वेषामात्मनां शुद्ध्यर्थं, भवतां मार्गदर्शनार्थं ते कर्माणि प्रवर्त्तन्ते। स साधकः शरीरेण, मनसा, बुद्ध्या तथा केवलेन्द्रियैः स कर्म करोति, स्वरूपतः किमपि न करोति स तिष्ठति च स्थिरः सर्वदा। वाह्यदृष्ट्या स सक्रियः दृश्यते, किन्तु तस्याभ्यन्तरे बहुतरा शान्तिरस्ति। रज्जुरभवद्दग्धः किन्तु वक्रता मुक्ता न जाता, येन बन्धनं भवितुं नार्हति।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

'योगयुक्त' अर्थात् प्राप्तयोगपरिणामाः पुरुषाः सर्वेषां प्राणिनामात्मनो मूले संस्थितः। यः परमात्मा विद्यते तत्रैव सोऽपि भवति समाश्रितः, एवंभूतः योगी कर्मफलं त्यक्त्वा (कर्मणां फलं परमात्मा न तद्भिन्नोऽस्ति) नैष्ठिकीं शान्तिमाप्नोति। यदग्रे शान्तेः न काऽपि स्थितिः, यदनु स कदाप्यशान्तो न भवति। किन्त्वयुक्तः पुरुषः यः योगपरिणामयुक्तो नास्ति, इदानीं मार्गएव वर्त्तते– एतादृशः पुरुषः फले समासक्तः '**कामकारेण निबध्यते**'–कामनया निबध्यते– अर्थात् पूर्तिपर्यन्तं कामनाः जागृताः भवन्ति, अतः पूर्तिपर्यन्तं साधकेन सावधानेन वर्तितव्यम्। महाराजः कथयति स्म– ''हो, तनिकौ हम अलग, भगवान् अलग हैं तो माया कामयाब हो सकती है।'' (अहं पृथग् भगवान् पृथगिति बोधे माया साधकं पातयति साधकस्य कृते श्व एव ईश्वरस्य प्राप्तेरनुभवः किन्त्वद्य एव ज्ञानहीनोऽस्ति। अतः पूर्तिपर्यन्तं साधकः सावधानो भवेत्। अत उपरि द्रष्टव्यमग्रे–

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

यः साधकः सम्पूर्णरूपेण स्ववशोऽस्ति, यः शरीरात्, मनसः, बुद्धेः, प्रकृतितश्च परे स्वस्मिन् स्थितोऽस्ति, एतादृशः वशीपुरुषः निःसन्देहं न किमपि करोति न च कारयति। पृष्ठानुगामीजनैः किमपि कारयन्नपि तस्यान्तरिक शान्तौ न काऽपि बाधोत्पद्यते। एवंदृशः स्वरूपस्थः पुरुषः शब्दादि विषयान् प्रापयितुं नवद्वारयुतैः (श्रोत्रद्वययुते, नेत्रद्वयसहिते, नासिका विवरद्वयसम्वलिते, एकस्य मुखस्य सत्वे उपस्थ–पायुर्युगल विशिष्टे) शरीररूपे गृहे सर्वाणि कर्माणि मनसा परिहाय स्वरूपानन्द एव स्थितौ वर्त्तते। यथार्थतः स न किमपि करोति न च कारयति।

अमुं विषयमेव श्रीकृष्णः अन्यप्रकारेण प्रतिपादयति यत् स प्रभुर्न करोति न च कारयति। सद्गुरुः, भगवान्, प्रभुः, स्वरूपस्थ महापुरुषः एते सर्वे शब्दाः परस्परपर्यायवाचिनः सन्ति। पृथकतः कोऽपि भगवान् किमपि कर्त्तुं नायाति। स यदा किमपि करोति, तदा पूर्वोक्त स्वरूपस्थेष्टस्य माध्यमेन कारयति। महापुरुषाणां कृते शरीरं गृहमात्रमस्ति। अतः परमात्मनः महापुरुषस्य च कर्त्तृत्वमेकमेवाऽस्ति, कुतोहि स महापुरुषः परमात्मनः परिरक्षितोऽस्ति। वस्तुतः

स पुरुषः कुर्वन्नपि किमपि न करोति। अस्मिन्नेव विषये द्रष्टव्योऽग्रे–

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

स प्रभुर्न भूतप्राणिनां कर्त्तृत्वस्य, न कर्मणां, न कर्मफलस्य च संयोगं संयोजयति, प्रत्युत् स्वभावे स्थितायाः प्रकृतेः प्रभावानुसारेणैव सर्वे प्रवर्त्तन्ते। यस्य पुरुषस्य सात्विक, राजसी च प्रकृतिर्भवति, तेनैवस्तरेण स प्रवर्त्तते। प्रकृतिस्तु बहुविशालाऽस्ति किन्तु भवत उपरि तावन्तमेव प्रभावं तनोति, यावान् भवतः स्वभावो विकसितो विकृतो वा वर्त्तते।

प्रायः जनाः कथयन्ति यत् कर्त्ता कारयिता च भगवानेवास्ति, अहन्तु यन्त्रमात्रमेवास्मि, मद्द्वारा भगवान् स्वेच्छयोचितमनुचितञ्च कारयेत्। किन्तु योगेश्वरः कृष्णः कथयति– स प्रभुः स्वयं न करोति न कारयति, न संयोगं संयोजयति च, जनाः स्वस्वभावस्थ प्रकृत्यनुसारेण वाहयन्ति दिनचर्याम्। स्वतः कार्यं कुर्वन्ति। ते सर्वे स्वाचाराभ्यासात् विवशाः भूत्वा कुर्वन्ति, न तु करोति भगवान्। तदापि जनाः कथं कथयन्ति यत् कर्त्ता भगवान्? अत उपरि योगेश्वरो ब्रूते–

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

इदानीं यः प्रभुः कथितः तमेव साम्प्रतं विभुः कथितः, कुतोहि स सम्पूर्ण-वैभवसंयुक्तोऽस्ति। प्रभुतया वैभवेन च संयुक्तः स परमात्मा न कस्यापि पापकर्माणि न च कस्यापि पुण्यकर्माणि संदधाति, पुनरपि जनाः कथमित्थं कथयन्ति? अतएव यदज्ञानद्वारा ज्ञानं पिहितमस्ति। ते साक्षात्कारसहितं ज्ञानं नलभेयुः। ते साम्प्रतं मात्र सन्ति जन्तवः। मोहविवशीभूय ते वक्तुं शक्नुवन्ति। ज्ञानेन किं भवति? एतदेव स्पष्टयति–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

यस्यान्तःकरणस्य तदज्ञानम् (यद् द्वारेण ज्ञानं पिहितम्), आत्मसाक्षात्कार-माध्यमेन यदा विनाशितमित्थमज्ञानं विनाश्य ज्ञानं येन प्राप्तं तस्य तद् ज्ञानं सूर्यवत् तत् परमतत्त्वपरमात्मनः प्रकाशनं करोति। तर्हि किं कस्याप्यन्धकारस्य नाम परमात्माऽस्ति? नहि, स तु रात्रिं दिवं स्वयं प्रकाशरूपोऽस्ति। अस्ति तु स्वयं प्रकाशः; किन्तु ममोपभोगार्थं नास्ति, न दृष्टिगोचरो भवति। यदा ज्ञानद्वारेण अज्ञानस्यावरणं विच्छिद्यते, तदा तस्य तद् ज्ञानं सूर्यवत् परमात्मानं स्वस्मिन् प्रवाहयति। पुनस्तस्य पुरुषस्यकृते न कुत्रापि अन्धकारलेशः। तस्य ज्ञानस्य स्वरूपं कीदृशम्?—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

यदा तस्य परमतत्त्वपरमात्मनः समनुकूलाबुद्धिर्भवेत्, तत्त्वस्यानुरूपं प्रवाहयुक्तं भवेन्मनः, परमतत्त्वे परमात्मनि सदैवैकीभावेन भवेत् तस्य दिनचर्या, परायणताऽपि तदनुकूला भवेत्, एतस्यैव नाम ज्ञानमस्ति। ज्ञानं नास्ति प्रलापवादविवादयोश्च परिच्छिन्नम्। एतस्य ज्ञानस्य माध्यमेन पुरुषः पापरहितः सन् पुनरागमनरहितः परमगतिं प्राप्नोति। परमगतिं प्राप्तः पूर्णज्ञानयुतः पुरुष एव पण्डितः समुच्यते। अग्रे द्रष्टव्यम् —

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

ज्ञानप्राप्तिद्वारेण येषां पापराशेः सामस्त्येन शमनं सम्पन्नमस्ति, ये अपुनरावर्तीं परमगतिं प्राप्तवन्तः सन्ति, एतादृशाः ज्ञानिजनाः विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे तथा चाण्डाले, गविशुनि च तथा हस्तिनि समदृष्टयो भवन्ति। तेषां दृष्टौ विद्याविनयसंयुक्तो ब्राह्मणो न तु कामपि विशेषतां धारयति, चाण्डालश्च न कापि हीनतामावहति। न गौः धर्मोऽस्ति, न कुक्कुरो अधर्मः, न च गजः विशालतामादधाति। एतादृशाः पण्डिताः, ज्ञातारः जनाश्च समदर्शिनः समवर्तिनश्च भवन्ति। तेषां दृष्टिः चर्मणि न स्थिरायते, प्रत्युदात्मनि प्रभवति। अन्तरन्तु केवलमियदेवास्ति, विद्याविनयसम्पन्नः ब्राह्मणः स्वरूपस्य सान्निध्यं स्पृशति,

अपरे च शेषाः किञ्चित् पृष्ठस्था वर्त्तन्ते। कश्चित् लक्ष्यस्य पारं सन्निहितो वर्त्तते, कश्चिच्च लक्ष्यस्यादिमं सोपानं लङ्घयितुं प्रयतते। तेषां दृष्टौ वस्त्रस्य वेशभूषायाश्च नास्ति महत्त्वमपितु साधकस्य शरीरे स्थिते आत्मनि सम्पतति। अतः ते न भेदं स्वीकुर्वन्ति।

श्रीकृष्णः पर्याप्तं गोसेवां कृतवानासीत्। तेन गांप्रति गौरवपूर्णं सम्मानजनकं वचनं कथनीयमासीत्; किन्तु तेनैतादृशं न किमपि कथितम्। श्रीकृष्णः गां धर्मक्षेत्रे न किमपि स्थानं दत्तवान्। तेन केवलमेतदेव स्वीकृतं यदन्यजीवानामिव गव्यप्यात्मा राजते। गोरार्थिकं महत्वं यत्किमपि भवेत्, तस्याः धार्मिकं वैशिष्ट्य वर्णनं परवर्तीनां जनानामनुदानमस्ति। श्रीकृष्णः पूर्वं कथितवानासीत् यदविवेकिनां बुद्धिरनन्तशाखायुता भवति, अतएव ते बहुक्रियाणां विस्तारं विदधति। प्रदर्शनपूर्णशोभायुक्तवाण्यां ते तद् वर्णयन्ति। तेषां वचसां प्रभावः येषां चेतसि समायाति तेषामपि बुद्धिर्विनष्टा भवति। ते न किमपि प्राप्नुवन्ति प्रत्युत् नश्यन्ति। यदाहि निष्कामकर्मयोगे अर्जुनं सम्बोधयन् कथयति- अर्जुन! निर्धारित क्रियैकैवाऽस्ति–'यज्ञस्य प्रक्रिया–आराधना'। गवि, कुक्कुरे, गजे, पिप्पले, नद्याञ्च धार्मिकमहत्वस्यानन्तशाखा निष्पादनं तेषामेव विवेचनमस्ति, यद्येषां किमपि धार्मिकमहत्वमपेक्षितं स्यात् तदा कृष्ण अवश्यमेव वर्णनमकरियिष्यत्। आम्, मन्दिराणि मस्जिदाश्च पूजास्थलरूपेण चिरकालतोऽवश्यमेव सन्ति, अत्र प्रेरणादायकः सामूहिकोपदेशो भवति एवन्तेषामुपयोगिताऽवश्यमेव वर्त्तते। तेषां धर्मोपदेशकेन्द्रत्वेन वर्त्तते गणना।

प्रस्तुत श्लोके पण्डितयुगलस्य चर्चा वर्त्तते। एकः पण्डितस्तु सोऽस्ति, यः पूर्णज्ञ अपरश्च विद्याविनयसम्पन्नोऽस्ति। तौ द्वौ कीदृशौ? वस्तुतः प्रत्येकं श्रेण्या द्वे सीमानौ भवतः। एका तु श्रेष्ठतम सीमपराकाष्ठा, अपरा च निम्नतम–परिधिप्रवेशिका कथ्यते। उदाहरणार्थं भक्तेः निम्नतमा परिधिः सा कथ्यते, यतः भक्तेरारम्भो भवति। स मनोयोगं विवेकवैराग्यसाधनेन सह यदाराधनां करोति, अधिकतमा परिधिश्च साऽस्ति, यत्र भक्तिः स्वपरिणामं दातुं समर्थायते। वस्तुत इत्थं ब्राह्मणश्रेणी विद्यते। यदा ब्रह्मणि प्रवेशयितुं सामर्थ्यं हस्तामलकायते तस्मिन् समये विद्याविनयौ प्रभवतः। मनसः शमनम्, इन्द्रियाणां दमनम्, अनुभवस्य सूत्रपातः, संचारः, धारावाही चिन्तनम्, ध्यानसमाध्योः दृढास्थितिः

ब्रह्मणि प्रवेशयितुं सकला योग्यताः साधकस्यान्तराले स्वाभाविकरूपेण कार्यसम्पादने भवन्ति समुद्यताः। इयं ब्राह्मणत्वस्य निम्नतमावधिरस्ति। उच्चतमा परिधि तदायाति, यदा क्रमश उन्नयनं लभन् स ब्रह्मणोदिग्दर्शनं कृत्वा ब्रह्मण्येव विलीयते। यदासीत् ज्ञातव्यं तद् ज्ञातम्। अपुनरावृत्तिवन्तः महापुरुषा विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, चाण्डाले, कुक्कुरे, गजे, गवि च समानदृष्टिवन्तो भवन्ति कुतोहि तेषां दृष्टिः हृदयस्थात्मस्वरूपोपरि याति। एवंभूता महापुरुषाः परमगतौ किं लब्धवन्तः, कथञ्च? अत उपरि प्रकाशं कुर्वन् सन् योगिराजः श्रीकृष्णः कथयति–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

येषां पुरुषाणां मनः समत्वे संस्थितमस्ति, तैर्जीवितावस्थायामेवाखिलं जगत् स्ववशे कृतम्। मनसः समत्वस्य संसारस्य जयेन कः सम्बन्धः? संसारस्तु यदा विनष्टस्तदा तस्य पुरुषस्य क्व स्थिति? श्रीकृष्णः कथयति, '**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**'– तद् ब्रह्म निर्दोषं समञ्चास्ति, इतस्तु तेषां मनोऽपि निर्दोषं समस्थितिवत् जातम्। '**तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः**'– अतएवाऽसौ साधको ब्रह्मणि स्थितो भवति। अस्यैवनामापुनरावर्ती परमगतिरस्ति। कदेयं प्राप्तुं शक्या? यदा शत्रुस्वरूपं जगत् जितं स्यात्। संसारः कदा जेतुं सम्भवो भवति? यदा मनसो भवेन्निरोधः स्यात् समत्वे प्रवेशो लभेत् (कुतोहि मनसः प्रसारमेवाऽस्ति जगत्)। यदा तन्मनो ब्रह्मणि स्थितं भवति, तदा ब्रह्मविदः किमस्ति लक्षणम्? तस्य स्थितिं वर्णयति–

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राय चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

तस्य न कश्चित् प्रियो न च कश्चिदप्रियः। अतएव जनाः यद्वस्तु प्रियं जानन्ति तद्वस्तु प्राप्त्वा न प्रसीदन्ति, यद्वस्तु जनाः अप्रियं मन्यन्ते (यथा धर्मावलम्बिनश्चिह्नयन्ति) तल्लब्धानोद्वेगवान् भवति सः। एवं स्थिरबुद्धिः संशयरहितो ब्रह्मयुक्तो ब्रह्मवेत्ता च परात्परब्रह्मणि सदैव भवति स्थितः।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

वाह्य संसारस्य विषयभोगेष्वनासक्तः पुरुष अन्तरात्मनि स्थितः सन् यत् सुखं वर्त्तते, तत् सुखं लभते। स पुरुषो '**ब्रह्मयोगयुक्तात्मा**'– परब्रह्म परमात्मना सह मिलनेन युक्त आत्मावानस्ति, अतएव सोऽक्षयानन्दमनुभवति, यस्यानन्दस्य न कदाऽपि भवति क्षयः। अस्यानन्दोपभोगः कः कर्त्तुं शक्नोति? यो वाह्य विषयभोगेष्वनासक्तः। तर्हि किं भोग बाधकोऽस्ति? भगवान् कृष्णः कथयति–

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

केवलं चर्मैव स्पर्शं न करोति, सर्वाणीन्द्रियाणि स्पर्शं कुर्वन्ति। दर्शनं नेत्रस्यास्ति स्पर्शः, श्रवणं कर्णस्यास्ति स्पर्शः। इत्थमेवेन्द्रियविषयोः संयोग–प्रभवाः सर्वे भोगाः यद्यपि भोगे प्रियाः लगन्ति, किन्तु ते सर्वे निःसन्देहरूपेण दुःखद योनिनां सन्ति हेतवः। इमे भोगाएव योनिनां कारणानि सन्ति, एतदैव नहि, ते भोगाः जन्यन्ते विनश्यन्ति च। अतः कौन्तेय! विवेकिनः पुरुषा तेषु भोगेषु न भवन्त्यासक्ताः। इन्द्रियाणामस्मिन् स्पर्शे मिलति किम्? कामः, क्रोधः, रागः, द्वेषश्च। अत उपरि कथयति कृष्णः–

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

अतएव ये मनुष्याः शरीरनाशात् पूर्वमेव कामक्रोधादिभिरुत्पन्नान् वेगान् सोढुं सन्ति समर्थाः, ते नराः (रमणरहिताः) सन्ति। त एवास्मिन् लोके योग–युक्ताः सुखिनश्च सन्ति। यस्य पृष्ठेनाऽस्ति दुःखम्, स पुरुषः सुखे परमात्मनि वा स्थितिवान् कथ्यते। जीवितावस्थायामेव परमात्मतत्त्वस्य प्राप्तेर्विधानमस्ति न तु मरणोत्तरम्। कबीरोऽमुमेव विषयं स्पष्टं कृतवान्– '**अवधू जीवित में कर आसा**'। तर्हि किं मरणानन्तरं मुक्तिर्न भवति? कथयति कबीरः–

'**मुए मुक्ति गुरु कहे स्वारथी, झूठा दै विश्वासा।**' इदमेव योगेश्वर श्रीकृष्णस्य कथनमस्ति यद् विद्यमाने शरीरे, मरणात्पूर्वं यः कामक्रोधयोः वेगमवरोद्धुं समर्थोऽभवत् स एव पुरुष अस्मिन् लोके योगी कथ्यते, स एवास्ति सुखी। कामक्रोधौ वाह्यस्पर्शाश्च सन्ति शत्रवः। एतान् जयतु भवान्। अस्यैव पुरुषस्य लक्षणं पुनः वर्णयति कृष्णः–

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

यः पुरुषोऽन्तरात्मनि सुखानुभवी, अन्तरात्मनि रमणशीलः, अन्तरात्मनि प्रकाशवान् स योगी ब्रह्मणासहैकीभूय वाणीतः परं शाश्वतं ब्रह्मसाक्षात्करोति। अर्थात् पूर्वं कामक्रोधादि विकाराणामन्तः, पुनः दर्शनम्, पुनः प्रवेशः। अग्रे पश्यत–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

परमात्मनः साक्षात्कारं कृत्वा येषां पापं नष्टमभवत्, येषां संशयो नष्टः, सर्वेषां प्राणिनां हिते रताः ये सन्ति (प्राप्तिवन्तः इत्थमेव कर्तुं शक्नुवन्ति। यः स्वयं गर्ते पतितो विद्यते सोऽपरान् कथं निस्सारयिष्यति। अतएव महापुरुषाणां स्वाभाविको गुणः करुणा भवति) तथा '**यतात्मानः**'– जितेन्द्रिया ब्रह्मवेत्तारः पुरुषाः शान्तं परब्रह्म प्राप्नुवन्ति। तेषां महापुरुषाणां स्थितौ पुनः प्रकाशं करोति–

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

कामक्रोधरहिताः, जितचित्ताः, कृतपरमात्मसाक्षात्काराः ज्ञानी पुरुषाः सर्वतः शान्तं परब्रह्म लभन्ते। भूयोभूयो योगेश्वरः श्रीकृष्णस्तेषां पुरुषाणां दिनचर्यां प्रसारयति यतः प्रेरणा मिलेत्। प्रश्नः पूर्णतां गतः। साम्प्रतं स पुनः बलं ददाति यदुक्तां स्थितिं प्राप्तं कर्त्तुमावश्यकमङ्गंश्वासप्रश्वासयोश्चिन्तनमस्ति। यज्ञस्य प्रक्रियायां प्राणस्यापाने हवनम्, अपानस्य प्राणे हवनम्, प्राणापानयोर्द्वयोर्गति–निरोधं स वर्णितवान्। तदेव सम्बोधयति–

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

अर्जुन! वाह्य विषयाणां, दृश्याणां चिन्तनमकुर्वन् तान् सन्त्यज्य, नेत्रयोः दृष्टिधारां भृकुट्योर्मध्ये संस्थाप्य ('भ्रुवोरन्तरे' इतस्य वाक्यस्य नायमर्थो यत् नेत्रमध्ये, भृकुटिमध्ये च क्वचिदवलोकनस्य भावनया दृष्टिपातो भवेत्। भृकुटि मध्ये, इति वाक्यस्य शुद्धार्थस्त्वेतावानस्ति यत् ऋज्वासनासीने सति दृष्टिर्भृकुट्योर्मध्यतः साधुरूपेण पुरतः सम्पतेत्। दक्षिणे वामे तथेतउतश्चकितो न विलोकयेत्। नासिकाया अग्रभागोपरि ऋज्वीं दृष्टिं केन्द्रयन् (क्वचिन्नासिकाया अग्रभागावलोकने न लगेत्) नासिकाया अन्तराले विचरतः प्राणवायूनपानवायूंश्च समीकृत्यार्थात् दृष्टिस्तु पूर्ववत् स्यात् सुरतन्तु श्वासे नियोजय, चिन्तय कदा श्वासो गतवानाभ्यन्तरे, कियत् कालं यावत् स्थितः, (अनुमानतः सेकेण्डर्धं श्वासो विरमति, श्वासं प्रयासेन न रोधव्यः।) कदा श्वासो बहिर्गतः, कियत्कालं यावदासीद् बहिः। नाऽस्ति वक्तुमावश्यकता तत् श्वासे तरङ्गयितो नामध्वनिः श्रुतिपथ गोचरी भविष्यति। अनेन प्रकारेण श्वासे-प्रश्वासे च यदा सुरतिः संसक्ता भविष्यति तदा शनैः-शनैः श्वासो अचलः सन् स्थिरतामेष्यति। नाभ्यन्तरतः संकल्पोत्पत्तिर्न च वाह्य संकल्पा आभ्यन्तरे संघर्षं कर्त्तुं शक्ष्यन्ति। वाह्यभोगानां चिन्तनन्तु वाह्यत एव निरस्तमासीत्, इत्थमाभ्यन्तरे चाऽपि न संकल्पोत्थानम्। तैलधारावत् सुरतमविच्छिन्नावस्थां प्राप्नोति। तैलस्यधारा सलिलवत् विन्दुरूपेण न च्योतति प्रत्युदविच्छिन्नधारारूपेण स्रवति। इत्थं प्राणापानयोर्गतौ समत्वं संस्थाप्येन्द्रियाणि मनश्च विजित्येच्छाभयक्रोधेभ्यः सदा मुक्तो मननस्य चरमां पराकाष्ठां प्राप्तो मोक्षैकलक्ष्यो मुनिः सदा मुक्त एव। मुक्तो भूत्वा स कुत्र याति? किं लभते? अत उपरि कथयति योगेश्वरः-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

स मुक्तः पुरुषो यज्ञानां तपसाञ्च भोक्तारं निखिलब्रह्माण्डानामी-श्वराणामपीश्वरं समस्त जीवलोकस्य निःस्वार्थहितैषिणं ज्ञात्वा मन्वानश्च परं शान्तिं प्राप्नोति। श्रीकृष्णः कथयति, तस्य पुरुषस्य श्वासप्रश्वासयोर्यज्ञस्य तपसश्च भोक्ता अहमेवाऽस्मि। यज्ञास्तपांसि चान्ते यत्र विलीयन्ते तदहमस्मि। स मां प्राप्नोति। यज्ञान्ते यस्याभिधानं शान्तिरस्ति, तत् मम स्वरूपमस्ति। स मुक्तः

पुरुषो मां जानाति ज्ञाते सति च मां लभते। एतदेव नाम शान्तिः। यथाहमीश्वराणामीश्वरोऽस्मि सोऽपि तथैव।

निष्कर्षः–

अस्याध्यायस्यारम्भे प्रश्नाः कृता अर्जुनेन यत् हे योगीश्वर! कदाचित् श्रीमता निष्कामकर्मयोगस्यानुमोदनं कदाचिच्च संन्यासमार्गेण कर्मविधानस्य प्रशंसा कृता। अत उभयोरेकतरं यद् भवतां सुनिश्चितं मतं स्यात् परमकल्याण–कारकञ्च तत्कथयतु। भगवता श्रीकृष्णेनोत्तरितं यत् कल्याणन्तूभयथा। उभयत्र सैव यज्ञस्य निर्धारिता क्रियैव सम्पाद्यते। पुनरपि निष्कामकर्मयोगो विशेषतां दधाति। निष्कामकर्मयोगं विना शुभाशुभकर्मणामन्तो न भवति। संन्यासस्तु न मार्गं प्रत्युल्लक्ष्यस्यास्ति नाम। योगयुक्त एव संन्यासी कथ्यते। योगयुक्तस्य लक्षणं पूर्वमुदीरितं यत् यो योगयुक्तः स प्रभुः। सो न करोति न च कारयति, प्रत्युत् प्रकृतिप्रभावानुरूपतो जना व्यस्ताः दृश्यन्ते। यो मां साक्षात् जानाति, सैव ज्ञाताऽस्ति, स एव पण्डितः। यज्ञस्य परिणामरूपेण मां जानन्ति। श्वास–प्रश्वासयोः जपयज्ञ तपसाञ्च यत्र विलयो भवति तदहमेवाऽस्मि। यज्ञस्य परिणामस्वरूपं मामवबुद्ध्य यां शान्तिं लभन्ते सोऽप्यहमेवास्मि। अर्थात् श्रीकृष्णवत्स्वरूपं सामर्थ्यञ्चापि सो लभते यः श्रीकृष्णस्य सारूप्यं प्राप्नोति, स साधकोऽपि सर्वेश्वरः आत्मवान् च भवति। स परमात्मनासहैकीभावमासादयति। अस्मिन्नध्याये निरूपितं यत् यज्ञानां तपसाञ्च भोक्तृमहापुरुषाणामन्तराले विद्यमाना शक्तिर्महेश्वर उदीर्यते। अत–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ''यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थमहेश्वरः'' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

इति श्रीमत् परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थ–महेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

संसारे धर्मव्याजेन जना अनन्तां रीतिं प्रथां सम्प्रदायबाहुल्यञ्च चालयित्वा समाजस्यासह्यं पतनं कर्त्तुमारभन्ते तदा कुरीतीनां शमनायैकस्यैवेश्वरस्यास्तित्वं स्वीकारयितुं कस्यचित् महापुरुषस्य भवत्याविर्भावः। क्रियात्यागं कृत्वा संन्यस्तकर्माणः श्रीकृष्णकाले ज्ञानिन समुच्यन्ते स्म। अतएव श्रीकृष्ण अस्मिन्नध्याये चतुर्थवारं क्रमेण स्वयं प्रश्नमादौ संस्थापयति यज्ज्ञानयोगस्य तथा निष्कामकर्मयोगस्य चानुसारेण कर्मविधानं विधेयमेवाऽस्ति।

द्वितीयाध्याये कृष्णेनोक्तमासीत् यदर्जुन! क्षत्रियस्यकृते युद्धादुत्तमं नाऽस्ति किमपि कर्म धरातले। अस्मिन् युद्धे पराजये जाते सति देवत्वम्, जये तु महामहिमामण्डिता स्थितिः– एवं ज्ञात्वा युद्धं कुरु। अर्जुन! अयमुपदेशस्त्वदर्थं ज्ञानयोगाय कथितः। कीदृशोपदेशः? एतदेव यद्युद्धं कुरु। ज्ञानयोगो नैतादृशोऽस्ति यत् करोपरि करं निधाय मौनमालम्बेत्। ज्ञानयोगः स्वस्य लाभालाभयोराकलनं कृत्वा, स्वशक्तिमवबुद्ध्य कर्मणि प्रवर्तितुं प्रेरयति यदा प्रेरयिता महापुरुष एवाऽस्ति। ज्ञानयोगे युद्धविधानमनिवार्यमस्ति।

तृतीयाध्याये प्रापृच्छदर्जुनः यन्निष्कामकर्मयोगापेक्षया ज्ञानयोगः श्रेष्ठतरोऽस्ति, तर्हि घोरयुद्धकर्मणि मां किमर्थं विनियोजयति? अर्जुनाय निष्काम–कर्मयोगः कठिनमलगत्। अस्मिन् विषये कृष्णेन प्रतिपादितं यदुभौ पन्थानौ मयैवोक्तौ किन्तु कस्मिन्नपि पथि कर्मत्यागं विधाय नास्ति गमनस्य विधानम्। नैतत् सम्भवो यत् कर्मणामारम्भेन विना नैष्कर्म्यें सिद्धिः प्राप्नुयात् न च कृतारम्भकर्मणां त्यागेन परमां सिद्धिञ्च प्राप्नोति। उभयोः मार्गयोः सुनिश्चितं कर्म यज्ञस्य प्रक्रिया करणीया भविष्यति।

इदानीमर्जुनः सम्यगवगतवान् यज्ज्ञानमार्ग-निष्कामकर्मयोगयोर्मध्यतः कोऽपि पन्थाः प्रियः प्रतीयेत् किन्तूभयत्र कर्मानुष्ठानमनिवार्यम्। पुनः पञ्चमाध्याये पृच्छत्यर्जुनः, यत् फलदृष्ट्या कः श्रेष्ठः? विधिदृष्ट्या सुगमश्च कः? कृष्णेनोत्तरित-मुक्तश्चार्जुन! उभौ पन्थानौ श्रेयस्करौ तथा चैकमेव स्थानमुभौ प्रापयतः। पुनरपि सांख्यापेक्षया निष्कामकर्मयोगः श्रेष्ठः, कुतोहि निष्कामकर्मणः आचरणं विना न कोऽपि संन्यासीतिपदवीमलङ्कर्त्तुं शक्नोति। उभयत्र कर्मैकमेवाऽस्ति। अतः सुस्पष्टमस्ति यन्निर्धारित कर्मानुष्ठानं विना कश्चिदपि संन्यासी न भवितुं शक्नोति, न च कोऽपि योगी। केवलं मार्गेऽस्मिन् गच्छतां दृष्टिकोणद्वयमस्ति यत् पृष्ठे वर्णितम्।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

योगीश्वरः श्रीकृष्णः प्रोवाच– अर्जुन! कर्मफलाश्रयरहितो भूत्वाऽर्थात् कर्मसम्पादनसमये कामपि प्रकारिकां कामनामधारयन् यः 'कार्यं कर्म' कर्त्तुं योग्यं प्रक्रियाविशेषयुक्तं कर्म करोति, स एव सन्न्यासी स एव योगी। क्रियास्तु सन्ति नैकास्तासु 'कार्यम्' कर्म कर्त्तुं योग्याः क्रियाः, '**नियतं कर्म**'-निर्धारिता काचित् क्रियाविशेषा, साऽस्ति यज्ञस्य प्रक्रिया, यस्यास्ति शुद्धोऽर्थः-आराधना, या आराध्य देवेषु प्रवेशं दापयितुं विधिविशेषः समुच्यते। तद् विधिविशेषस्य कार्यान्वयनं कर्मोच्यते। यस्तत् करोति स संन्यासी स च योगी। केवलं ये पावकस्पर्शं त्यक्तारः 'नाऽहं स्पृशाम्यग्निम्' उद्वा कर्मविधानस्य परित्यक्तारः 'मदर्थं किमपि न करणीयमहमात्मज्ञानवानस्मि' एवं ब्रूयात् कर्मारम्भं न विदधीत्, कर्त्तुमुचितं क्रियाविशेष व्यापारं न समाश्रयेत् तदानाऽसौ संन्यासी न च योगी। अतः परं द्रष्टव्यम्–

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अर्जुन! यं जनाः संन्यासं कथयन्ति तमेव त्वं योगं जानीहि, कुतोहि

सङ्कल्पानां त्यागेन विना कोऽपि पुरुषो योगी न भवति, अर्थात् कामनानां त्यागो द्विविधमार्गानुनायिनां कृते परमावश्यकः। तदा सरलः पन्थाः, यत् कश्चिद् वदेत् नाहं संकल्पं करोमि, एतेनाऽभवत् संन्यासी योगी च। श्रीकृष्णः कथयति नैवं कदाऽपि–

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

योगमारोढुमिच्छोर्मननशीलपुरुषस्य कृते योगस्य प्राप्तौ कर्मविधानमेव कारणं भवति, योगस्य चानुष्ठानं मुहुर्मुहुः कुर्वन् यदा स परिणामप्रदानस्य स्थितावाव्रजेत्, तस्यां योगारूढतायाम् '**शमः कारणमुच्यते**'–सम्पूर्ण-सङ्कल्पानामभाव एव कारणं भवति। इतः पूर्वं सङ्कल्पाः सान्निध्यं न जहति। अपि च–

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

यस्मिन् समये पुरुष इन्द्रियाणां भोगेषु न भवत्यासक्तो न तु कर्मणिभवत्यासक्तः (योगस्य परिपक्वावस्थायां प्राप्याग्रे कस्यान्वेषणं करवाणि? अतो नियत कर्माराधनायाः नावशिष्यते प्रसङ्गः। अतएव स कर्मस्वपि नासक्तः) तस्मिन् काले '**सर्वसङ्कल्पसंन्यासी**'– सर्वसंकल्पाभावो वर्त्तते। सैव संन्यासः, सैव योगारूढता। पथि संन्यास नामकं नास्ति किमप्यपरं वस्तु। अनया योगारूढतया को लाभः?–

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अर्जुन! मनुष्याणां कर्त्तव्यमस्ति यन् मानवा आत्मनः समुद्धारमात्मना कुर्युः। स्वात्मानमधोगतिं मा प्राप्नुयुः। कुतो ह्ययं जीवात्मा स्वयमेव निज मित्रमस्ति, अयमेव च स्वशत्रुरपि कथ्यते। कदा शत्रुर्भवति कदा च मित्रम्? अत उपरि कथयति–

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

येन जीवात्मना मनः शरीरेन्द्रियाणि वशीकृतानि, तस्य कृते तस्य जीवात्मा मित्रं बोध्यम्। यस्यात्मना मनसि शरीरे तथेन्द्रियेषु न प्राप्तो विजयः स जीवात्मा शत्रुवत् प्रवर्त्तते।

उपर्युक्तश्लोकद्वये कृष्ण एकमेव तथ्यं प्रकाशयति यदात्मनात्मानं समुद्धरेत्, तमधोगतिं न प्रापयेत्, कुतोहि आत्मैवास्ति मित्रम्। सृष्टावन्योनशत्रुर्नमित्रम्। कथम्? येनात्मना मनसासहितेन्द्रियाणि जितानि, तदर्थं तदात्मा मित्रमपरिमित कल्याणकारकश्च। एतद्विपरीत आत्मा शत्रुस्वरूपः। स शत्रु स्थानीयात्मा नाना नीच योनिषु यातनाषु च प्रापयति। प्रायः जनाः कथयन्तः मिलन्ति यत् 'अहमात्माऽस्मि' गीतायां लिखितमस्ति– ''नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि', नाग्निर्दग्धुं क्षमः, न पारयति शोषितुं पवनः। नित्योऽयम्, अपरिवर्तनशीलः, शाश्वत एवं प्रकारक आत्मा मयि वर्त्तते।'' ते गीतायामेतासु पङ्क्तिषु ध्यानं न ददति यदात्माऽधोगतिमपि प्राप्नोति, आत्मनः समुद्धारोऽपि भवति। यदर्थं कार्यं कर्म, कर्त्तुमर्हाप्रक्रियाविशेषां कृत्वैवोपलब्धिर्वणिताऽस्ति। इदानीमनुकूलात्मलक्षणं पश्यन्तु–

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

शीते, तापे, सुखे–दुःखे, मानेऽपमाने च येषामन्तःकरणस्य वृत्तयः सम्यक् शान्ताः सन्तिष्ठन्ते, एतादृशाः स्वाधीनात्मवन्तः पुरुषाः परमात्मनो निवास भूमयः, कदाऽपि तान् न त्यजति परमात्मा। 'जितात्मा' अर्थात् येन मनः सहितानीन्द्रियाणि वशमानीतानि, वृत्तिर्यस्य परमशान्तौ प्रवहति (इयमेवात्मोद्धारस्यावस्था)। अग्रे ब्रवीति–

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

यस्यान्तःकरणं ज्ञानविज्ञानसन्तृप्तमस्ति, यस्य स्थितिरचला, स्थिरा

विकाररहिताचाऽस्ति, यो विशेषरूपेणेन्द्रियाण्यजयत्, यस्य दृष्टौ मृत्तिका-प्रस्तरसुवर्णानि च समानानि सन्ति, एतादृशो योगी 'युक्तः' समुच्यते। युक्तस्यार्थोऽस्ति- योगेन संयुक्तः। इयं योगस्य पराकाष्ठा ज्ञेया, यां योगेश्वरः पञ्चमाध्याये सप्तश्लोकतो द्वादशश्लोकं यावद्विशदं वर्णितवान्। परमतत्त्व-परमात्मनः साक्षात्कारः तत्प्रभवो बोधएव ज्ञानमस्ति। ईषन्मात्रमपि दूरं वर्तते स्वेष्टं, तस्य ज्ञानेच्छा जागर्ति, तदा स साधकोऽस्त्यज्ञानी। स प्रेरयिता कथं सर्वव्याप्तः? कथं ददाति प्रेरणाम्? कया रीत्या बहूनामात्मनां युगपत् पथप्रदर्शनं करोति? कथं स भूतस्य वर्त्तमानस्य भविष्यस्य च ज्ञाताऽस्ति? तस्य प्रेरकस्येष्टस्य कार्यप्रणाल्याः सम्यक् ज्ञानमेव 'विज्ञानं' कथ्यते। यस्माद्दिवसादिष्टस्य हृदये प्रवेश स्वरूपाविर्भावो भवति, तस्माद्दिनत एव स निर्देशं दातुमारभते, किन्त्वादौ साधको बोद्धुं न प्रभवति। पराकाष्ठाकाल एव योगी तस्यान्तरिक कार्यप्रणालीं पूर्णतो बुध्यते। एतदेव बोध विज्ञानमस्ति। योगारूढस्याथवा युक्तपुरुषस्यान्तःकरणं ज्ञानविज्ञानतृप्तं तिष्ठति सर्वदा। एवं प्रकारेण योगयुक्तपुरुषस्य स्थितिं निरूपयन् योगेश्वरः कृष्णः पुनः कथयति-

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

परमतत्त्वपरमात्मप्राप्त्यनन्तरं महापुरुषः समदर्शी समवर्ती च भवति। यथा पूर्वश्लोके कथितं कृष्णेन, यः पूर्णज्ञो भवति, पण्डितोऽस्ति तस्य दृष्टिर्विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे चाण्डाले च, गवि कुक्करे गजे च समानादृष्टिर्भवति। तस्यैव पूरकोऽयं श्लोकोऽस्ति। स सहृदयसहायकारिणि सुहृदि, मित्रे, वैरिणि, उदासीने, द्वेषिणि, बन्धुगणे, धर्मात्मनि च तथा पापिनि समदर्शी योगयुक्तः पुरुषः परमश्रेष्ठोऽस्ति। स तेषां कार्येषु दृष्टिपातं न करोति प्रत्युत् तेषामन्तराले जीवात्मसञ्चारोपरि दृष्टिं ददाति। एषु स केवलमेतदवलोकयति यत् कश्चित् नीचैः सोपानारूढः, कश्चिन्निर्मलता सन्निधाने, किन्तु सा क्षमता सर्वस्मिन् वर्त्तते। अत्र योगयुक्तलक्षणस्य जाता पुनरावृत्तिः।

कश्चिद् योगयुक्तो कथं भवति? स कथं यज्ञं करोति? यज्ञस्थलं कीदृशं भवेत्? आसन् किमाकारकं स्यात् तदा कथमुपविशेत्? कर्तृद्वारा पालनीया

नियमास्तथाऽऽहारविहाराः, शयनजागरणयोः संयमः तथा कर्मणि चेष्टा कीदृशी भवेत्? इत्यादि विन्दूनामुपरि योगेश्वर अग्रिम पञ्चश्लोकैः प्रकाशं प्रसारितवान्। येन भवानपि यज्ञं कर्त्तुं पारयेत्।

तृतीयेऽध्याये स यज्ञस्य नाम गृहीतवान् उक्तवांश्च यज्ञस्य प्रक्रियैव तन्नियतं कर्माऽस्ति। चतुर्थेऽध्याये यज्ञस्य स्वरूपं सविस्तरं वर्णयामास, यस्मिन् प्राणस्यापाने हवनम्, अपानस्य प्राणे हवनम्, प्राणापानयोर्गतिमरुध्यमनसो निरोधादिकं क्रियते। सर्वं संयोज्य यज्ञस्य शुद्धार्थोऽस्ति आराधना तथा तदाराध्य देवस्य प्राप्तौ सफलताकारिका प्रक्रिया, यदुपरि पञ्चमाध्यायेऽपि प्रकाशः कृतः किन्तु तस्य यज्ञस्य कृते आसनम्, भूम्यादेर्विवेचनं शिष्टमासीत्। तदुपरि योगेश्वरः कृष्णः प्रकाशं प्रसारयति–

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

चित्तस्य जये संलग्नो योगी मनः, इन्द्रियाणि शरीरञ्च वशीकृत्य वासना-संग्रहाभ्यां मुक्तो भूत्वा निर्जने, सदैकान्तस्थाने चित्तमेकलएव योगक्रियायां विनियोजयेत्। तदर्थं कीदृशं स्थानमासनञ्च समीचीनम्?–

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

पूतायां भूमौ कुशमृगचर्मोर्णादिवस्त्रैस्तथा कौशेयादिभिः कीटपटैर्निर्मित-मासनं, काष्टादि निर्मिते चौकी-तख्तादि नामयुते संस्थापयेदासनम्। आसनमु-च्चावचं न स्यात्। शुद्धभूमेस्तात्पर्यं कूर्चिकादि साधनेन कत्तृणादि वस्तूनां सम्यक् परिमार्जनं कुर्यात्। आसनन्तु नीचैस्त्व दोषात् उच्चैस्त्व दोषात् च निर्मुक्तं समतलं मनोयोगक्रियासहायको भवेत्। पूज्य 'महाराजाः' प्रमाणतः षडङ्गुलौच्चैरासनं सेवन्ते स्म। एकस्मिन् समये भक्तगणाः द्वादशाङ्गुलोच्चं सङ्गमरमरप्रस्तरस्य सुन्दरं तख्तमानीय समर्पयामासुः। महाराजाः दिनमेकमासनस्य प्रयोगं कृत्वाऽपरस्मिन् दिने भक्तानूचुः- यदासनमेतदधिकोच्चैस्त्वान्न समीचीनम्। अपरं दूषणन्तु वर्त्तते यदुच्चासनासीनत्वात् जागर्ति दुरभिमानः- तथाहि उक्तवान्

महाराजः ("नहीं हो! बहुत ऊँचा हो गया, ऊँचे नहीं बैठे के चाही साधूको, अभिमान होइ जावा करत है, नीचेहू न बैठे के चाही, हीनता आवत है") इत्युक्त्वासनं तदुत्थायैकस्मिन् वृक्षबहुले मनोहरारामे स्थापितं कारितवान्। तत्र महाराजाः न कदाऽपि जग्मुर्न चान्ये केऽपि तत्र गच्छन्ति। इदमासीत् तेषां महापुरुषाणां क्रियात्मकं प्रशिक्षणम्। अतः साधकस्यासनं साधनानुकूलमपेक्षते, यथा भजने बहूच्चैस्त्वनीचैस्त्व कारणादासनस्याभिमानादयः विकाराः बाधका न भवेयुः।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

पूर्ववर्णितासनोपरि सम्यगुपविश्य मनः संयम्य चित्तस्येन्द्रियाणाञ्च सकलाः क्रियाः स्वाधीनीकृत्यान्तःकरणस्य शुद्ध्यर्थं योगाभ्यासं कुर्यात्। साम्प्रतमुप-वेशनस्य विधिरुच्यते-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

शरीरं कण्ठप्रदेशं शिरश्च ऋजुं कृत्वाऽचलताञ्च निरूप्य (यथा काचित् काष्ठपट्टिका संस्थापिता भवेत् अनेन प्रकारेण) ऋजुरूपेण दृढीभूय समुपविशेत्। स्वनासिकाया अग्रभागं दृष्ट्वा (नासिकाग्रभागस्यावलोकनस्य तात्पर्यमिदं यत् ऋज्वीभूयासनासीनः साधक इतस्ततो दृष्टिपातं न कुर्यात्) अपरदिगवलोकनं परित्यज्य लक्ष्यं चिन्तयेत्।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

ब्रह्मचर्यव्रतं सम्यक् परिपालयन् (प्रायः जनाः कथयन्ति यज्जननेन्द्रियस्य संयम एव ब्रह्मचर्यमस्ति किन्तु महापुरुषाणामनुभूतिरस्ति यन् मनसा विषयाणां स्मरणं कृत्वा नेत्रैस्तादृशं दृश्यं समवलोक्य त्वग्भिः संस्पर्शं विधाय श्रोत्राभ्यां विषयोत्तेजकं शब्दं श्रुत्वा जननेन्द्रियस्य संयमः कदाऽपि नाऽस्ति सम्भवः। ब्रह्मचारिणो वास्तविकोऽर्थोऽस्ति "**ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी**"। ब्रह्मण

आचरणमस्ति नियतं कर्म–यज्ञस्य प्रक्रिया, यस्योपासकाः **''यान्ति ब्रह्म सनातनम्''** सनातने ब्रह्मणि प्रवेशं लभन्ते। एतद्विधानस्य समये **'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्'**– बहिष्ठं सर्वं स्पर्शजातं तथा मनसामिन्द्रियाणाञ्च वाह्यस्पर्शं बहिरेव परित्यज्य चित्तं ब्रह्मचिन्तने, श्वासं प्रश्वासे कृत्वा ध्यानं कर्त्तव्यम्। मनस्तु चेद् ब्रह्मणि संलग्नं तदा वाह्य स्मरणं कः करिष्यति? यदि वाह्य स्मरणं वर्त्तते तदा ज्ञायतां यन् मनसः संलग्नताऽलीकम्। विकारास्तु शरीरे नह्यपितु मनसस्तरङ्गेषु तरङ्गायन्ते। मनस्तु यदा ब्रह्माचरणे लीनं भवति तदा जननेन्द्रिय संयम एव नहि, सकलेन्द्रिय संयमः स्वाभाविको भवति। अतः ब्रह्माचरणे संस्थितो भूत्वा निर्भयः सम्यक् प्रशान्तःकरणवान् मनः संयतं कुर्वन् मयि संलग्नः चित्तयुक्तः सन् भवेत् ब्रह्मपरायणः। एवं विधानेनास्य किं परिणामः?–

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

अनेन प्रकारेण आत्मानं तस्मिन्नेव चिन्तने विनियोजयन् संयतमनाः योगी ममस्थितिरूपिणीं सपराकाष्ठां शान्तिं प्राप्नोति। अतोहि निजं मनः निरन्तरं कर्मणि युज्यताम्। अत्र पूर्व प्रश्नः समाहितः। अग्रिम श्लोकद्वये स उपदिशति, यत् परमानन्दयुतां शान्तिं प्राप्तुं शारीरिक संयमः, युक्ताहारविहारश्च परमावश्यकः–

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अर्जुन! अयं योगस्तु न बहुभोक्तृणां सिद्धो भवति, न स्वल्पभोक्तृणां सिद्ध्यति, नाधिक शयनकर्त्तृणां न चाधिक जागरणवतां सिद्धो भवति। तर्हि कस्य सिद्धो भवति?–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

दुःखानां समूलं नाशकारकोऽयं योगः समुचिताहारविहारवतां, कर्मसूपयुक्त–चेष्टाशीलानां सन्तुलितशयनजागरणवतामेव पूर्णो भवति। अधिकभोजन–सेवनेनालस्यनिद्राप्रमादाः प्रभविष्यन्ति, तदा साधना न सेत्स्यति। भोजनस्य त्यागेनेन्द्रियाणि क्षीणानि भविष्यन्ति, अचलासनेन स्थिरोपवेशनेन क्षमतैव

नङ्क्ष्यति। 'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म, यद् भोजनतृप्तिमात्रातः द्वित्राः करपट्टिकाः न्यूना भोक्तव्याः। विहारविषये साधनानुसारेण विचरणं स्वीकृतमस्ति, किञ्चित् परिश्रमोऽपि कर्त्तव्यः, परिश्रमार्थं किमपि कार्यमन्वेषणीयम् अन्यथा रक्तसञ्चारे शैथिल्यमागमिष्यति, रोगाः परितः छादयिष्यन्ति। आयुर्बलं शयन जागरणाभ्याम्, आहारविहाराभ्याञ्च वर्धते क्षीयते च। "महाराजाः" कथयन्ति स्म यद् "योगिभिर्दशदण्डमर्थात् घण्टाचतुष्टयं शयितव्यम्, अनवरतचिन्तने संलग्नेन भवितव्यम्। हठात् बहुजागरणकर्त्तारो विक्षिप्ता भवन्ति।" कर्मसूपयुक्ता चेष्टा भवेत् तथाराधनार्थं नियतकर्मानुकूलयितुं यतनीयम्, वाह्य विषयाणां स्मरणं न कृत्वा सदैव निर्धारित नियमानुसारेण साधनायां संलग्नानां योगः सिद्धिमाप्नोति।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

अनेन प्रकारेण योगाभ्यासद्वारा विशेषरूपेण वशीकृतचित्तः यस्मिन् समये परमात्मनि यथार्थरूपेण स्थितो भवति, विलीनवत् वर्वर्ति, तस्मिन् काले सकलाभिकामनाभिर्विरहितः पुरुषो योगयुक्तः समुच्यते। इदानीं विशेषरूपेण जितचित्तस्य किं लक्षणम्?—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

येन प्रकारेण निर्वात स्थाने स्थापितो दीपो न भवति मनागपि चलायमानः, दीपशिखा ऋज्वीभूतोर्ध्वं गच्छति, तस्यां शिखायां कम्पनं न भवति, इयमेवोपमा परमात्मनो ध्यानेसंलग्नयोगिनश्चित्तस्य कृते दत्ता। दीपकस्तूदाहरणमात्रमस्ति। इदानीं दीपकस्य प्रचलनं शिथिलं जातम्। अगरवर्तिकाऽपि प्रज्वलनादुपर्येव धूम्रं प्रवाहयति, यदा पवनप्रवाहो न स्यात्। इदमुदाहरणं योगिनां जितचित्तस्यास्ति। सम्प्रति चित्तं जिते निरुद्धम्, किन्तु सम्प्रत्यपि चित्तमस्ति। यदा निरुद्धस्याऽपि चित्तस्य विलयो जायते तदा का विभूतिः प्राप्यते? पश्यन्तु—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

यस्यामवस्थायां योगस्याभ्यासेन (विनाऽभ्यासेन कदाऽपि निरोधो न

भवति, अतो योगस्याभ्यासेन) निरुद्धं चित्तमपि प्राप्नोत्युपरामताम्, याति विलयम्, भवत्यस्तित्वहीनं तस्यामवस्थायाम् "**आत्मना**"–स्वात्मद्वारेण "**आत्मानम्**"-परमात्मानं पश्यन् "**आत्मनि एव**"–स्वात्मनि सन्तुष्टो भवति। कुतोहि प्राप्तिकाले तु परमात्मनः साक्षात्कारो भवति, किन्त्वग्रिमे क्षणे स साधकः स्वकीयात्मानं तैः शाश्वतैरीश्वरीयैर्विभूतिभिरोतप्रोतमनुभवति। ब्रह्म अजरामरशाश्वतऽव्यक्तामृत–स्वरूपमस्ति तदेतस्त्वात्माऽपि तथैवाजरः, अमरः, शाश्वतः, सनातनः, अव्यक्तः, अमृतस्वरूपश्चास्ति। सर्वविशेषता विशिष्टस्त्वस्ति किन्त्वचिन्त्योप्यस्ति, यावच्चित्तं चित्तोर्मयः सन्ति तावद् भवदुपयोगे न लाभकरम्। चित्तस्य निरोधानन्तरं जाते चित्त विलये सति परमात्मनः साक्षात्कारो भवति, साक्षात्कारानन्तरं स्वात्मानं सकलेश्वरीय विभूति सम्पन्नमनुभवति। अतः स स्वात्मनि सन्तुष्टो भवति। एतदेव तस्य स्वरूपमस्ति, इयमेव पराकाष्ठाऽस्ति। अस्य पूरकमग्रिमं श्लोकं पश्यन्तु–

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

तथेन्द्रियेभ्यः परं केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहणीयोऽनन्त आनन्दोऽस्ति, तमानन्दं यस्यामवस्थायामनुभवति, यस्याञ्चावस्थायां स्थितिं प्राप्तो योगी भगवत्स्वरूपं तत्त्वतो ज्ञात्वा चलायमानो न भवति, सदैव तस्मिन्नेव प्रतिष्ठितो सन्तिष्ठते। तथा–

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

परमेश्वरस्य प्राप्तिरूपं यं लाभं शान्तिपराकाष्ठा लाभञ्च लब्ध्वा ततोऽधिकं कमपि लाभमविगणय्य भगवत्प्राप्तिरूपायां यस्यामवस्थायां स्थितः सन् योगी महद्भिरपि दुःखैर्विचलितो न भवति। दुःखस्य भानमपि तस्य न भवति। कुतोहि भानकर्त्ता चित्तस्तु निःसत्वोऽभवत्। अनेन प्रकारेण–

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

यः संसारस्य संयोगवियोगाभ्यां रहितोऽस्ति, तस्यैव नाम योगोऽस्ति। यदात्यन्तिकं सुखमस्ति, तस्य मिलनस्य नाम योगोऽस्ति। यः परमतत्त्वपरमात्मा

कथ्यते तस्य मिलनं योगः समुच्यते। स योग अनुद्विग्नं चित्तेन निश्चयपूर्वक-विधानं कर्त्तव्यमस्ति। धैर्यपूर्वकं तल्लीनः साधकएव योगे सफलतां प्राप्नोति।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

अतोहि मानवैः प्रयतितव्यं यत् सङ्कल्पादुत्पद्यमानाः सकलाः कामनाः, वासना तथासक्तिसहित सर्वथा परित्यज्य मनसः द्वारेणेन्द्रियसमुदायं सर्वतः सम्यग् वशीकृत्य-

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

क्रमानुसारेणाभ्यासं प्रकुर्वन्नुपरामतां प्राप्नुयात्। चित्तस्य निरोधः क्रमशश्च विलयोऽपि सम्भवेत्। तदनन्तरं स धैर्ययुक्तबुद्ध्या मनः परमात्मनि संस्थाप्य परमात्मेतरं नान्यत् किमपि चिन्तयेत्। अनवरतं सुसंलग्नो भूत्वा प्राप्तेर्विधानमस्ति। किन्त्वारम्भे मनो न सम्यग् लगति, अत उपरि योगेश्वरः कथयति-

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

इदमस्थिरं चञ्चलं मनो येभ्यो येभ्यः कारणेभ्यः सांसारिकपदार्थेषु विचरति तत्तत् सांसारिकपदार्थेभ्यो मनो निरुध्य पुनः पुनरपि संयोजयेदन्तरात्मनि। केचन जनाः कथयन्ति यन्मनो यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छति, तत्र गच्छेत् मा वारय मनः, मनोभ्रमणं तु प्रकृतावेव भविष्यति, प्रकृतिरपि तत् ब्रह्मान्तगर्भास्ति। प्रकृतौ विचरणं ब्रह्मान्तर्गतमेव विचरणमस्ति। किन्तु श्रीकृष्णानुसारेणेदमसमीचीनमस्ति। गीतायामुक्तमान्यतायाः कृते न किमपि स्थानमस्ति। श्रीकृष्णस्य कथनमस्ति, यत् मनो यत्र यत्र व्रजेत्, येन माध्यमेन व्रजेत्, तत्तन्माध्यमात् निरुध्य मनः परमात्मन्येव संयोजयेत्। मनसो निरोधो सुसम्भवोऽस्ति। अस्य निरोधस्य किं भविष्यति परिणामः?-

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

यस्य मनः पूर्णरूपेण शान्तिं लब्धवान् वर्त्तते, यन्मनो निष्पापमस्ति, यस्य मनसो रजोगुणः शान्तिमगात् एवं ब्रह्मैकीभूतो योगी सर्वोत्तममानन्दं प्राप्नोति यतः श्रेष्ठं न किमपि वर्त्तते। अत उपरि वदति पुनः कृष्णः–

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

पापरहितो योगीत्थमात्मानं निरन्तरं परमात्मनि संयोजयन् सुखपूर्वकं परब्रह्म-परमात्मनः प्राप्तेरनन्तमानन्दमनुभवति। स '**ब्रह्मसंस्पर्शम्**'–ब्रह्मणः स्पर्शेन प्रवेशेन च सहानन्तानन्दस्य रसं स्वदति। अतो भजनमनिवार्यमस्ति। अत उपर्यग्रे ब्रूते श्रीकृष्णः–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

योगपरिणामयुतो विधिवदात्मवान्, सर्वेषु समभावं धारयन् योगी आत्मानं सकलप्राणिसमूहे सुव्याप्तं परिपश्यति तथा सम्पूर्णान्भूतानात्मनि व्याप्तं प्रवाहितञ्चावलोकयति। इत्थं दर्शनेन को लाभः?–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

यः पुरुषः सम्पूर्णेषु भूतेषु मां परमात्मानं पश्यति, व्याप्तञ्च जानाति, सकलान् भूतान् मयि परमात्मनि समवलोकयति, तदर्थं नाऽहं कदाऽपि भवाम्यदृश्यम्। सोऽपि न भवति कदाप्यदृश्यो ममापि दृष्ट्या। इदं प्रेरकस्य प्रत्यक्षं मिलनमस्ति, सख्यभावः सामीप्यमुक्तिश्चास्ति।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

यः पुरुष अनेकतापरमुपर्युक्तेनैकत्वभावेन मां परमात्मानं भजति, स योगी समस्त कार्येषु प्रवर्त्तमानोऽपि मय्येव प्रवर्त्तते, कुतोहि तस्य कृते मदतिरिक्तं किमप्यवशिष्टं वर्त्तत एव नहि। तस्य सर्वस्वं शून्यमभवत् अतएव यत्किञ्चिदुत्थानमुपवेशनं करोति तत्सर्वं मम सङ्कल्पानुसारेण करोति।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

अर्जुन! यो योगी सम्पूर्णजीवेषु स्वसमानतां जानाति आचरति च, सुखे दुःखे च स्वसमानवत् पश्यति (यस्य भेदभावो निरस्तो जातोऽस्ति) स योगी परमश्रेष्ठः समुच्यते। प्रश्नोत्तरं प्रपूरितमर्जुनः पुनः पृच्छति–

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

अर्जुन उवाच– हे मधुसूदन! अयं योगो यः पूर्वं भवता सम्यगुपवर्णितः, येन योगेन समत्वभावात्मिका दृष्टिः समुपलभ्यते अस्मिन् सन्दर्भे मनसश्चिरकालं यावत् स्थैर्याभावात् अहं स्वं न तथा पश्यामि।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्ण! इदं मनस्त्वतीव चञ्चलमस्ति, प्रमथनस्वभावयुक्तमिदं मनः (प्रमथनमर्थादन्यं मन्थयितुं सबलं सफलञ्च) हठाग्रही बलवदप्यस्ति। अतो हि मनो वशमानयनं वायोर्वेगावरोधनवदहं दुष्करं मन्ये। झञ्झा पवनं मनसश्चावरोधनं समानमेवाऽस्ति। अत उपरि योगेश्वरः कृष्णः कथयति–

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

महत् कार्यं कर्त्तुं प्रयत्नशील अर्थात् महाबाहो अर्जुन! नात्र सन्देहः यन्मनस्त्वतीव चञ्चलमस्ति, अतीव काठिन्येन वशमायाति, परन्तु कौन्तेय! इदं मन अभ्यासेन वैराग्येण च वशमायाति। यत्र चित्तस्य संयोजनमपेक्षते, तत्रैव वारं वारं चित्तस्य नियोजन प्रयास एवाभ्यासः कथ्यते। दृष्टश्रुत विषयवस्तुषु (संसारे स्वर्गे वा) रागस्य त्याग एव वैराग्यमस्ति। श्रीकृष्णः कथयति, मनसो

वशमानयनं कठिनमस्ति, किन्तु वैराग्याभ्यासाभ्यामिदं वशमानेतुं शक्यते।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

अर्जुन! योगप्राप्तिकामानां पुरुषाणां कृते मनसो नियन्त्रणं वशीकरणं परमावश्यकमस्ति। यः पुरुषो मनो वशं न कर्त्तुं शक्नोति तस्य कृते योगप्राप्तिः कठिना, किन्तु वशीकृत मनसां पुरुषाणां कृते योगः सहज एव, इदन्तु ममाभिमतम्। यावत् कठिनं त्वं स्वीकरोषि, न तावत् कठिनं मनः। अतो मनः कठिनं मत्वा मा त्यज, प्रयत्नपूर्वकं योगं प्राप्नुहि, लक्ष्यं पूरय। कुतोहि मनोवशीकरणानन्तर-मेव योगः सुसम्भवोऽस्ति। अत उपरि पृष्टवानर्जुनः-

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

योगं साधयन् योगनियमान् पालयन् आसन्नयोगसिद्धौ चेत् कस्यचिन्मनश्चलायमानं भवेत्तदा तादृशः पुरुषो योगवञ्चितो सन् , योगे श्रद्धायुतो सन् परमात्मानमलब्ध्वा कां गतिं प्राप्नोति?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

महाबाहो श्रीकृष्ण! भगवत्प्राप्तिपथ विचलितोऽसौ मोहितः पुरुषः छिन्न-भिन्नजलदानामिवोभयतो भवति प्रनष्टः किम् ? लघुतमो मेघो गगनारूढो न वर्षति, न च पुनरावृत्य विशालमेघे मिलितुं शक्नोति, प्रत्युत् पवनवेगेन प्रत्यक्षं विनष्टो भवति। तथैव शिथिलप्रयत्नशीलः, किञ्चित्कालं साधनं कृत्वा स्थगितो भूत्वा नष्टो तु न भवति? स पुरुषो न परमात्मनि प्रवेशं कर्त्तुं शशाक, न च सांसारिक भोगं प्राप्तुं शशाक। तस्य का गतिर्भवति?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

हे कृष्ण! ममामुं सन्देहं पूर्णरूपेण निराकर्त्तुं भवानेव सक्षमः। भवदतिरिक्तं संशयममुं वारयितुं समर्थस्य नान्यस्य प्राप्तिः सम्भवा। अत उपरि योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथितवान्–

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

पार्थिव शरीरं रथमुपकल्प्य लक्ष्याभिमुखमग्रेसर अर्जुन! पूर्वोक्तपुरुषस्य नत्वस्मिंल्लोकेपरलोकेऽपि भवति नाशः, कुतोहि तात! तस्य परमकल्याणकारिणो नियतकर्मकर्त्तुर्न भवति कदाऽपि दुर्गतिः। तस्य भवति किम्?–

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

मनश्चलायमाने जाते सति योगपथाद्विचलितः स पुरुषः पुण्यशालीनां लोकेषु वासनानुरूपं भोगं भुङ्क्त्वा (यां वासनामभिलक्ष्य स पुरुषो जातो योगभ्रष्टो, भगवानत्यल्प विधा तं सर्वं दर्शयति श्रावयति च तत्सर्वमुपभुज्य) स शुचीनां श्रीमतां शुद्धाचरणशीलानां श्रीयुतानां पुरुषाणां गृहेषु जन्म गृह्णाति (ये शुद्धाचरणाचारिणः सन्ति त एव श्रीमन्तः)।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा तत्र जन्माप्राप्तावपि स्थिरबुद्धिधनानां योगिनां कुले स प्रवेशं प्राप्नोति। श्रीमतां गेहे शैशवादेव शुभसंस्काराः प्राप्तुमारभन्ते, किन्तु तत्र जन्म प्राप्तावसफलोऽपि स योगिनां कुले (न तु गृहे) शिष्यपरम्परायां प्राप्नोति प्रवेशम्। कबीरः, तुलसीदासः, रैदासवाल्मीक्यादीनां कृते शुद्धाचारवतां श्रीमतां गृहं न प्राप्तं योगीनां कुले प्रवेशः प्राप्तः। सद्गुरुकुले संस्कारस्य परिवर्त्तनमपि जन्मैवेकम्, एतादृशं जन्मसंसारे सुदुर्लभमस्ति। योगिनां गेहे जन्मनस्तात्पर्यं तेषां शरीरतः पुत्ररूपेण जननं नहि! गृहत्यागात् पूर्वं समुत्पन्नाः शिशवो मोहवशात् महापुरुषं

पितृरूपेण कामं जानीयुः, किन्तु महापुरुषाणां कृते गृहस्थानां नाम्ना न किमपि भवति। ये शिष्याः गुरूणां मर्यादामनुतिष्ठन्ति, तेषां महत्वं बालकेभ्यः कति गुणा अधिकं मन्यन्ते। त एव तेषां सच्चामुचं पुत्राः।

यो योगसंस्कारयुक्तो नाऽस्ति, महापुरुषास्तान् न स्वीकुर्वन्ति। पूज्य महाराजाश्चेत् साधूनां निर्माणं कामयमाना भवेयुस्तदा सहस्राधिकशिष्यैः भूतलं परिपूर्णं स्यात्। किन्तु ते कस्मैचित् भट्टादिकं दत्वा, कस्यचित् गेहे सूचनां दत्वा, कस्यचित् परिवारे पत्रं सम्प्रेष्य, कांश्चित् शिष्यान् साधना-सिद्धि-चित्रणद्वारेण गृहं प्रेषितवन्तः। केचन हठं कर्त्तुमारेभिरे पश्चात् अपशकुन प्रभावितास्तेऽपि गृहं जग्मुः। अन्तःकरणाद्विरोधो भवति स्म, यदस्मिन् जने साधुत्व निर्वाहस्य किमपि लक्षणं न वर्त्तते, अस्य साधुवृत्या न कोऽपि हितः नाऽयं पारं गमिष्यति। केचन शिष्याः निराशाभूत्वा पर्वतादात्मानं विनाशयेयुः। किन्तूक्त प्रकारकान् शिष्यान् स्वाश्रमे न दत्तवन्तः स्थानम्। पश्चाच्छिष्याणामात्महत्यादि समाचारं श्रुत्वा बहुविषीदन्ति स्म। कथयन्ति स्म, (जानत रहेउँ कि बडा विकल है, सोचते कि सचहूँ के मरि जाई तो रखी लेते। एकठो पतितै रहत अउर का होत) जानाति स्म, यदयं ममशिष्यताप्राप्तये विह्वलोऽस्ति, ज्ञानमेतत् हृदि प्रतिबिम्बितं चेत् जातं भवेत् यदयं ममोपेक्षया मरिष्यसि तदा स्वाश्रये स्थानं दत्तं भवेत्। एकस्तु पतितो शिष्यः इहैव निवासं कुर्वनवसत् किमपरं भवितुं शक्नोति स्म। ममत्वं तु महाराजेष्वपि विकटमासीत् पुनरपि स्वसन्निधाने स्थातुमवसरं न ददौ। षट्सप्तसंख्याका एवंदृशा आसन् येषां कृतेऽभवदादेशो यत्, "अद्य एको योगभ्रष्टः समायाति, जन्मजन्मान्तराद् भ्रान्तः समायाति, अस्य नाम्नस्तथास्यरूपस्याऽस्ति कश्चिदागन्तुकस्तं स्थापय, ब्रह्मविद्योपदेशं कुरु, तमग्रे वर्धय" केवलं तानेव संस्थापितवान्। अद्याऽपि तेष्वेको महापुरुषः धारकुण्ड्यां विराजते, एकस्तु अनुसुइयाश्रममलङ्करोति, द्वित्राः साधकाः सन्त्यन्यत्राऽपि। ते सद्गुरुकुले प्रवेशं लब्धवन्तः। एतादृशानां महापुरुषाणां प्राप्तिरतिदुर्लभा।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

तत्र स पुरुषः पूर्वं शरीरे कृत साधनानां बुद्धिसंयोगमर्थात् पूर्वजन्मनिकृत साधनसंस्कारානनायासेनैव प्राप्नोति तथा च कुरुनन्दन! तस्य प्रभावात् स पुनः '**संसिद्धौ**'– भगवत्प्राप्तिरूपिणीं परमसिद्धिं प्राप्तुं प्रयत्नं कर्त्तुमारभते।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

श्रीमतां गेहे विषयवशीभूतोऽपि सः पूर्वजन्माभ्यासेन भगवत्पथमभिलक्ष्य भवत्याकर्षितः तथा च योगे शिथिलप्रयत्नशीलोप्यसौ जिज्ञासुरपि वाणीविषय-मुत्तीर्य निर्वाणपदं प्राप्नोति। तस्य प्राप्तेरयमेवोपायः। कोऽप्येकजन्मनि न लभते।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अनेकेभ्यो जन्मभ्यः प्रयत्नशीलो योगी परमसिद्धिं प्राप्नोति। प्रयत्नपूर्वकमभ्यासे संरता योगिजनाः सर्वपापेभ्यः सम्यक् शुद्धा भूत्वा परमगति समासादयन्ति। प्राप्तेरयमेव क्रमः। पूर्वन्तु शिथिलप्रयत्नेन स योगमारभते, मनसश्चलायमाने जाते जन्मगृह्णाति, सद्गुरुकुले प्रवेशं प्राप्नोति, प्रत्येकं जन्मनि चाभ्यासं कुर्वन् तत्रैव प्राप्नोति यस्य नाम परमगतिः, परमधाम चाऽस्ति। श्रीकृष्णेन पूर्वं कथितमस्ति यदस्मिन् योगारम्भे बीजस्य नाशो न भवति। भवान् द्विपदमात्रं प्रस्थानं करोतु, तस्य प्रस्थानलक्ष्यभूतसाधनस्य कदाऽपि विनाशो न भवति। कस्यामपि परिस्थितौ मनुष्यो द्वित्राणि पदानि चलित्वा योगबीजस्यारोपणं कर्त्तुं शक्नोति। किन्तु परिस्थितिपरिच्छिन्नो जनः स्वल्प साधनं कर्त्तुं शक्नोति कुतोहि तस्य पार्श्वे समय एव नाऽस्ति। कोऽपि जनः कृष्णः, गौरः, विभिन्न दैशिकवर्णः स्यादथवा कस्याऽपि देशस्य निवासी भवेत्-गीता सर्वजनहितायाऽस्ति। केवलं पणात्मकं प्रतिबन्ध एतावानेवाऽस्ति यत् स मनुष्यः स्यात्। उत्कटप्रयत्नशीलो योऽपि कोऽपि भवितुं शक्नोति किन्तु शिथिलप्रयत्नवान् गृहस्थ एव भवति। गीता गृहस्थविरक्तशिक्षिताशिक्षितानां सर्वसाधारणानां कृते प्रकाशस्तम्भोऽस्ति, कस्यचित् 'साधु' नामकविचित्रप्राणिनः कृते नाऽस्ति। अन्ततः श्रीकृष्णो निर्णयं ददाति-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

तपोरतेभ्यः, ज्ञानेभ्यः, कर्मप्रवृत्तेभ्यो योगी श्रेष्ठ इति लोकमान्यता। अत अर्जुन! त्वं योगी भव।

तपस्वी– तपस्वी मनसासहितमिन्द्रियाणि तस्मिन् योगे प्रवर्त्तयितुं तापयति, साम्प्रतं तस्मिन् स योगो न प्रविष्टः।

कर्मी– कर्मी निर्धारित नियतकर्म ज्ञात्वा तस्मिन् प्रवृत्तो भवति। न तु स स्वशक्तिं ज्ञात्वा प्रवृत्तोऽस्ति, न च समर्पणेन सह प्रवृत्तोऽस्ति, केवलं कर्म करोति मात्रम्। तेन कर्त्तृत्वभागस्ति।

ज्ञानी– ज्ञानमार्गी तन्नियत कर्मणः, यज्ञस्य प्रक्रिया विशेषं सम्यक् प्रकारेण ज्ञात्वा स्वशक्तिं पुरः कृत्वा तस्मिन् प्रवृत्तो भवति। तस्य लाभालाभयोर्दायित्वं तस्यैव भवति। तदुपरि दृष्टिं ददानश्चलति।

योगी– निष्कामकर्मयोगी इष्टोपरि निर्भरो भूत्वा पूर्ण समर्पणेन सह तस्मिन् नियतकर्मणि "योगसाधना" प्रवृत्तो भवति, यस्य योगक्षेमस्य दायित्वं भगवान् अथवा योगेश्वरो वहति। समायातायामपि पतन–परिस्थितौ तस्य कृते पतनभयं न भवति कुतोहि यं परमतत्त्वं स वाञ्छति, स एवं तं सम्भालयितुं दायित्वं स्वयं वहति।

तपस्वीदानीं योगमात्मसात् कर्त्तुं प्रयत्नशीलो वर्त्तते। कर्मी केवलं कर्म मन्वानः करोति मात्रम्। इमे पतितुं शक्नुवन्ति, कुतोहि अनयोरुभयोर्न समर्पणमस्ति न च स्वलाभालाभयोर्निरीक्षणस्य क्षमता वर्त्तते। किन्तु ज्ञानी योगपरिस्थितीनां ज्ञाता भवति, स्वशक्तिमपि जानाति, यस्य दायित्वं तदुपर्येवास्ति, निष्काम–कर्मयोगी तु इष्टोपरि स्वं समर्पितं कृतवानस्ति, तमिष्टः पालयिष्यति। इमौ द्वौ कल्याणपथपान्थौ किन्तु यस्य भारं स इष्टो वहति, स उभयमध्यतः श्रेष्ठोऽस्ति, कुतोहि प्रभुणा स अनुगृहीतो वर्त्तते। तस्य लाभालाभौ प्रभुः पश्यति। अतो योगी श्रेष्ठोऽस्ति। अत अर्जुन! त्वं योगी भव। समर्पणेन सह योगस्याचरणं विधेहि।

योगी श्रेष्ठोऽस्ति, किन्तु ततः सयोगी परमश्रेष्ठोऽस्ति य अन्तरात्मना युज्यते। अत उपरि कथयति कृष्णः–

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सम्पूर्ण निष्कामकर्मयोगिष्वपि यः श्रद्धयोतप्रोत, अन्तरात्मनान्तश्चिन्तनेन चानवरतं मां भजति, स योगी मम परमश्रेष्ठो बहुमान्यश्चाऽस्ति। भजनं दर्शनस्य प्रदर्शनस्य च वस्तु नास्ति। उक्तोभाभ्यां प्रक्रियाभ्यां समाजो भवितुं शक्नोत्यनु-कूलः, किन्तु प्रभुः प्रतिकूलायते। भजनमत्यन्तगोपनीयं वस्त्वस्ति तत्तु भवत्यन्तः-करणेन। तस्य ह्रासो विकासश्चान्तःकरणाश्रितोऽस्ति।

निष्कर्षः-

अस्याध्यायस्यारम्भे योगेश्वरः श्रीकृष्णः प्रोक्तवान् यत् फलाश्रयवञ्चितो भूत्वा यः 'कार्यं कर्म' अर्थात् कर्त्तुमर्हस्य प्रक्रियाविशेषस्याचरणमाचरति स एव संन्यासी, तस्यैव कर्मणः सम्पादको योगी समुच्यते। केवलं क्रियाणामथवा-ऽग्निस्पर्शत्यागेन योगी तथा संन्यासी पदगौरवं न लब्धुं शक्नोति। संकल्पानां परित्यागमन्तरा कोऽपि पुरुषो योगी संन्यासीत्युपाधिं लब्धुं न समर्थः। अथवाऽहं न करोमि किमपि संकल्पम्, इति कथनमात्रेण न सङ्कल्पान्मुक्तिः। योगक्रिया सोपानोपरि क्रमश आरुरुक्षोः पुरुषस्य कर्त्तव्यमस्ति यत् कार्यं कर्म प्रकुर्यात्। पौनः पुन्येन कर्म सम्पादनतो योगारूढतायाः सफले सत्येव सर्व सङ्कल्पाभावो भवति, इतः पूर्वं नहि। सर्व सङ्कल्पानामभाव एव संन्यासोऽस्ति।

योगेश्वरेण पुनरुक्तं यदात्मा प्राप्नोत्यधोगतिमुद्धारञ्च लभते। येन पुरुषेण मनसः सहितान्यरिवदिन्द्रियाणि स्ववशमानीतानि, तस्य पुरुषस्यात्मा मित्रं भूत्वा मित्रवदाचरति तथा परमकल्याणकारको वोभवीति। येन मनसासहितानीन्द्रियाणि न जितानि, तत्कृते तस्यैवात्मा शत्रु भूत्वा शत्रुवदाचरति, यातनाप्राप्तेः कारणं जायते। अतो मानवानां प्रमुखं कर्त्तव्यमस्ति यत् स्वात्मानमधोगतिं मा प्रापयेयुः। स्वयं स्वात्मनः समुद्धारं कुर्य्युः।

स कृष्णः परमात्मपदप्राप्तिकर्तृणां योगिनां दिनचर्यायाः वर्णनं कृतवान्। यज्ञस्थली कीदृशी स्यात्, कथमुपवेष्टव्यम्, आसनञ्च कीदृशं भवेत्? स्थानञ्चैकान्तं स्वच्छं मृगचर्मकुशादीनामासनेष्वेकतरं भवेत्। कर्मानुरूपा चेष्टा भवेत्। युक्ता-हार विहारेण च सह शयनजागरणयोः सामञ्जस्यं संयमश्च कथं भवेदिति प्रकरणे योगशास्त्रसम्मतमतं प्राकाशयत्। योगिनः निरुद्धचित्तस्योपमा निर्वातस्थाने प्रज्वलितदीपशिखया विहिता, इत्थमुक्तप्रकारेण निरुद्धचित्तस्यापि यदा विलयो

भवति, तदा स योगी योगस्य पराकाष्ठास्वरूपमनन्तमानन्दं लभते। संसारस्य संयोग-वियोगाभ्यां विरहितानन्तसुखस्य नाम मोक्षोऽस्ति। योगस्यार्थोऽस्ति परमात्मना मिलनम्। यो योगी परमतत्त्वे प्रवेशं प्राप्नोति स समस्ते जीवलोके समानदृष्टिंसमाचरति। यथा स्वात्मानं पश्यति तथैवान्येषामात्मानं जानाति। स परमपराकाष्ठाशान्तिमासादयति। अतो योग आवश्यकोऽस्ति। मनो यत्र-यत्र पलायेत्, ततस्ततो बलादाकृष्य मनो निरोधव्यम्। श्रीकृष्णेनाङ्गीकृतं यन्मनो महता काठिन्येन वशमायाति किन्तु आयाति वशम्। इदं मनो वैराग्येणाभ्यासेन च वशमानीयते। शिथिलप्रयत्नशीलोऽपि जन अनेकजन्मनामभ्यासेन तत्र प्राप्तुं भवति सफलः यस्य नाम परमगतिस्तथा परमधामास्ति। तपस्विभ्यो ज्ञानमार्गीभ्यः केवलं कर्मीभ्यश्च योगी श्रेष्ठोऽस्ति। अतएवार्जुन! त्वं योगी भव। समर्पणेन साकमन्तर्मनसा योगाचरणमाचर। प्रस्तुताध्याये योगेश्वरः कृष्णो योगप्राप्तावभ्यास-मभिलक्ष्याभ्यासोपरि विशेषं बलं ददौ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः'यथार्थगीता' भाष्ये 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ सप्तमोऽध्यायः

गताध्यायेषु गीतायाः प्रमुखप्रमुखाः प्रायः सर्वेप्रश्नाः साधुसमुत्तरिताः। निष्कामकर्मयोगः, ज्ञानयोगः, कर्मणः, यज्ञस्य च स्वरूपम्, तेषां विधेर्विधानम्, योगस्य यथार्थस्वरूपं तस्य च परिणामः, अवतारः, वर्णसङ्करः, सनातनः, आत्मस्थित महापुरुषस्य कृते लोकहितार्थं कर्मकरणे बलं तथोपयुक्तपरिगणित विषयैः सह युद्धादीनामपरेषामपि विषयाणां सविस्तरं सरहस्योद्घाटनं विवेचनं कृतं श्रीयोगेश्वरेण श्रीकृष्णेन। अग्रिमेष्वध्यायेषु श्रीकृष्णः पूर्वोक्तानेकविषय–सन्दर्भे नानापूरकान् प्रश्नान् समुपस्थाप्य समाधानं करोति, येषां समाधानं तथाऽनुष्ठानमाराधनायां सहायकं सिद्धं भविष्यति।

षष्ठाध्यायस्यान्तिमेश्लोके योगेश्वरेणेदं निगद्य प्रश्नस्य स्वयं बीजारोपणं कृतम्। यत् यो योगी मद्गतेनान्तरात्मनां मयि सम्यक् प्रकारेण स्थित अन्तःकरणवानस्ति तमहमतिशयश्रेष्ठं योगिनं स्वीकरोमि। परमात्मनि सम्यक् प्रकारेण का स्थितिः? बहवो योगिनः परमात्मानमालभन्ते पुनरपि क्वचित्क्वचिन्न्यूनता ह्वलयति। लेशमात्रमपि न्यूनता नावशिष्येत्, ईदृशी स्थितिः कदागमिष्यति? सम्पूर्णरूपेण परमात्मावबोधः कदा भविष्यति? तदुपरि योगेश्वरः कृष्णः समुदीरयति–

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

पार्थ! त्वं मय्यासक्तमनास्तदतिरिक्तं वाह्यं नहि, प्रत्युत् '**मदाश्रयः**'–

अर्थात् मयि परायणो भूत्वा योगे संलग्नः सन् (त्यक्त्वा नहि) मां येन प्रकारेण निःसंशयो भूत्वा ज्ञास्यसि, तं तदाकर्णय! यं ज्ञात्वा सन्देहलेशकणिकाऽपि नावशिष्येत्। विभूतीनां तात्कालिक बोधाय पुनः प्रकाशं प्रसारयति योगेश्वरः-

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

अहं त्वदर्थं तद् विज्ञानेनसहितं ज्ञानं पूर्णरूपेण वक्ष्यामि। पूर्तिकाले यज्ञः यस्य सृष्टिं करोति, तस्यामृततत्त्वस्यप्राप्त्यासह प्राप्तव्यावबोधस्य नाम ज्ञानमस्ति। परमतत्त्वपरमात्मनः साक्षाद् बोधस्य नाम ज्ञानमस्ति। महापुरुषेभ्यो युगपत् सर्वत्र कार्यं विधातुं या क्षमता प्राप्यते तद् विज्ञानमस्ति। कथं स प्रभुः युगपत् सर्वेषां हृदये कार्यं करोति? केन प्रकारेण स उत्थापयत्युपवेशयति प्रकृतिद्वन्द्वाच्च निःसार्य स्वरूपप्राप्तिं यावत् पन्थानं निर्धारयति?-तस्यास्याः कार्यप्रणाल्याः नाम विज्ञानमस्ति। एतद्विज्ञानसहितं ज्ञानं पूर्णरूपेण वदिष्यामि। यत् ज्ञात्वा, न तु श्रुत्वा, संसारे किमप्यपरं ज्ञातुयोग्यमवशेषं न भविष्यति। जिज्ञासूनां संख्या न्यूनावर्त्तते-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

सहस्रेषु मानवेषु कश्चिदेव मनुष्यो मां प्राप्तुं प्रयत्नं करोति। तेषु प्रयत्न-परायणेषु योगिष्वपि कश्चिद् विरल एव पुरुषो मां तत्त्वतो जानाति। अधुना, समग्रं तत्त्वं वर्त्तते क्व? एकस्मिन् पिण्डीभूतं वर्त्ततेऽथवा सर्वत्र व्याप्तं वर्त्तते? अत उपरि कथयति योगेश्वरः कृष्णः-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अर्जुन! भूमिः, जलम्, अग्निः, वायुः, आकाशम्, मनः, बुद्धिः, अहंकारश्चेत्यष्टधा मे प्रकृतयः। इयमेवाष्टप्रकारा मूला प्रकृतिः।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

इयं पूर्वोक्ताष्टधा प्रकृतिस्तु ममापराप्रकृतिरस्ति, अर्थाज्जडाप्रकृतिः ज्ञेया। महाबाहो अर्जुन! इतोभिन्नामपरां प्रकृतिं जीवरूपां परां अर्थात् चेतनां प्रकृतिं जानीहि। यद्द्वारेण सम्पूर्णं जगद् धारणं कृतं विद्यते, सोऽस्ति जीवात्मा। जीवात्माऽपि प्रकृतेः सम्बन्धे स्थितत्वात् सोऽपि प्रकृतिः स्वीक्रियते।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

अर्जुन! इत्थमवजानीहि यत् सम्पूर्णानि भूतानि "**एतद् योनीनि**" पूर्वोक्त महाप्रकृतिभ्यः, पराभ्यश्चापराभ्यः प्रकृतिभ्यः समुत्पद्यन्ते। इमे द्वे एकमात्रे योनीस्तः। अहमखिलस्य जगतः प्रादुर्भावस्य तथा प्रलयरूपोऽस्मि अर्थात् मूलकारणमस्मि। जगतः समुत्पत्तिर्मत्तोऽस्ति (विलयोऽपि) मय्येव विजायते। यावत् प्रकृतिः विद्यमाना विद्यते, तावदहमेव तस्याःसमुत्पत्तेर्मूलमस्मि। यदा च कश्चित् महापुरुषः प्रकृतेः पारं प्राप्नोति, तदा महाप्रलयोप्यहमेव यो ह्यनुभूयते।

सृष्टेरुत्पत्तेस्तथा प्रलयस्य प्रश्नान् मानव समाजः सबहुकौतूहलं दृष्टवानस्ति। विश्वस्य विभिन्नशास्त्रेषु सृष्टिप्रलययोः रहस्यं ज्ञातुं ज्ञापयितुञ्चानेकेज्ञानप्रयासाः प्रचलिताः प्रचलन्तः प्रचलन्त्यद्यापि। कश्चिद् वदति यत् प्रलयकाले सकलं जगन्निमज्जति, केषाञ्चिन्मते सूर्यः पृथिव्याः सन्निकटमेतावदधिकं समायाति, येन पृथ्वी दन्दह्यते। केचनिमां प्रक्रियां 'कयामत' कथयन्ति, तेषां मतमस्ति कयामतकाले सर्वेषां निर्णयो भविष्यति। केचन तु नित्यप्रलयस्य नैमित्तिकप्रलयस्य च गणनायां सन्ति व्यस्ताः किन्तु योगेश्वरश्रीकृष्णस्यानुसारेण प्रकृतिरनादिरस्ति, परिवर्त्तनानि भवन्ति प्रकृतौ, किन्तु कदापीयं न विनष्टा।

भारतीय धर्मग्रन्थानुसारेण मनुः प्रलयमपश्यत्। अनेन प्रलयावलोकनेन सहैकादश–ऋषयो मत्स्यस्य शृङ्गे नावं निबध्य हिमालयस्यैके समुतुङ्गे शिखरे शरणं जगृहुः। लीलाकारश्रीकृष्णस्य जीवनोपदेशेन सम्बद्ध तत्कालीन श्रीमद्भागवतपुराणे मृकण्डु सूनुः, मार्कण्डेयः प्रलयस्य प्रत्यक्षं वर्णनमकरोत्। स ऋषिर्हिमालयस्योत्तरे पुष्पभद्रा नदीतटे निवसति स्म।

श्रीमद्भागवतपुराणप्रलयसम्बद्धतत्पुराणस्य द्वादशस्कन्धस्थाष्टमनवमाध्याययोरनुसारेण शौनकादयऋषयः सूतं पप्रच्छुः, हे सूत महाभाग! महाप्रलयकाले मार्कण्डेयऋषिः वटपत्रशयानं बालं मुकुन्दं ददर्श, किन्तु स तु मम कुलेजातः, मत्तः किञ्चित्कालपूर्वमभवत्। तस्य जन्मानन्तरं नाऽभवत् कोऽपि प्रलयः, न च सृष्टिरभूत् सलिलमग्ना। सर्वं पूर्ववत् वर्त्तते, तदा स ऋषिः कं प्रलयं ददर्श?

सूतेन कथितमस्ति यत् श्रीमार्कण्डेयस्य प्रार्थनया प्रसन्नो भूत्वा नर-नारायणौ श्रीमार्कण्डेयं दर्शनं ददतौ। मार्कण्डेयः कथितवान् यदहं भवतस्तां मायां द्रष्टुकामोऽस्मि यया प्रेरितोऽयमात्माऽनन्तयोनिषु भ्रमति। भगवान् प्रार्थनां स्वीचकार। एकस्मिन् दिवसे यदा मुनिर्भगवच्चिन्तने तन्मयोऽभवत्तदाऽसौ पश्यति यत् सागरो मर्यादामुल्लङ्घ्य ऋषेरुपरि समायाति। तस्मिन् मकराः सोल्लासं कूर्दन्त्युच्छलन्ति च ऋषिरपि जातः प्रभावितः। स इतस्ततः स्वं संरक्षितुमासीद् बहुधावन्। आकाशम्, सूर्यः, पृथिवी, चन्द्रः, स्वर्गम्, निखिलज्योतिमण्डलमिति प्रथमवर्णितमाकाशादिकं सर्वं तस्मिन् सागरे निमग्नं जातम्। एतस्मिन्नेवावसरे श्रीमार्कण्डेयः सागरे वहन्तमेकवटवृक्षं तस्य पत्रोपरि शिशुमेकमपश्यत्। श्वासक्रमेण मार्कण्डेयोऽपि शिशोरुदरं गतस्तत्र स्वाश्रमं सूर्यमण्डलादिकञ्च सृष्टिसहितं सजीवमपश्यत्, पुनश्च श्वासक्रमेण तस्य शिशोरुदरतो बहिरागतः। मुद्रिते नयने मार्कण्डेयः स्वं तस्मिन्नाश्रमे तदासने चात्मानमाप्तवान्।

सुस्पष्टमस्ति कोटि वर्षाणि भजनानन्तरं स मुनिरीश्वरीय दृश्यं स्वहृदयान्तराले ददर्श, अन्वभवच्च बहिः स्थितं सर्वं यथावत् पूर्णमासीत्। अतः प्रलयः योगीनो मार्कण्डेयस्य हृदये परमात्मसाक्षाकारस्योत्कटानुभूतिरस्ति। भजनस्यावसाने योगिनां हृदयतः संसारस्य प्रवाहो विलुप्य अव्यक्तः परमात्मैवशिष्यते एष एव प्रलयो। बहिः प्रलयो न भवति। महाप्रलयस्तु विद्यमाने शरीरे 'एकं ब्रह्मेति' अद्वैतस्यानिर्वचनीय भावः। अयन्तु महाप्रलयः क्रियात्मकोऽस्ति। केवलं बुद्धिबलेन निर्णयं कर्त्तुमुत्सुकाः जनाः केवलं भ्रमं जनयन्ति, न समाधानम्। अत्र कामं भवन्तोभवन्तु वयञ्चवा।

अत उपरि द्रष्टव्यमग्रे-

मत्तः परतरं नान्यकिञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

धनञ्जय! मदतिरिक्तमपरं नाऽस्ति किमपि वस्तुजातम्। इदं निखिलं जगत् सूत्रे मणीनामिव मयि स्यूतमस्ति। स्यूतन्त्वस्ति परन्तु ज्ञानं कदा सम्भवः? यदा (अस्याध्यायस्य प्रथमश्लोकानुसारेण) अनन्यभक्तया मयि परायणो भूत्वा योगे तथैव संलग्नो भवेत्। एतेन विना नहि। योगसंलग्नताऽनिवार्याऽस्ति।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

कौन्तेय जलेषु रसोऽहमेव। चन्द्रमसि सूर्ये चाहमेव प्रकाशः। सर्वेसु

वेदेष्वहमोंकारः (ओ+अहं+कारः) स्वस्याप्याकारोऽस्मि। आकाशे शब्दः, पुरुषेषु पुरुषत्वमस्मि। तथाहम्–

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

पृथिव्यां पूतो गन्धोऽस्मि तथाग्नौ तेजोऽस्मि। सम्पूर्ण जीवसमुदाये तेषां जीवनमस्मि। तपस्विषु तेषां तपोऽस्मि।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

पार्थ ! त्वं सम्पूर्णभूतानां सनातन कारणं बीजं वा मां विद्धि। अहं बुद्धिमतां बुद्धिर्तेजस्विनां तेजश्चास्मि। अस्मिन् क्रमे योगेश्वरः कृष्णः कथयति–

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे भरतश्रेष्ठार्जुन ! अहं बलवतां कामना तथासक्तिरहितं बलमस्मि। संसारे सर्वेजनाः बलमिच्छन्ति कश्चिद्दण्ड इव भूमिं स्पृष्ट्वोपवेशनोत्थान व्यायामेन, कश्चित् परमाणुं चिनोति, किन्तु कृष्णो वदति यत् कामरागाभ्यां परं यद् बलमस्ति, तद्बलमहमस्मि। तदेव वास्तविकं बलमस्ति। सर्वभूतेषु धर्मानुकूला कामनाहमस्मि। परब्रह्मपरमात्मैव एको धर्मोऽस्ति। येन सर्वं धारितम्, यः शाश्वतः आत्मा स एव धर्मः। या परमात्मविरोधरहिता कामना सोऽहमेव। अग्रेऽपि श्रीकृष्णः कथयति यत् पार्थ ! मामासादयितुमिच्छां प्रबोधय। सर्वाः कामनास्तु सन्ति वर्जिताः; किन्तु तं परमात्मानं प्राप्तुमिच्छाऽनिवार्या अन्यथा त्वं साधनकर्मणि प्रवृत्तो न भविष्यसि। एतादृशी कामनाऽपि ममानुदानम्।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

अपरमपि ये सत्वगुणप्रसूता भावाः सन्ति ये च रजस्तमोभ्यां जन्याः ये सन्ति भावास्तान् मदुत्पन्नान् संप्रधारय। परन्तु वस्तुतस्तेष्वहं मयि च ते न

सन्ति, किन्तु तेषु नाहं विलीनो न च ते सन्ति मयि प्रविष्टाः। कुतोहि मम कर्मणि स्पृहा नास्ति, निर्लिप्तोऽहम् एभ्यो मया न किमपि प्राप्तव्यमस्ति, अतो मयि प्रवेशं कर्त्तुं न पारयन्ति। एवं जाते सत्यपि–

येन प्रकारेणात्मनः समुपस्थितौ बुभुक्षा पिपासा चानुभूयते। वस्तुतः आत्मनः अन्नजलाभ्यां नाऽस्ति किमपि प्रयोजनम्, तथैव प्रकृतिरपि परमात्मनः समुपस्थितावेव स्वकार्यं कर्त्तुं प्रभवति, परमात्मा तद्गुणकार्याभ्यां निर्लिप्तो भासते।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

सात्विकराजसतामसाञ्च कार्यरूपभावेनेदमखिलं जगदस्ति सम्मोहितम्। अतएव जनास्त्रिगुणात्परमविनाशिनं तत्त्वतो न जानन्ति। अहं त्रिगुणेभ्यः परोऽस्मि। अर्थात् यावद्गुणानामंशमात्रमपि वर्त्तते समावरणम्, तावन्न कोऽपि मां जानाति। तेन साम्प्रतं गन्तव्यमस्ति स पान्थोस्ति। च–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

इयं त्रिगुणमयी मम मायातीव दुस्तरा वर्त्तते किन्तु ये पुरुषाः निरन्तरं मां भजन्ति, ते मायामिमां तरन्ति। इयं माया दैवीमायाऽस्ति। परन्तु प्रज्वाल्यागर–वर्तिकां मायापूजने तत्परामाभवन्तु, अस्याः पारं गमनीयमस्ति।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

ये मां निरन्तरं भजन्ते ते जानन्ति। पुनरपि जनाः न भजन्ति। मायाद्वारेण येषां ज्ञानमपहृतमस्ति, य आसुरीस्वभावधारणं कृतवन्तः मानवेषु ये सन्ति अधमाः, कामक्रोधप्रभावतः कुकर्मकर्त्तारो मूढाः न जानन्ति माम्। तर्हि के भजन्ति?–

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

हे भरतश्रेष्ठार्जुन! '**सुकृतिनः**'-उत्तममर्थात् नियतं कर्म (यस्य परिणामे श्रेयः प्राप्तिर्भवेत् तत्) कर्त्तृणाम्, '**अर्थार्थी**'- सकामः, '**आर्त्तः**' अर्थात् दुःखान्मुक्तिप्राप्तिकामो, '**जिज्ञासुः**' अर्थात् प्रत्यक्षरूपेण ज्ञातुं कामानाम्, '**ज्ञानी**' अर्थात् यः प्रवेशस्य स्थितौ वर्त्तते इत्युक्तचतुर्विधा भक्ता मां भजन्ते।

'अर्थ'स्तद्वस्त्वस्ति येन मम शरीरस्य अथवा सम्बद्ध प्रयोजनस्य पूर्तिः स्यात्। अतएवार्थः कामनाश्च भगवतैव परिपूर्यते। श्रीकृष्णः कथयति, यदहमेव पूरयामि, किन्त्वेतावानेव वास्तविकोऽर्थो नास्ति। आत्मिकसम्पत्तिरेव स्थिरा सम्पत्तिरस्ति' अयमेवार्थः।

सांसारिकार्थस्य पूर्तिं पुनः-पुनः कुर्वन् भगवान् वास्तविकार्थात्म-सम्पत्यभिमुखं वर्धयति, कुतोहि भगवान् जानाति यद् मद्भक्तो नैतावता सुखी भविष्यति एतस्मात् स भगवान् आत्मिकसम्पत्तिमपि दातुं प्रारभते। "लोक लाहु परलोक निबाहू"-लोके लाभः परलोके निर्वाहश्च द्वावेतौ परमात्मनो वस्तुनी। भगवान् भक्तं रिक्तं न जहाति।

आर्तः- यो दुःखी स्यात्, **जिज्ञासुः**- समग्ररूपेण ज्ञातुमिच्छवः जिज्ञासवो मां भजन्ति। साधनस्य परिपक्वावस्थायां दिग्दर्शनेच्छवः ज्ञानिनोऽपि मां भजन्ति। अनेन प्रकारेण चतुर्धा भक्ता मां भजन्ते। येषु ज्ञानी श्रेष्ठोऽस्ति, अर्थात् ज्ञान्यपि भक्त एव। एतेष्वपि-

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

अर्जुन! तेष्वपि मयि नित्यमेकीभावेन स्थितः अनन्यभक्तिमान् ज्ञानी विशिष्टोऽस्ति। कुतोहि साक्षात्कारेण सह ज्ञातृणां ज्ञानीनामहमत्यन्तप्रियोऽस्मि। स च ज्ञान्यपि मह्यं बहुप्रियः। स ज्ञानी मम स्वरूपमस्ति।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

यद्यपीमे चतुष्प्रकारकाः भक्ताः सन्त्युदाराः (कोदारता कृता? किं भवता भगवतो भक्तिकरणेन भगवान् किमपि वस्तुविशेषं प्राप्नोति? किं भगवति

काचिन्यूनता वर्त्तते यां पूरयति भजनेन भक्तः? नहि, वस्तुतः स एव उदारो यः स्वात्मानमधोगतिं न प्रापयेत् यस्तस्योद्धारायाग्रसरो वर्त्तते। अनेन प्रकारेणेमे सर्वे चतुर्धाभक्ता उदाराः सन्ति) परन्तु ज्ञानी तु साक्षात् मम स्वरूपमस्ति, मम मान्यतैवैतादृशी, कुतोह्यसौ स्थिरबुद्धिर्ज्ञानी भक्तः सर्वोत्तम गतिस्वरूपो मय्येव संस्थितोऽस्ति। अर्थात् सोऽहं अहं सः, मयि तस्मिन् भक्ते न कोऽपि भेदः। अत उपरि पुनः प्रेरयति–

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

बहुवारं पुनःपुनराभ्यासपथारूढभजतां भक्तानामनेकेषां जन्मनामन्ते साक्षात्कारवति जन्मनि ज्ञानी "वासुदेवः सर्वम्" इत्थं मां भजते। स महात्माति–दुर्लभोऽस्ति। स कस्यापि वासुदेवस्य प्रतिमां न निर्मापयति प्रत्युत् स्वाभ्यन्तर एव तस्य परमदेवस्य वासमनुभवति। तमेव ज्ञानिनं महात्मानं श्रीकृष्णस्तत्त्वदर्शी–रूपेण मन्यते। एभिर्महापुरुषैरेव वाह्यसमाजे कल्याणं सम्भवो दृश्यते। एवं प्रकारकस्तत्त्वदर्शीमहापुरुषः श्रीकृष्णस्य शब्देष्वतिदुर्लभोऽस्ति।

यदा श्रेयः प्रेयश्च (मुक्ति–भोगौ) द्वौ भगवत एव मिलतः, तदा तु सर्वैरेक–मात्रं भगवतो भजनं करणीयम्, पुनरपि जनाः न भजन्ते कस्मात्? श्रीकृष्णस्यैव शब्देषु–

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

"एतत् तत्त्वदर्शी महात्मा अथवा परमात्मा सर्वस्वमस्ति" जनाः नैवं ज्ञातुं पारयन्ति, कुतोहि भोगानां कामनया सर्वेषां विवेकोऽपहृतः। अतएव ते स्वप्रकृतिप्रभावतस्तथा जन्मजन्मान्तरार्जितसंस्कारसंस्कृतस्वभावप्रेरितः मत्तः परमात्मनो भिन्नानपरदेवान् तथा तदर्चनप्रचलितनियमान्समाश्रयन्ते। अत्र अन्यदेवस्यप्रसङ्गः प्रथमवारमायातः।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

यः यः कामनायुक्तो भक्तजनो यं यं देवं श्रद्धयार्चितुं वाञ्छति, अहं तस्य देवस्य प्रति तस्य भक्तस्य श्रद्धां स्थिरयामि। अहं स्थिरं करोमि श्रद्धाम्, कुतोहि देवता नामकं किमप्यपरं वस्तु चेत् स्यात् तदा तद् देवतैव श्रद्धा प्रतिष्ठां कुर्यात्।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

स पुरुषस्तच्छ्रद्धयायुक्तो भूत्वा तस्य देवविग्रहस्य पूजने तत्परो भवति, तद्देवतायाश्च माध्यमेन ममद्वारैव निर्मितानभीष्टभोगान् निःसन्देहं प्राप्नोति। भोगं कः ददाति? अहमेव ददामि। तस्य श्रद्धायाः परिणामः भोगः, न तु कस्याऽपिदेवस्य अनुदानम्। किन्तु स फलन्तु प्राप्नोत्येव, तदत्र का हानिः? अत उपरि ब्रवीति योगेश्वरः कृष्णः–

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

परन्तु तेषामल्पमतीनां तत्फलं नश्वरमस्ति। अद्य प्राप्तं फलं शनैः–शनैः भोगद्वारेण विनष्टो भविष्यति, अतएव नश्वरमस्ति। देवतानां पूजकाः देवान् प्राप्नुवन्ति, अर्थात् देवा अपि नश्वराः। देवतातः समारभ्य यावन्मात्रं जगत् तत् सर्वं परिवर्तनशीलं मरणधर्मा चाऽस्ति। मम भक्तः मामेव लभते। य अव्यक्तोऽस्ति नैष्ठिकीं परमशान्तिं प्राप्नोति।

तृतीयाध्याये श्रीकृष्णेनोक्तं यत् यूयं यज्ञद्वारा दैवीसम्पदः समुन्नतिं कुरुत। यदा दैवीसम्पदेधिष्यते तदा युष्माकमुन्नतिर्भविष्यति, इत्थं क्रमश उन्नत्युपर्युन्नतिं कुर्वन् परमश्रेयः प्राप्स्यथ। अत्र देवता तस्याः दैवीसम्पदः समूहोऽस्ति येन परमदेवपरमात्मनो देवत्वमर्ज्यते। दैवीसम्पदस्ति मोक्षाय, यस्य षड्विंशति लक्षणानां वर्णनं गीतायाः षोडशतमेऽध्याये कृतं वर्त्तते।

देवता हृदयान्तराले परमदेव परमात्मनो देवत्वमर्जितकारकाः सद्गुणाः समुच्यन्ते। आसीत्त्विदमाभ्यन्तरस्य वस्तु किन्तु कालान्तरे जना आभ्यन्तरस्थं वस्तु वाह्यक्षेत्रे द्रष्टुमारेभिरे। प्रतिमाः मूर्त्तयश्च निर्मितवन्तः, कर्मकाण्डस्य रचनां कृतवन्तः यथार्थतो बहुदूरं पलायिताः। श्रीकृष्ण एतेषां निराकरणं चतुर्भिः श्लोकैः कृतवान्। गीतायां प्रथमवारमपरदेवानां नामग्राहं

कुर्वन् समकाल एव कथितवान् यत् देवा भवन्त्येव नहि। जनानां श्रद्धा यत्र नमति तत्र-तत्राहं तेषां श्रद्धां पोषयामि, फलञ्चाहमेव ददामि। तत्फलमपि नश्वरमस्ति। फलानि नश्यन्ति, देवा नश्यन्ति, तेषामर्चका अपि विनश्यन्ति। येषां विवेको नष्टो भवति, ते मूढधियो जना अन्यान् देवान् पूजयन्ति। श्रीकृष्णस्तु कथयति, विभिन्नान्यदेवानां पूजन-विधानमेवास्त्ययुक्तिसङ्गतम्। (९/२३, अग्रे पश्यत)-

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

यद्यपि यदा देवानां नामोपरि किमपि वस्त्वस्त्येव नहि, अपरदेवार्चनात् फलमपि नश्वरं तथाऽपि जनाः मां न भजन्ति। कुतोहि बुद्धिहीनपुरुषाः (येषां ज्ञानं कामनाभिरपहृतं वर्त्तते) मां सर्वोत्तममविनाशिनं परमप्रभावयुक्तं परमतत्त्वं सम्यग् न जानन्ति, अतएव ते मूढा मामव्यक्तं व्यक्तभाव प्राप्तं जानानो मां मनुष्यं मन्यन्ते। अर्थात् श्रीकृष्णोऽपि मानवशरीरधारी योगेश्वर आसीत्। यः स्वयं योगी भवेत् तथान्येभ्योऽपि योगप्रदानस्य सामर्थ्यं यस्मिन् स्यात् स योगेश्वरः। साधनायाः साधुपथमारुह्य महापुरुषा अपि परमभावे संस्थिता भवन्ति। पुनरपि कामनाभिर्विवशा मन्द बुद्धयः पुरुषास्तं साधारणव्यक्तिरूपेण मन्यन्ते। ते कल्पयन्ति यथाऽहमुत्पन्नस्तथैवायमपि, पृथक् क्व भगवान्? तेषां वराकाणां दोष एव कः? ते दृष्टिपातं कुर्वन्ति तदा शरीरमेव दृष्टिपथायते। ते महापुरुषस्य स्वरूपं कथं न द्रष्टुं शक्नुवन्ति? अत उपरि कृष्ण कथनम्-

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

सामान्य मनुष्यस्यकृते मायैका जवनिकास्ति, यस्यान्तराले परमात्मा सर्वदा तिरोहितो वर्त्तते। योगसाधनां परामृश्यात्र प्रवर्त्तते। अतः परं योगमाया अर्थात् योगक्रियाऽप्येकमावरणमस्ति। योगस्यानुष्ठानसम्पादनानन्तरं योगस्य पराकाष्ठा-रूपायाः योगारूढतायाः समायाते सति स तिरोहितः परमात्मा विदितो भवति। योगेश्वरः कथयति यदहं स्वमायया ढौकितोऽस्मि, केवलं योगस्य परिपक्वावस्थां गतएव मां पश्यति। अहं सर्वेभ्यः प्रत्यक्षं नाऽस्मि। अतएवायमज्ञानी पुरुषो मामजमव्यक्तमविनाशिनं शाश्वतं न जानाति। अर्जुनोऽप्यात्मवत् कृष्णं मनुष्यं

जानाति स्म। अग्रे दृष्टिप्रदानानन्तरमर्जुन अनुनयं विनयं करोति प्रार्थयते च। वस्तुत अव्यक्तस्थितमहापुरुषं परिचेतुं वयमन्धाः।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अर्जुन! अहमतीतान् वर्तमानान् भविष्ये सम्भवान् सम्पूर्णप्राणिनः सम्यग् जानामि, परन्तु मां न कोऽपि जानाति। कस्मान्न ज्ञातुं शक्नोति?–

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

भरतवंशोद्भवार्जुन! इच्छाद्वेषयोः–रागादिद्वेषद्वन्द्वयोर्जनितमोहप्रभावेण संसारस्य सर्वे प्राणिनो बहुमोहप्रभाविता दृश्यन्ते, अतएव मां न जानन्ति। तर्हि किं कोऽपि न ज्ञास्यति? कथयति योगेश्वरः श्रीकृष्ण–

येषां त्वन्तगत पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

परन्तु पुण्यं कर्म (यत् संसृतेरन्तं कर्त्ता, यस्य नामास्ति कार्यं कर्म, नियतकर्म, यज्ञस्य प्रक्रियामुक्त्वा वारम्वारमुपदिष्टम्, तत्कर्म) कर्त्तृणां येषां भक्तानां पापं विनष्टम्, ते रागद्वेषादिद्वन्द्वमोहात् सम्यग् मुक्तो भूत्वा, व्रते दृढाभूत्वा मां भजन्ते। किमर्थं भजन्ते?–

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

ये भक्ता मम शरणमागत्य जरामरणाभ्यां मुक्तिप्राप्तुं प्रयतन्ते, ते पुरुषास्तद्ब्रह्म, सम्पूर्णमध्यात्म, सम्पूर्णं कर्म जानन्ति। अस्मिन् क्रमे–

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

यः पुरुषः साधिभूतं, साधिदैवं तथा साधियज्ञं मां जानाति स एव पुरुषो

मयि समाहितचित्तो मां जानाति, मयि स्थितो भवति, सदैव मह्यं प्राप्तो भवति। षड्विंशतितमे सप्तविंशतितमे श्लोके कथितवान् कृष्णः यत् मां कोऽपि न जानाति कुतोहि ते सन्ति मोहग्रस्ताः; किन्तु ये तन्मोहादात्मानं मोचयितुं प्रयतन्ते ते (१) सम्पूर्णं ब्रह्म, (२) सम्पूर्णमध्यात्म, (३) सम्पूर्णं कर्म, (४) सम्पूर्ण-मधिभूतम्, (५) सम्पूर्णमधिदैवम्, (६) सम्पूर्णमधियज्ञसहितं मां जानन्ति, तथास्य सर्वस्य परिणामो अहं(सद्गुरुः)अस्मि- उक्तस्थितिं गताः जानन्ति, न तु मां कोऽपि जानातीति न।

निष्कर्षः-

अस्मिन् सप्तमाध्याये योगेश्वरेण कृष्णेनोदीरितं यदनन्यभावेन समर्पितो भूत्वा मदाश्रितो भूत्वा च य योगे लगति, स समग्ररूपेण मां जानाति। मां ज्ञातुं सहस्रेषु कश्चिद्विरल एव प्रयतते। प्रयतमानेषु च कश्चिद्विरल एव मां जानाति। स मां पिण्डरूपेणैकदेशीयं न प्रत्युत् सर्वत्र व्याप्तं पश्यति। अष्टधा मम जड-प्रकृतिरस्ति। एतास्वन्तराले जीवरूपा मे चेतनप्रकृतिरस्ति। अनयोर्जडचेतनप्रकृत्योः सहायेनाखिलं जगत् स्थिरमस्ति। तेजोबलञ्च ममद्वारेणैव वर्त्तेते। रागकामाभ्यां निर्मुक्तं बलं तथा धर्मानुकूलकामनाप्यहमेवाऽस्मि। सामान्यरूपेण सर्वाः कामनाः सन्ति वर्जिताः, किन्तु मदर्था कामना समीचीना, तां कामनां कुरु। एतादृश्याः कामनायाः समुदयो मम प्रसादो ज्ञेयः। केवलं परमात्मानं प्राप्तुं कामना धर्मानुकूला कामनाऽस्ति।

श्रीकृष्णेनोक्तं यदहं त्रिगुणातीतः परमस्य स्पर्शं कृत्वा परमभावे स्थितोऽस्मि, किन्तु भोगासक्तामूढापुरुषाः मां न भजित्वान्येषां देवानामुपासनां कुर्वन्ति। यदा हि देवता नामधारकं किमपि वस्तु नास्ति कुत्राऽपि। प्रस्तरे, वृक्षे, जले च ते यस्यार्चनमिच्छन्ति, तस्मिन्नर्चने तेषां श्रद्धामहमेव पुष्णामि। तस्य व्यवधाने स्थितोऽहमेव फलं ददामि। कुतोहि न तत्र किमपि देवता न च तस्याधिकारे कोऽपि भोगः। जनाः मां साधारणं पुरुषं मन्वाना न भजन्ति। कुतोहि योग-प्रक्रिययाऽहं समावृतोऽस्मि। अनुष्ठानं कुर्वन्तः कुर्वन्तो योगमायावरणभेदका मां शरीरधारिणमप्यव्यक्तरूपेण जानन्ति।

मम भक्ताः चतुर्विधाः अर्थार्थी, आर्त्तः, जिज्ञासुः, ज्ञानी च। चिन्तनं कुर्वन्तस्कुर्वन्त अनेकजन्मनामन्तेऽन्तिमे जन्मनि परमात्मतत्त्व प्राप्तिकर्त्तारो ममैव स्वरूपमर्थादनेक जन्मनि चिन्तनं कृत्वा तद् भगवत् स्वरूपं लभन्ते। रागद्वेषयोर्मोहाक्रान्तो मनुष्यो मां कदाऽपि न जानाति; किन्तु रागद्वेषयोर्मुक्तो भूत्वा यः नियतकर्मणः (यत् संक्षेपत आराधना कथ्यते) चिन्तनं कुर्वाणो जरामरणाभ्यां मुक्तिमिच्छन् प्रयत्नशीलः स पुरुषो मां सम्पूर्णरूपेण जानाति। ते सम्पूर्णं ब्रह्म, सम्पूर्णमध्यात्म, सम्पूर्णमधिदैवम्, सम्पूर्णं कर्म, सम्पूर्णयज्ञसहितं मां जानन्ति। ते मयि प्रवेशं कुर्वन्ति अन्तकाले मामेव जानन्ति अर्थात् ते कदाऽपि न विस्मरन्ति।

अस्मिन्नध्याये परमात्मनः समग्रबोधस्यविवेचनमस्ति। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'समग्रबोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्येण स्वामिना अड़गड़ानन्द-कृते ''यथार्थगीता'' भाष्ये 'समग्रबोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ अष्टमोऽध्यायः

सप्तमाध्यायस्यान्ते योगेश्वरेण श्रीकृष्णेनोक्तं यत् पुण्यकर्म (नियतकर्म-आराधनाम्) कर्त्तारो योगिनः सर्वपापेभ्यो मुक्तास्तद् व्याप्तं ब्रह्मजानन्ति अर्थात् कर्म किमप्येतादृशं वस्त्वस्ति, यद् व्याप्तब्रह्मणः ज्ञानं कारयति। तत्कर्मसम्पादका व्याप्तंब्रह्म, सम्पूर्णंकर्म, सम्पूर्णमध्यात्म, सम्पूर्णमधिदैवम्, अधिभूतमधियज्ञ-सहितञ्च मां जानन्ति। अतोहि कर्म किमप्येतादृशं वस्त्वस्ति, यदेभिः परिचयं कारयन्ति। ते योगिनोऽन्तकालेऽपि मामेव जानन्ति, तेषां ज्ञानं कदाऽपि विस्मृतं न भवति।

अस्मिन् प्रकरणेऽर्जुनोऽस्याध्यायस्य प्रारम्भे तेषां शब्दानां पुनरावृत्तिं कुर्वन् प्रश्नं प्रस्तौति-

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

हे पुरुषोत्तम! किमस्ति तद् ब्रह्म? किमस्त्यध्यात्म? किमस्ति कर्म? अधिभूतमधिदैवञ्च किं कथ्येते?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन! अत्र किमस्त्यधियज्ञं तथाऽस्मिन् शरीरे कथं विराजते? (एतद् सिद्धमस्ति यदधियज्ञमर्थात् यज्ञस्याधिष्ठाता कोऽपीदृशः पुरुषोऽस्ति यो मनुष्यशरीरमाधाररूपेण स्वीकरोति।) समाहितचित्तैः पुरुषैस्तत्समये भवान्

कथं समायाति ज्ञानकोटौ? एतेषां सप्तसंख्याकप्रश्नानां निर्णयं दातुं योगेश्वरः श्रीकृष्णः समवोचत्–

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

'अक्षरं ब्रह्म परमम्'– यदक्षयमस्ति, यस्य क्षयो न भवति, तदेव परमं ब्रह्म समुच्यते। **'स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते'**–स्वस्मिन् स्थिरो भाव एवाध्यात्मार्थादात्मनः आधिपत्यमस्ति। इतः पूर्वं सर्वे मायाया आधिपत्ये वर्त्तन्ते, किन्तु यदा 'स्वभाव' अर्थात् स्वरूपे स्थिरभावः (स्वस्मिन् स्थिरभावो) मिलति, तदात्मनएवाधिपत्यं तस्मिन् प्रवाहितो भवति। एतदेवाऽध्यात्मास्ति तदध्यात्म-तत्त्वस्य पराकाष्ठा समुच्यते। **'भूतभावोद्भवकरः'**–भूतानां ते भावा ये किमपि किमप्युद्भावयन्ति अर्थात् प्राणीनां ते संकल्पा ये सदसत् संस्कारान् जनयन्ति, तेषां विसर्गो अर्थात् विसर्जनं वा तेषां निर्मूलनमेव कर्मणः पराकाष्ठा कथ्यते। एतदेव सम्पूर्णं कर्म यदर्थं योगेश्वरेणोक्तमासीत्, 'स सम्पूर्ण कर्म जानाति', तत्र कर्म परिपूर्णमस्ति अग्रेनावश्यकता (नियतकर्म), अस्यां स्थितौ यदाहि भूतानां ते भावा ये किञ्चिन्नकिञ्चित् रचयन्ति, सदसत् संस्काराणां संग्रहं कुर्वन्ति, निर्मान्ति, ते भावा यदा सर्वथा शान्ताः स्युस्तदेवकर्मणः सम्पूर्णताऽस्ति, अतः परं कर्मविधानस्य न काप्यावश्यकता परिशिष्यते। अतः कर्म किमप्येतादृशं वस्त्वस्ति यद्भूतानां सम्पूर्णसंकल्पात् येभ्यः किञ्चिन्नकिञ्चित् संस्काराः प्रजायन्ते, तेषां शमनं करोति। कर्मण अर्थोऽस्ति (आराधना) चिन्तनम्, यद् यज्ञेऽस्ति।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

यावदक्षयभावो न मिलति, तावन्नश्वराः सर्वे क्षरभावाः, **'अधिभूतम्'** अर्थाद् भूतानामधिष्ठानानि सन्ति। त एव भूतानामुत्पत्तेः कारणानि भवन्ति। **'पुरुषश्चाधिदैवतम्'**– प्रकृतेः परश्च यः परमपुरुषोऽस्ति स एवाधिदेव अर्थात् सम्पूर्णदेवानाम् (दैवीसम्पदः) अधिष्ठाताऽस्ति, दैवीसम्पदस्त्वस्मिन् परमदेवे

विलीयन्ते। देहधारिषु श्रेष्ठार्जुन! अस्मिन् मानवशरीरेऽहमधियज्ञमर्थात् यज्ञानामधिष्ठातास्मि। अतः शरीरेऽस्मिन् अव्यक्तस्वरूपेणस्थितमहापुरुष एवाधियज्ञमस्ति। श्रीकृष्ण आसीदेको योगी। यः सम्पूर्ण यज्ञानां भोक्ताऽस्ति अन्ततः यज्ञास्तस्मिन्नेव प्रविशन्ति। तदेव परमस्वरूपोपलब्धिः। इत्थमर्जुनस्य षट् प्रश्नानां समाधानमभवत्। इदानीमन्तिमः प्रश्नः यदन्तकाले भवान् कदाऽपि न विस्मर्यते?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथयति यत् यः पुरुषः प्राणप्रयाणकाले अर्थात् मनसो निरोधे निरुद्धमनसश्च विलयकाले ममैव स्मरणं कुर्वन् शरीरसम्बन्धं त्यक्त्वा पृथग् भवति, स '**मद्भावम्**' अर्थात् साक्षात् मम स्वरूपं लभते, नात्र संशयलेशोऽपि।

शरीरस्य निधनं शुद्धान्तकालो नास्ति। मरणानन्तरमपि शरीराणां क्रमः पृष्ठानुगमनं करोति। सञ्चित् संस्काराणां पृष्ठभूमेर्निर्मूले जाते सति मनसो निरोधो भवति तन्मनश्चापि यदा विलीयते, तदेवान्तकालः स्मृतः यदनन्तरं पुनः शरीर-धारणं न भवति। इदं क्रियात्मकमस्ति, केवलं कथनेन वार्त्ताक्रमेण च न बुद्धि-पथमायाति। यावद्वस्त्रवच्छरीरपरिवर्त्तनं वोभवीति, तावच्छरीरस्य समाप्तिः क्व? मनसो निरोधे निरुद्धमनसश्च विलयावसरे जीवत्येव शरीरसम्बन्धस्य विच्छेदो भवति। चेन्मरणोत्तरमियं स्थितिः प्राप्तुं सम्भवा स्यात् तथा श्रीकृष्णोऽपि पूर्णतां न प्राप्नुयात्। स उक्तवान् यदनेकजन्मनामभ्यासेन परमात्मानं प्राप्तः ज्ञानी साक्षात् मम स्वरूपोऽस्ति। अहं सोऽस्मि, स मय्यस्ति। तस्मिन् मयि च मनागप्यन्तरं न विद्यते। इयं प्राप्तिः जीवति सत्येव। यदा पुनः कदाऽपि शरीरं न मिलेत् स एवान्तोऽस्ति।

इदन्तुवास्तविक शरीरान्तस्य चित्रणमभवत्, यदनन्तरं जन्मग्रहणं न भवति। अपरशरीरान्तो मृत्युरस्ति, यो लोकप्रचलितोऽस्ति। किन्त्वस्य शरीरान्तानन्तरं पुनर्जन्मग्रहणं करणीयं भवति–

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

कौन्तेय! मृत्युसमये मनुष्यो यस्य भावस्य स्मरणं कुर्वन् शरीरं त्यजति तं तं भावं प्राप्नोति। तत्तु बहुसुलभं वस्त्वस्ति। आजीवनं भौतिकभोग-विलासमास्वादयेत्, मृत्युसमये भगवन्तञ्च स्मरेत्। किन्तु श्रीकृष्णः कथयति, नेत्थं भवति। "**सदा तद्भावभावितः**"-तस्यैव भावस्य चिन्तनं कर्त्तुं पारयति यस्य भावस्याजीवनं चिन्तनाभ्यासः। स एव भावो बलादुपतिष्ठते, यस्य भावस्य जीवनपर्यन्तं कुतोऽभ्यासः, नान्यथा भवितुमर्हति। अतः-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

अत एवार्जुन! त्वं प्रतिक्षणं मां स्मर युद्धञ्च कुरु। मयि समर्पित मनसा बुद्ध्या च संयुतो भूत्वा त्वं निःसन्देहं मां प्राप्स्यसि। निरन्तरं चिन्तनं युद्धञ्च युगपत् कथं सम्भवोऽस्ति? भवितुं शक्नोति यन्निरन्तरचिन्तनस्य युद्धस्याऽपि "जय कन्हैया लाल की, जय भगवान् की" इति स्वरूपं भजनगर्भं वाणप्रहार-सहितं युद्धमपि प्रचलेत्। किन्तु स्मरणस्य स्वरूपमग्रिमे श्लोके स्पष्टं कुर्वन् योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथयति-

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे पार्थ! तस्य स्मरणाय योगस्याभ्यासेन युक्तेन (मम चिन्तनं योगस्याभ्यासौ परस्परं पर्यायौ स्तः) मां विहाय नान्यत्र चलायमानेन चित्तेन निरन्तरचिन्तनस्य कर्त्ता परमप्रकाशोदिव्यपुरुषः परमात्मानं समासादयति। कल्प्यतामियं लेखनी भगवानस्ति, तदा तु नान्यस्य कस्यचिद् वस्तुनः स्मरणं नागच्छेत्। लेखन्याः पुरतः पश्चाच्च पुस्तकादीनि दृष्टिपथमायान्ति चेत् तदा भवतः स्मरणं विखण्डितं जातम्। स्मरणमेतावत् सूक्ष्मं भवेत् यदिष्टातिरिक्तमन्यस्य कस्याऽपि वस्तुनः स्मरणं न जायेत्, मनसि तरङ्गा अपि नोत्तिष्ठेयुः, तर्हि स्मरणसमरौ सहैव कथं भविष्यतः? वस्तुतो यदा भवान् सर्वतश्चित्तं समाकृष्य स्वस्यैकस्याराध्यस्य

स्मरणे प्रवृतो भविष्यति तदा तस्मिन् समये मायिकप्रवृत्तयः कामक्रोधरागद्वेषाः बाधारूपेण भवन्ति विद्यमानाः। भवान् स्मरिष्यति किन्तु ताः मायिक प्रवृत्तयो भवतो मानसे महोद्वेगं जनयिष्यन्ति, भवतो मनः स्मरणाच्चलायमानं कर्त्तुं कामयिष्यन्ते। एताभ्यो वाह्य प्रवृत्तिभ्यः पारं गमनमेव युद्धमस्ति। निरन्तरं चिन्तनेन सहैव युद्धं सम्भवमस्ति। गीतायाः कोऽपि श्लोको वाह्य घातप्रतिघातस्य समर्थनं न करोति। चिन्तनं कस्य कर्त्तव्यम्? अत उपरि ब्रवीति श्रीकृष्णः–

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

तेन युद्धेन सह स पुरुषः सर्वज्ञम्, अनादिम्, सर्वस्य नियन्तारम्, सूक्ष्माति-सूक्ष्मम्, सर्वस्यधारकं पोषकञ्च, किन्तु अचिन्त्यं (यावत् चित्तस्य तरङ्गमस्ति, तावत् स न दृष्टिपथमायाति। चित्तस्य निरोधे विलयकाले चैव यो विदितो भवति।) नित्यप्रकाशस्वरूपमविद्यातः परं तस्य परमात्मनः स्मरणङ्करोति। पूर्वमुक्तम्- मम चिन्तनं करोति, अत्र वदति-परमात्मनः चिन्तनं करोति। अतः तस्य परमात्मनश्चिन्तनस्य (ध्यानस्य) माध्यमस्तत्त्वस्थितो महापुरुषोऽस्ति। अस्मिन्नेव क्रमे–

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

यो निरन्तरं परमात्मनः स्मरणं करोति, असौ भक्तियुक्तः पुरुषः '**प्रयाणकाले**'–मनसो विलीनावस्थासमये, योगबलेनार्थात् तस्य नियतकर्मणः आचरणद्वारा भृकुटिमध्ये प्राणं सम्यक् प्रकारेण स्थापितं कृत्वा (प्राणापानौ यथार्थरूपेण समौ विधाय, आभ्यन्तरतो नोद्वेगः प्रादुर्भवेत् न च वाह्यतः कोऽपि सङ्कल्प उद्भवेत्, सत्वरजोतमांसि विधिवत् शान्तिं प्राप्नुयुः, पुरतः केवलमिष्ट-एव स्थितः स्यात्, तस्मिन् काले) स अचलमनाः स्थिरबुद्धियुक्तः पुरुषस्तस्य दिव्यपुरुषस्य परमात्मनो लाभं प्राप्नोति। सततं स्मर्तव्यमस्ति यत्तस्यैवैकस्य परमात्मनः प्राप्तेर्विधानं योगोऽस्ति। तदर्थं नियतक्रियायाः समाचरणमेव योगक्रिया

समुच्यते, यस्य सविस्तरं वर्णनं चतुर्थे षष्ठे चाध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्णः कृतवान्। साम्प्रतं तेनोक्तम्–निरन्तरं मम स्मरणं कुरु। कथं कुर्याम्? तर्हि अस्यां योगधारणायां स्थिरः सन् करणीयमस्ति। एवमाचरणकर्त्ता दिव्यपुरुषं प्राप्नोति, यः कदाऽपि न भवति विस्मृतः। अस्य प्रश्नस्य समाधानं सम्पन्नं यद् भवान् (परमात्मा) प्रयाणकाले केन प्रकारेणावबोधने समायाति? प्राप्तुंयोग्यस्य पदस्य चित्रणं पश्य, यच्चित्रणं गीतायां स्थाने–स्थाने दृग्गोचरायते–

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

'**वेदविदः**' अर्थात् अविदिततत्त्वस्य साक्षात्कारं कर्त्तारः जनाः यं परमपदम् '**अक्षरम्**'– अक्षयं कथयन्ति, वीतरागामहात्मानो यस्मिन् परमपदे प्रवेशाय प्रयत्नं कुर्वन्ति, यस्य परमपदस्य अभिलाषुका ब्रह्मचर्यस्य पालनं विदधति, (ब्रह्मचर्यस्यार्थः जननेन्द्रियमात्रस्य निरोधो न कथ्यते, प्रत्युत् 'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'। वाह्य स्पर्शानां मनसा त्यागं विधायानवरतं ब्रह्मणः चिन्तनंस्मरणञ्च ब्रह्मचर्यं निगद्यते, यः ब्रह्मदर्शनं कारयित्वा, स तस्मिन् ब्रह्मणि स्थानं दापयित्वा च शान्तो भवति। अनेनाचरणेन केवलमिन्द्रियसंयम एव न भवति, प्रत्युत् सकलेन्द्रियसंयमः स्वतः पिपूर्ति। इत्थं ये ब्रह्मचर्यस्याचरणमाचरन्ति) यद् हृदये संगृहीतुं योग्यमस्ति, सन्धारणीयमस्ति तत्पदं त्वां वक्ष्यामि। तत्पदमस्ति किम्, कथं तत्पदं प्राप्यते? अत उपरि योगेश्वरः श्रीकृष्णः समुदीरयति–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

सर्वेषामिन्द्रियाणां द्वाराणि सम्यगवरुध्य वासनाभिः पृथग्भूय मनो हृदये संस्थाप्य (ध्यानन्तु हृदये धार्यते न बहिः, पूजा बहिर्नभवति)प्राणस्यार्थात् अन्तःकरणस्य व्यापारान् मस्तिष्के सुनिरोध्य योगधारणायां स्थितो भूत्वा (योगस्तु सर्वथा धारणीयः नापरः कश्चिदुपायः, इत्थं स्थितो भूत्वा)–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

यः पुरुषः '**ओम् इति**'– ओम् एतावान् मात्रमेव योऽक्षयब्रह्मणः परिचायकोऽस्ति, तस्य जपं तथा मम स्मरणं कुर्वन् शरीरं परित्यजति स पुरुषः परमगतिं प्राप्नोति।

श्रीकृष्ण एको योगेश्वरः, परमतत्त्वेस्थितः महापुरुषः, सद्गुरुरासीत्। योगेश्वरः श्रीकृष्णः समवबोधयत् यत् 'ओम् ' अक्षयब्रह्मणः परिचायकोऽस्ति त्वं तस्य जपं कुरु, ध्यानञ्च मम विधेहि। परमपदप्राप्तस्य महापुरुषस्य नाम तदेव भवति यं स प्राप्तः, यस्मिन् स विलीनोऽस्ति अतएव नामविषये ओमित्यस्य महत्वमवर्णयत् रूपविषये च स महत्वं प्राकाशयत्। योगेश्वरः 'कृष्ण–कृष्ण' जपस्य निर्देशं न ददौ। कालान्तरे भावुकाः जनाः कृष्णस्यापि नाम जपं कर्त्तुमारेभिरे स्वश्रद्धानुसारेण च तस्य फलमपि लभन्ते, यथा हि–मनुष्यस्य श्रद्धा यत्र स्थिरा भवति, तत्राहमेव तस्य श्रद्धां पुष्टां करोमि तथा चाहमेव फलस्य विधानं विदधामि।

भगवान् शिवः रामशब्दस्य जपाय दत्तवानुपदेशं बलञ्च। '**रमन्ते योगिनः यस्मिन् स रामः।**' '**रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय**' 'रा' तथा 'म' इत्यनयोरक्षरयोरन्तराले कबीरः स्वचञ्चलं मनः रोद्धुमभूत् सक्षमः।

श्रीकृष्णः 'ओम्' इति अक्षरं जपाय प्रेरयति। 'ओ अहं स ओम्' अस्यायं भावः, यत् सा सत्ता ममान्तराले वर्त्तते। जनाः क्वचिद् बहिरन्वेष्टुं प्रवृत्ता मा भवेयुः। अयम् 'ओम्' बीजमन्त्रोऽपि तस्य परमसत्तायाः परिचयं दत्वा शान्तो भवति। वस्तुतः तस्य परमात्मनः सन्त्यनन्तानि नामानि किन्तु जपार्थं तदेव नाम सार्थकं भवति यत्त्वतीवलघुतरं भवेत्, श्वासे संविशेत् तथा चैकस्यैव परमात्मनः बोधं कारयन् स्यात्। ततो भिन्नास्वनेक देवीदेवानामविवेकपूर्णकल्पनासु भ्रान्तो भूत्वा लक्ष्याद् दृष्टिं नापसारयेत्।

'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म– "मम रूपं पश्य। श्रद्धानुसारेण च किमपि सार्द्धद्वयोरक्षरयोर्वानाम 'ओम्', 'राम', 'शिव' एतेषु नामसु किमपि नाम गृहाण। तस्य चिन्तनं कर्त्तव्यं तस्यैवार्थस्वरूपेष्टस्य स्वरूपस्य ध्यानं विधेयम्।" ध्यानन्तु सद्गुरोरेवक्रियते। भवान् रामः, कृष्ण अथवा "**वीतराग-विषयं वा चित्तम्**", वीतरागमहात्मनाम् अथवा '**यथाभिमतध्यानाद्वा**"

(पातज्जलयोग० १/३७/३९) कस्यापि स्वरूपं हृदये निदधीत्, ते अनुभवकाले भवते मेलिष्यन्ति, भवतः समकालीनस्य कस्यचित् सद्गुरोरभिमुखं प्रेरयिष्यन्ति, येषां मार्गदर्शनेन भवान् शनैः-शनैः प्रकृतिक्षेत्रात् पारं प्राप्स्यति। अहमपि प्रारम्भकाले देवस्यैकस्य (कृष्णस्य विराट् रूपम्) चित्रस्य ध्यानं करोमि स्म; किन्तु पूज्यमहाराजानामनुभवस्य प्रवेशेन सह स शान्तो बभूव।

प्रारम्भिक साधकाः नाम तु जपन्ति; किन्तु महापुरुषस्य ध्यानविधाने ऊहापोहमाचरन्ति। ते पूर्वार्जितस्वमान्यतानां पूर्वाग्रहं त्यक्तुं न सफलायन्ते। ते कस्यचिदन्यस्य देवस्य ध्यानं कुर्वन्ति, यस्य ध्यानस्य निषेधं कृतवान् श्रीकृष्णः। अतः पूर्णसमर्पणेन सह कस्यचिदनुभविनो महापुरुषस्य शरणं प्राप्नुहि। पुण्य-पुरुषार्थस्य सबले जाते सति कुतर्काणां शमनं यथार्थक्रियायां प्रवेशश्च प्राप्स्यति। योगेश्वरः श्रीकृष्णानुसारेण पूर्वोक्तप्रकारेण ओमिति बीजमन्त्रस्य जपेन परमात्मस्वरूप सद्गुरोः स्वरूपस्य निरन्तरस्मरणेन च मनसो निरोधः विलयश्च सम्पद्यते तस्मिन्नेव क्षणे च शरीरसम्बन्धस्यापि त्यागो भवति। केवलं मरणेनैव शरीरमनुगमनं न त्यजति।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

'मदतिरिक्तमन्यः कश्चिचित्ते न स्थिरायते'- तदन्यस्य कस्यापि चिन्तन-मकुर्वननन्यचित्तेन स्थिरः सन् यो अनवरतं मां स्मरति, तस्य नित्यं मयि युक्तमनसः योगिनः कृतेऽहं सुलभोऽस्मि। भवतः सुलभतयाः को लाभः?-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

ते जनाः ये सन्ति मयि समर्पिताः दुःखस्य मूलाधारभूतं क्षणभङ्गुरं पुनर्जन्म न लभन्ते प्रत्युत् परमसिद्धिमासादयन्ति। तात्पर्यमिदं मयि सन्निवेशस्तथा च परमसिद्धिप्राप्तिरेकमेववस्त्वस्ति। केवलं भगवानेवैतादृशोऽस्ति यं प्राप्य तस्य भगवल्लीन मनसः पुनर्जन्म न भवति। पुनर्पुनर्जन्मनः सीमा कियती?-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अर्जुन! ब्रह्मणः समारभ्य कीटपतङ्गादयः सर्वे सन्ति पुनरावर्तिनः, जन्म-ग्रहणं तथा मरणमस्मिन्नेव क्रमे निखिलं भूतमण्डलं चलत्यनवरतम्, किन्तु कौन्तेय! मां लब्धवतः पुरुषस्य कदाऽपि जन्म न भवति।

धर्मग्रन्थेष्वनेकलोकलोकान्तराणां परिकल्पना परमात्मनः मार्गस्य विभूतीनां बोधं कारयितुं मात्रान्तरिकानुभवस्य प्रकाशनं रूपकं वास्ति। अन्तरिक्षान्तराले न कोऽप्येतादृशः महागर्तो विद्यते यत्र मरणानन्तरं कीटाः दंशन्ति, न चैतादृशः कोऽपि विशालः प्रासादो वरीवर्ति यो हि स्वर्गः समुच्यते। वस्तुतः दैवीसम्पदायुक्तपुरुषएव देवताऽस्ति। आसुरीसम्पदायुक्तश्च पुरुषएवासुरोऽस्ति। श्रीकृष्णस्यैव साक्षात् सम्बन्धिनः कंसादयः राक्षसाः, वाणासुरादयो दैत्या आसन्। देवः, मानवः, तिर्यक् योनय एव विभिन्नाः लोकाः सन्ति। श्रीकृष्णानुसारेणायं जीवात्मा मनसासहितपञ्चज्ञानेन्द्रियैः सह जन्मजन्मान्तराणां संस्काराणामनुसारेण नूतनं शरीरं धारयति।

'अमरः' इति संज्ञाप्राप्ता देवा अपि मरणधर्माणः सन्ति। **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**- इतो महती का हानिर्भविष्यति? तद् देवतनुरपि कस्य हिताय यस्मिन् तनौ सञ्चितं पुण्यमपि समाप्तिं गच्छेत्? देवलोकाः, पशुलोकाः, कीटपतङ्गादिलोकाः भोगलोका मात्रं सन्ति। केवलं मानव एव कर्मणां विधायकोऽस्ति। यस्य कर्मविधानस्य स मानवः तत्परमधाम यावत् प्राप्तं कर्त्तुं शक्नोति, यतः पुनरावर्तनं न भवति। यथार्थकर्मण आचरणं कृत्वा मनुष्यो देवता भवेत्, ब्रह्मणः स्थितिं प्राप्नुयात् एतत्सर्वं भवितुं शक्नोति किन्तु स मनुष्यः पुनर्जन्मनस्तावत् न सुरक्षितो भविष्यति, यावत्तस्य मनसः निरोधेन विलयेन च सह परमात्मनः साक्षात्कारं कृत्वा तस्मिन्नेव परमपरमात्मभावे स्थितो न भवेत्। उदाहरणार्थमुपनिषदोऽपि अस्य सत्यस्य तथ्योद्घाटनं कुर्वन्ति-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।

(कठो०२/३/१४)

यदा हृदयेस्थिताः सम्पूर्णाः कामनाः समूलं नष्टाः भवन्ति, तदा मरण-धर्माः मनुष्या अमराः भवन्ति, अत्रैव चास्मिन् संसारेऽस्मिन् मानवशरीरे परब्रह्मणः सम्यग् रूपेण साक्षादनुभवं कर्त्तुं सफला भवन्ति।

जागर्ति प्रश्नः किं ब्रह्मापि मरणधर्माऽस्ति? तृतीयाध्याये योगेश्वरः कृष्णः प्रजापतेः ब्रह्मणः सन्दर्भे कथितवानस्ति यत् प्राप्तेरनन्तरं बुद्धिः मात्रं यन्त्रमस्ति, तद्द्वारेण परमात्मैव व्यक्तो भवति। एतादृशानां महापुरुषाणांद्वारा यज्ञस्य संरचनाऽभवत्। अत्र च कथयति कृष्णः, ब्रह्मणः प्रजापतेः स्थितिंप्राप्तकर्त्ताऽपि पुनरावर्त्यस्ति। योगेश्वरः श्रीकृष्णः किं वक्तुं वाञ्छति?

वस्तुतः यैः महापुरुषैः परमात्माभिव्यज्यते तेषां महापुरुषाणां बुद्धिर्नास्ति ब्रह्मा, किन्तु जनानां कृते उपदेशप्रदानकारणात्, कल्याणस्य सूत्रपात्कारणात् स ब्रह्मत्वेन प्रतिष्ठां लभते। स्वस्मिन् स ब्रह्मा नास्ति। तस्य पार्श्वे तस्य बुद्धिरपि न तिष्ठति। किन्त्वितः पूर्वं साधनकाले बुद्धिरेव ब्रह्मास्ति, '**अहङ्कार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान।**' (रामचरित मानस)

साधारणमनुष्यस्य बुद्धिर्ब्रह्मा न भवति। बुद्धिर्यदेष्टे प्रवेशं कर्त्तुं प्रारभते तत एव ब्रह्मणः रचना प्रारम्भा भवति। मनीषिणः यस्य चत्वारि सोपानान्यवर्णयन्। गत तृतीयाध्याये कथितमस्ति, स्मरणार्थं पुनरवलोकयितुं शक्यते- ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वरः, ब्रह्मविद् वरीयान्, ब्रह्मविद् वरिष्ठः। ब्रह्मविद् पदबोध्या सा बुद्धिरस्ति, या ब्रह्मविद्यया संयुक्ता भवेत्। ब्रह्मविद्वरः सा बुद्धिः या ब्रह्मविद्यायां श्रेष्ठाः। ब्रह्मविद्वरियान् येन स ब्रह्मविद्यायां केवलं दक्षतामेव न लभते प्रत्युत् तस्य नियन्त्रकः सञ्चालकश्च सम्भवति। ब्रह्मविद्वरिष्ठ पदबोध्या बुद्धेतत्तटमस्ति येनेष्टः प्रवाहितो भवति। इष्टः साम्प्रतं क्वचित् पृथगस्ति। ग्रहणकर्तृबुद्धिश्च पृथगेव। सम्प्रति स प्रकृतेः सीम्नि सन्तिष्ठते। इदानीं स्वयं प्रकाशस्वरूपे यदा बुद्धिः (ब्रह्मा) राजते, तदा सम्पूर्णभूतचिन्तनस्यप्रवाहो जागृतोऽस्ति, यदा बुद्ध्यविद्यायां निवसति तदा तु साऽचेताऽस्ति। एनामेव प्रकाशान्धकारौ, रात्रिः दिनञ्च कथयित्वा सम्बोध्यते। निरीक्षणीयम् –

ब्रह्मणो ब्रह्मविद् वेत्तुः सा श्रेण्यस्ति, यस्यामिष्टः प्रवाहितो भवति, इष्टप्राप्तायां सर्वोत्कृष्टबुद्धावपि विद्यायाः दिनमविद्यायाः रात्रिः, विद्यायाः प्रकाशोऽविद्याया अन्धकारश्च

क्रमशः विद्यमानौ स्तः। अस्यां स्थितौ साधके माया सफला भवति। बुद्धेः प्रकाशकाले अचेतभूताः सचेताः भवन्ति, ते लक्ष्यं द्रष्टुं लगन्ति तथा बुद्धौऽविद्यायाः स्थितौ रात्रि–प्रवेशकाले सर्वे भूता भवन्त्यचेताः। बुद्धिः निश्चेतुं न पारयति। स्वरूपोन्मुखं प्रगतिकरणमवरुद्धं भवति। इदमेव ब्रह्मणः दिनमियञ्च ब्रह्मणः रात्रिः। दिनस्य प्रकाशे बुद्धेः सहस्राः प्रवृत्तयः ईश्वरस्य प्रकाशं छादयन्ति, अविद्या रात्रौ चैताः सहस्राधिकाः प्रवृत्तयः अचेतावस्थाया अन्धकारमानयन्ति।

शुभाशुभयोर्विद्याविद्ययो– इत्युभयप्रकारक प्रवृत्तीनां सर्वथा शान्तिं गते सति क्रमशो अचेतः रात्रौ विलीनः सचेतः दिवोत्पन्न उभयविध भूतानां संकल्पे विनष्टे सति तदव्यक्त बुद्धेरपि परं शाश्वतम्, अव्यक्तम् भावं मिलति, यः कदाऽपि न प्रणश्यति। भूतानां अचेतसचेतयोः स्थित्योर्निर्मूलेसत्येव स सनातनः भावः प्राप्यते।

बुद्धेरुपर्युक्तचतुर्धावस्थातः पारगः पुरुषः एव महापुरुषोऽस्ति। तस्यान्तराले नास्ति बुद्धिः। बुद्धिः परमात्मनो यन्त्रसदृशा जाता, किन्तु स जनानुपदिशति, निश्चयेन प्रेरणां ददाति, अतस्तेन तस्मिन् बुद्धिः प्रतीयते किन्तु स बुद्धेः स्तरात् पृथग् वर्त्तते। स परमाव्यक्त–भावे स्थितोऽस्ति। न भवति तस्य पुनर्जन्म। किन्त्वस्याव्यक्तस्थितेः पूर्वं यावत् तस्य पार्श्वे स्वबुद्धिरस्ति, तावत् स ब्रह्मास्ति, इदानीं स पुनर्जन्मनः परिधावेव भ्रमति। एषु तथ्येषूपरि प्रकाशं प्रसारयन् योगेश्वरः कृष्णः कथयति–

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

ये जनाः सहस्रचतुर्युगानां समकालं ब्रह्मणो मात्रैकरात्रिं मन्यन्ते, तथैव सहस्रचतुर्युगानां तुल्यां ब्रह्मणः दिवसमेकं मन्यन्ते, ते पुरुषाः समयस्य तत्त्वं यथार्थतो जानन्ति।

प्रस्तुतश्लोके रात्रिन्दिवस्य विद्याविद्ययोश्च रूपकत्वं द्योत्यते। ब्रह्मविद्ययाः संयुक्ताबुद्धिर्ब्रह्मणः प्रवेशिकाकक्षाऽस्ति तथा ब्रह्मविद् वरिष्ठा बुद्धिर्ब्रह्मणः पराकाष्ठा कथ्यते। विद्ययाः संयुक्ता बुद्धिरेव ब्रह्मणो दिनमस्ति। यदा विद्या कार्यरता भवति तथा योगी स्वरूपाभिमुखमग्रेसरो भवति, अन्तःकरणस्य सहस्राधिक–प्रवृत्तिषु परमात्मनः प्रकाशस्य सञ्चारो भवति। इत्थमेवाविद्यायाः रात्रौ समायातायामन्तःकरणस्य सहस्रादिकप्रवृत्तिषु मायायाः द्वन्द्वः प्रवाहितो भवति। प्रकाशान्धकारयोरियती परिधि। अतः परं विद्याविद्ययोश्चर्चा निर्मूलायते। तत्

परमतत्त्वं परमात्मसु ज्ञायते। ये जना इदं रहस्यं तत्त्वतो जानन्ति त एव योगिजनाः, कालतत्त्वस्य बोद्धारः यत् कदा विद्यायाः रात्रिर्भवति? कदा विद्यायाः दिनं भविष्यति? कालस्य प्रभावस्य काऽवधिः अथवा समयस्यानुगमनं कियत्?

प्रारम्भिकमनीषिगणाः अन्तःकरणं कदाचित् चित्तनाम्ना, कदाचिद् बुद्धि-नाम्ना सम्बोधयन्ति स्म। कालान्तरेऽन्तःकरणस्य विभाजनं मनसि, बुद्धौ, चित्ते तथाहङ्कारे चतसृषु प्रमुखवृत्तिषु कृतवन्तः। यथार्थतोऽन्तःकरणस्य प्रवृत्तयः सन्त्यनन्ताः। बुद्धेरन्तरालान्तर्गतैवाविद्यायाः रात्रिर्भवति। तस्यां बुद्धौ विद्यायाः दिनमपि भवति। इदमेव ब्रह्मणो दिवानिशम्। जगद्रूपायाः रात्रौ सर्वेजीवाः भवन्त्यचेताः। प्रकृतौ विचरन्ती तेषां बुद्धिः तत्प्रकाशस्वरूपं नहि द्रष्टुं शक्नोति; किन्तु योगाचरणपरायणायोगिजनाः अस्मिन्नवसरे जागरणं कुर्वन्ति। ते स्वरूपाभिमुखं वर्द्धन्ते, यथातु गोस्वामीतुलसीदासः रामचरितमानसे व्यलिखत्-

कबहुँ दिवस महँ निबिड़तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग।।

(रामचरित मानस, ४/१५ ख)

विद्यया संयुक्ता बुद्धिः प्राप्तकुसङ्गा अविद्यायां परिणता भवति। पुनः सुसङ्गेन तस्यामेव बुद्धौ विद्यायाः सञ्चारो भवति। अयमारोहावरोहः पूर्तिपर्यन्तं न त्यजति। पूर्तेरनन्तरं न बुद्धिः न ब्रह्मा, न रात्रिः न दिनम्। एतदेव ब्रह्मणः निशादिवसयोः रूपकमस्ति। न सहस्राधिकवर्षस्य लम्बायमाना रात्रिर्भवति, न च सहस्राधिकचतुर्युगानां परिमाणकं दिनं भवति, न च कुत्रापि चतुर्भिर्मुखैः युक्तो न कोऽप्यस्ति ब्रह्मा। पूर्वं वर्णिताः बुद्धेः चतस्रः क्रमिका अवस्था एव ब्रह्मणः चत्वारि मुखानि सन्ति तथा चान्तःकरणस्य चतस्रः प्रवृत्तयः ब्रह्मणः चत्वारः युगाः कथ्यन्ते। रात्रिन्दिवमेतासु प्रवृत्तिषु जायन्ते। ये पुरुषा एतस्यदिवानिशस्य भेदं तत्त्वेन जानन्ति, त एव योगिजनाः कालस्य भेदज्ञाः यत् कालः कियत् यावत् पृष्ठानुगमनं करोति, कश्च पुरुषः कालादप्यतीतो वर्त्तते? रात्रि-दिनयोः, अविद्या-विद्ययोः भविष्यमाणं कार्यं योगेश्वरः श्रीकृष्णः सुस्पष्टं करोति-

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।।१८।।

ब्रह्मणः दिनस्य प्रवेशकाले अर्थात् (दैवीसम्पदः) विद्यायाः प्रवेशकाले सर्वे प्राणिनोऽव्यक्तबुद्धौ जाग्रति, रात्रेः प्रवेशकाले च तस्मिनव्यक्ते अदृश्यबुद्धौ च जागृतेः सूक्ष्मतत्त्वानि भवन्त्यचेतनानि। ते प्राणिनोऽविद्यायाः रात्रौ स्वरूपं सुस्पष्टं नावलोकयन्ति किन्तु तेषामस्तित्वं विद्यमानं प्रतिष्ठते। जागरणस्याचेतनस्य च भवितुं माध्यममियं बुद्धिरस्ति, या सर्वेषु प्राणिष्वव्यक्ता विद्यमाना सती न दृष्टिगोचरायते।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रवीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

हे पार्थ! सर्वे प्राणिन इत्थं प्रकारेण जागृता भूत्वा प्रकृत्या विवशा भवन्त अविद्यारूपायां रात्रौ समायातायां भवन्त्यचेताः। ते न द्रष्टुं पारयन्ति यन्ममास्ति किं लक्ष्यम्? दिनस्य प्रवेशकाले ते पुनः जागृता भवन्ति। यावद् बुद्धिरस्ति तावद् बुद्धेरन्तराले विद्यायाः अविद्यायाश्च क्रमश्चलत्येव। तावत् स साधक एवास्ति न तु महापुरुषः।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

एकतस्तु ब्रह्मा अर्थात् बुद्धिरव्यक्तास्ति, नेन्द्रियैर्द्रष्टुमर्हा इतश्चापि परतः सनातनाव्यक्तभावो विराजते, यः भूतेषु नष्टेष्वपि न नश्यति, अर्थात् विद्यायां सचेतः अविद्यायाञ्चाचेतः, दिवोत्पन्नः निशा विलीन एवमुक्तभावयुतेऽव्यक्ते ब्रह्मणि निर्मूले सति स सनातनाव्यक्तभावो मिलति, यो न कदाऽपि नश्यति। बुद्धौ सम्भाव्यमानौ द्वौ आरोहावरोहौ यदा नश्यतः तदा सनातनाव्यक्तभावो मिलति, यो मम परमधामास्ति। यदा सनातनाव्यक्तभावः प्राप्तोभूतस्तदा बुद्धिरपि तस्मिन् भावे मिश्रिता भवति, तं भावमेव धारणं करोति। अतएव सा बुद्धिः स्वयं तु क्षीयते तस्य स्थाने च सनातनाव्यक्तभावः परिशिष्यते।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

तं सनातनाव्यक्तभावमक्षरमर्थादविनाशिनं ब्रुवन्ति, तमेव परमगतिं कथयन्ति। तदेव मम परमधामास्ति। यं लब्ध्वा मानवः पृष्ठं नायाति अर्थात् तस्य पुनर्जन्म न भवति। अस्य सनातनाव्यक्तभावस्य प्राप्तेर्विधानं वर्णयति-

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

पार्थ! यस्य परमात्मनो अन्तर्गताः सर्वे जीवाः सन्ति येन सम्पूर्णं जगद् व्याप्तमस्ति, सनातनाव्यक्तभाववान् स परमपुरुषो अनन्यभक्त्या प्राप्तं कर्त्तुं योग्योऽस्ति। अनन्यभक्तेस्तात्पर्यमस्ति यत् परमात्मातिरिक्तमन्यस्य कस्यापि स्मरणं न कुर्वन् परमात्मनि युज्येत्। अनन्यभावेन संलग्नानां पुरुषाणामपि कियत् यावत् पुनर्जन्मनोऽवधौ स्थितिः, कदा च ते पुनर्जन्मनो अतिक्रमणं करिष्यन्ति? अत उपरि ब्रवीति योगेश्वरः श्रीकृष्णः-

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

हे अर्जुन! यस्मिन् काले शरीरं परित्यज्य इतो गताः योगिजनाः पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्ति, यस्मिन् काले च देहत्यागानन्तरं पुनर्जन्म लभन्ते, इदानीमहं तयोर्कालयोः वर्णनं करोमि।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

शरीरसम्बन्धत्यागं कुर्वति समये यस्य समक्षं ज्योतिर्मयोऽग्निः प्रज्वलितः स्यात्, दिनस्य प्रकाशः प्रसृतो भवेत्, सूर्यश्चाचिक्यमानां दीप्तिं स्त्रवेत्, शुक्लपक्षस्य चन्द्रः वृद्धिं गतः स्यात्, उत्तरायणस्य निरभ्रमाकर्षकं मनोहरञ्च आकाशं भवेत् तस्मिन् काले प्रयाणकर्त्तारः ब्रह्मवेत्तारो योगिजनाः ब्रह्मप्राप्नुवन्ति।

अग्निः ब्रह्मतेजसः प्रतीकोऽस्ति। दिनं विद्यायाः प्रकाशः समुच्यते। शुक्ल-

पक्षः निर्मलतायाः द्योतकः। विवेकं, वैराग्यं, शमः, दमः, तेजः, प्रज्ञाचेमानि षडैश्वर्याण्येव षण्मासाः सन्ति। ऊर्ध्वरेतसः स्थितिरेवोत्तरायणमस्ति। प्रकृतितः सर्वथा पराङ्मुखा इत्युक्तावस्थायां गन्तारो ब्रह्मवेत्तारो योगिजनाः ब्रह्मसमासादयन्ति, तेषां पुनर्जन्म न भवति। किन्तु अनन्यचित्तेन संलग्ना योगिजनाः चेत् पूर्वोक्तमालोकं न प्राप्नुयुः, येषां साधना सम्प्रति अस्त्यपूर्णा, तेषां किं भवति? अत उपरि कथयति श्रीकृष्णः—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

यस्य प्रयाणकाले धूम्रस्य विस्तारः प्रसारश्च भवेत्, योगाग्निः स्यात् (अग्निः यज्ञ–प्रक्रियायां प्राप्ताग्निस्वरूपः) किन्तु खमण्डलं धूम्रायितं भवेदविद्यायाः निशा भवेत्, गाढ़मन्धतमः स्यात्, चन्द्रमा क्षीणतां गच्छन् स्यात्, कालिमाया बाहुल्यं भवेत्, षड्विकारैः (कामक्रोधमदलोभमोहमात्सर्यादिभिर्युक्तः) दक्षिणायनः अर्थात् बहिर्मुखी स्यात्, प्रवृत्तिः परमात्मप्रवेशाद् बहिर्भूता स्यात्, एतादृशेकाले कृतप्रयाणस्य योगिजनस्य पुनर्जन्म भवति। किं तर्हि विनष्टे शरीरे तस्य योगिनः साधनापि विनष्टा भवति? अत उपरि प्रवदति श्रीकृष्णः—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

उपरि वर्णितौ शुक्लकृष्णाविति गति प्रकारद्वयं शाश्वतमस्ति अर्थात् साधनस्य कदाऽपि न भवति विनाशः। एकः शुक्लावस्थायां प्रयाणकर्त्ता पुनः पृष्ठानुवर्तिनीं गतिं न प्राप्नोति। अपरावस्थायां यस्यां प्रकाशः क्षीणायितः, कालिमादोषो विराजते, तादृशावस्थायां कृतप्रयाणः पुरुषः पुनः पृष्ठमनुवर्त्तते, जन्म गृह्णाति। यावत् पूर्णप्रकाशं न मिलति तावत् भजनं परमावश्यकम्। प्रश्नः पूर्णतां गतः। साधनोपरि पुनः प्रकाशं प्रस्तौति—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे पार्थ! अनेन प्रकारेणोक्ते तत्पथं समवबुध्य कोऽपि योगी न भवति मोहितः। स जानाति पूर्णप्रकाश लाभे सति ब्रह्मप्राप्तिः सुनिश्चिता, क्षीणप्रकाशेऽपि मिलिते सति पुनर्जन्म योगे साधनानां नाशो न भवति। उभे गती शाश्वती। अत अर्जुन! त्वं सर्वकालेषु योगयुक्तो भव, अर्थात् निरन्तरं साधनं साधय।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

उपरि विवेचित विधिनाक्षरतत्त्वं साक्षात्कारसहितं सम्यग् हृदयङ्गमीकृत्य, न तु केवलं मत्वा योगी वेदयज्ञतपसां दानादिनानाञ्च पुण्यफलं निःसन्देह-रूपेण समुल्लंघयति, सनातनपरमपदञ्चासादयति। अविदित परमात्मनः साक्षात्कारस्वरूपं ज्ञानं वेदः समुच्यते। तदविदितं तत्त्वं यदा भवेद्विदितं तदेदानीं कं को जानीयात्? अतस्तत्तत्त्वस्य ज्ञानानन्तरं वेदस्यापि प्रयोजनं निरस्तं भवति, कुतोहि ज्ञाता नास्ति भिन्नः। यज्ञस्याराधनायाः क्रियासीदनिवार्या किन्तु यदा तत्परमात्मतत्त्वं विदितमभूत्, तदा किमर्थं भजनं कुर्याम्? मनसासहितमिन्द्रिय-समूहमभिलक्ष्य तेषां तापनं तपः कथ्यते। सिद्धे लक्ष्ये किमर्थं तपो विधेयम्? मनसा, वचसा, कर्मणा च सर्वतोभावेन समर्पणं दानं स्मृतम्- एतेषां सर्वेषां पुण्यफलं परमात्मप्राप्तिरस्ति। इदानीं फलमपि पृथग् न वर्त्तते। अतो ह्येतेषां नेदानीं काप्यावश्यकता। स योगी यज्ञः, तपः, दानादि प्रभवं फलमतिक्रमते। स परमं पदं लभते।

निष्कर्षः-

अस्मिन्नध्याये पञ्चप्रमुखविन्दूनामुपरि विचारः कृतः, येषु सर्वप्रथमः सप्तमाध्यायस्यान्ते योगेश्वरः श्रीकृष्णद्वारेण बीजारोपित प्रश्नान् सुस्पष्टरूपेण ज्ञातुमिच्छयास्याष्टमाध्यायस्यादौ धनञ्जयः सप्तप्रश्नानुपस्थितमकरोत्। यद् भगवन्! यस्य वर्णनं परमतत्त्वरूपेण भवता कृतः किन्तत् ब्रह्म, तदध्यात्म च किम्? तत् सम्पूर्ण कर्म किम्? अधिदैवमधिभूतमधियज्ञञ्च कानि? तथाऽन्तिमे

समये भवान् कथं ज्ञातुं शक्यते, येन भवतो विस्मरणं कदाऽपि न भवति अर्थाद् भवतः स्मरणमखण्डं भवेत्? श्रीकृष्णः प्राबोधयत् यत् यस्य न कदाऽपि विनाशस्तद् ब्रह्म समुच्यते। स्वस्यात्मनो बोधकारकं ज्ञानमध्यात्म विज्ञेयम्। येन ज्ञानेन जीवो मायायाः साम्राज्यद्बहिर्भूयात्मनः साम्राज्ये प्रविशति तज्ज्ञानमध्यात्मनाम्ना प्रमाणितमस्ति। भूतानां ते भावा ये शुभाशुभ संस्कारं जनयन्ति तेषां भावानां निर्मूलनं कर्मणः सम्पूर्णता कथ्यते। अतः परं कर्म-विधानस्यावश्यकता न भवति। कर्म किमप्येतादृशं वस्त्वस्ति यत् संस्काराणा-मुद्गममेवोन्मूलयति।

अनेनैव प्रकारेण क्षरभावोऽधिभूतं समुच्यते अर्थात् नष्टस्वभावा भावाः एव भूतोत्पत्तिकारका भवन्ति। तएव भूतानामधिष्ठातारः सन्ति। परमपुरुष एवाधिदैवमस्ति, तस्मिन् दैवीसम्पदो भवन्ति विलीनाः। अस्मिन् शरीरे संस्थितोऽधियज्ञरूपेणऽहमेवास्मि अर्थात् यस्मिन् यज्ञाः विलीयन्ते सोऽहमेवास्मि, यज्ञस्याधिष्ठाताऽस्मि। स मम स्वरूपं प्राप्नोति, अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णोऽप्यासीदेको योगी। अधियज्ञः कश्चिदेतादृशः पुरुषोऽस्ति य अस्मिन् शरीरे निवसति, न तु बहिः। अन्तिमः प्रश्न आसीद् यदन्तिमे समये भवान् केन प्रकारेण ज्ञातुं शक्यते? तेनोक्तं यत् ये योगिजनाः निरन्तरं मां स्मरन्ति, मदतिरिक्तं कस्यापि वस्तुनश्चिन्तनं न विदधति, एवं कुर्वाणाः ये शरीरसम्बन्धं मुञ्चन्ति, ते साक्षात् मम स्वरूपं लभन्ते, येभ्य अन्ततोऽपि मम स्वरूपं प्राप्तं भवति। शरीरस्य मृत्युना सहेयमुपलब्धिर्भवति, नेत्थम्। मरणानन्तरमेवोपलब्धिः सुनिश्चिता चेत्तर्हि श्रीकृष्णः पूर्णो भवितुं न क्षमः। अनेकेषु जन्मसु साधनां विधाय प्राप्तकर्त्ता ज्ञानी तस्य स्वरूपं न भवितुं शक्नुयात्। मनसः सर्वथा निरोधो, निरुद्धस्य मनसोऽपि विलय एवान्तकालोऽस्ति, यत्र पुनः शरीरोत्पत्तेः माध्यमः शान्तो भवति। तस्मिन् समये स परमभावे प्रवेशं लभते। तस्य पुनर्जन्म न भवति।

अस्याः प्राप्तेः कृते तेन स्मरणस्य विधानं कथितं यदर्जुन! निरन्तरं मम स्मरणं युद्धञ्च कुरु। स्मरणं युद्धञ्चोभयं युगपत् कथं भविष्यति? कदाचिदेवं भवेत् यत् 'जय गोपाल' 'हे कृष्ण' इत्युच्चारयन् दण्डप्रहारोऽपि भवेत्। स्मरणस्य स्वरूपं स्पष्टं कृतवान् यद् योगधारणायां स्थिरो भवन् मदतिरिक्तमन्यस्य कस्यचिद्

वस्तुनः स्मरणमकुर्वन् निरन्तरं मां स्मर। यदा स्मरणमियत् सूक्ष्ममस्ति, तर्हि युद्धं कः करिष्यति? मन्यताम्, इदं पुस्तकं भगवानस्ति, तदास्य पुस्तकस्य पार्श्वद्वये स्थितं वस्तु तथा पुरतः समुपविष्टान् जनान् तथापरं पूर्वपरिचितं किमपि वस्तु सङ्कल्पेनागच्छेत्, न दृष्टिपथं प्रविशेत्, यदि किमपि वस्तु दृश्यते तदा नास्ति स्मरणम्। एतादृशे स्मरणे युद्धं कीदृशम्? वस्तुतः यदा भवानेतादृश–निरन्तरस्मरणे प्रवृत्तो भविष्यति, तदा तस्मिन् क्षणे युद्धस्य यथार्थस्वरूपमुपस्थितं भवति। तस्मिन् समये मायिक प्रवृत्तयः बाधारूपेण प्रत्यक्षं वर्त्तन्ते। कामक्रोधराग–द्वेषादयः दुर्जयाः शत्रवः सन्ति। इमे शत्रवः स्मरणे बाधामुपस्थापयन्ति। तेभ्यः पारं गमनं तु युद्धमस्ति। एतेषां शत्रूणां समूलमुन्मूलने जाते व्यक्तिः परां गतिं प्राप्नोति।

इमां परमगतिं प्राप्तुं, अर्जुन! त्वं 'ओम्' इत्यस्य जपं कुरु, ध्यानञ्च मम विधेहि। अर्थात् कृष्ण एको योगी आसीत्। नामरूपञ्चाराधनायाः कुञ्जिके स्तः।

योगेश्वरः श्रीकृष्णः अमुमपि प्रश्नं गृहीतवान् यत् पुनर्जन्म किमस्ति? तस्मिन् पुनर्जन्मनि के–के समायान्ति? तेनोक्तं यद् ब्रह्मणः समारभ्य यावन्मात्रं जगत् तत्सर्वं पुनर्जन्माधीनमेतेषाञ्च समाप्तावपि मम परमाव्यक्तभावस्तथा तस्मिन् भावे स्थितिः समाप्ता न भवति।

अस्मिन् योगे प्रविष्टानां पुरुषाणां द्वे गती भवतः। प्रथमा गतिस्तु सा या पूर्णप्रकाशं सम्प्राप्य षडैश्वर्यसम्पन्नमूर्ध्वरेताः कथ्यते, यत्र लेशमात्रमपि न्यूनता न वर्त्तते, एवं गतियुतः योगी परमगतिं प्राप्नोति। यदि तस्मिन् योगकर्त्तरि लेशमात्रमपि न्यूनता वर्त्तते, कृष्णपक्षस्य सदृशकालिमायाः सञ्चारोऽस्तीति स्थितौ शरीरस्य समाप्तिकाले योगी पुनर्जन्म धत्ते। स सामान्यजीवानामिव जन्म–मरण चक्रे न बध्नाति, प्रत्युत् जन्मगृहीत्वाऽग्रिमावशेषां साधनां पूरयति।

इत्थमग्रे जन्मनि पूर्वक्रियातोऽग्रे चलित्वाऽसावपि योगी तत्रैव प्राप्नोति, यस्यनाम परमधामास्ति। पूर्वमपि कृष्णेनोक्तमस्ति यदस्याल्पमपि साधनं जन्ममरणयोः महद्भयादुद्धारं कृत्वैव विरमति। 'उभौ पन्थानौ' शाश्वतमनश्वरञ्च स्तः, इमं रहस्यं सम्यगवबुद्ध्य कोऽपि पुरुषो योगाच्चलायमानो न भवति।

अर्जुन! त्वं योगी भव। योगी वेदयज्ञतपोदानानामपि पुण्यफलमुल्लङ्घयति परमगतिञ्च लभते।

अस्मिन्नध्याये स्थाने-स्थाने परमगतेश्चित्रणं कृतं विद्यते। अव्यक्ताक्षयाक्षरस्य नाम्नो यस्य सम्बोधनं कृतं, यस्य कदापि क्षयो विनाशश्च वा न भवति। अतः—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्येण स्वामिना अड़गड़ानन्द-कृते 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ नवमोऽध्यायः

षष्ठाऽध्यायं यावद् योगेश्वरेण कृष्णेन योगस्य क्रमबद्धं विश्लेषणं कृतम्। यस्य शुद्धार्थ आसीत् यज्ञस्य प्रक्रिया। यज्ञस्तस्मिन् परमात्मनि प्रवेशं दापयितुमेकाराधनाया विधिविशेषस्य वर्णनमस्ति, यस्मिन् चराचरमखिलं जगद् हवनसामग्रीरूपेण वर्त्तते। मनसः निरोधे, निरुद्ध मनसश्चापि विलयकाले तदमृत-तत्त्वं विदितं भवति। पूर्तिकाले यज्ञः यस्य सृष्टिं करोति, तस्य पानकर्त्ता ज्ञानी सनातन ब्रह्मणि प्रविशति, तस्य मिलनस्य नाम योगोऽस्ति। तस्य यज्ञस्य कार्यरूपे क्रियान्वयनं कर्म कथ्यते। सप्तमेऽध्याये स उक्तवान् यदेतस्य कर्मणः कर्त्तारो व्याप्तं ब्रह्म, सम्पूर्णं कर्म, सम्पूर्णमध्यात्म, सम्पूर्णमधिदैवम्, अधिभूतम्, अधियज्ञञ्च सहितं मां जानन्ति। अष्टमाऽध्याये तेनोक्तं यदियमेव परमागतिरिदञ्च परमधामास्ति।

प्रस्तुताध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्णः स्वयं चर्चितवान् यद् योगयुक्तपुरुषस्यैश्वर्यं किमाकारकम्? सर्वत्रव्याप्ते सत्यपि स कथं निर्लेपः? कुर्वन्नपि कथमकर्त्ता सः? तस्य पुरुषस्य स्वभावे प्रभावे च प्रकाशं कृतवान्, योगमाचरणे क्रियान्वयने सम्भावितानां देवतादिक विघ्नानां भयात् सतर्कं कृतवान्, तस्य पुरुषस्य च शरणं ग्रहणाय प्रेरणां दत्तवान्।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

योगेश्वरः श्रीकृष्ण उक्तवान्- अर्जुन! असूयारहितः सन् त्वदर्थमहमिदं

परमगोपनीयं ज्ञानं विज्ञानसहितं वक्ष्याम्यर्थात् प्राप्तेरनन्तरं महापुरुषस्य दिनचर्यामपि वदिष्यामि यत् स महापुरुषः सर्वत्र युगपत् कथं कर्म करोति, कथं स जागृतिं प्रददाति, रथीभूत्वात्मना सह कथं सदैव वर्त्तते। '**यत् ज्ञात्वा**'– यत् साक्षात् ज्ञात्वा त्वं दुःखरूपसंसारान्मुक्तो भविष्यसि। तज्ज्ञानं कीदृशमस्ति? अत उपरि कथयति कृष्णः–

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

विज्ञानसहितमिदं ज्ञानं सकलविद्याराजः कथ्यते। विद्याया अर्थः भाषा-ज्ञानं शिक्षा च नास्ति। '**विद्या हि का ब्रह्मगति प्रदाया**', '**सा विद्या या विमुक्तये।**' विद्या सा कथ्यते यद् यस्याः सन्निधाने प्राप्ते सति सा विद्या तं सन्निधानमागतं व्यक्तिं समुत्थाय ब्रह्मपथि सञ्चालयन् मोक्षं दद्यात्। यदि मार्गे ऋद्धिसिद्धिषु प्रकृतौ च वा क्वचिज्जातोऽवरोधस्तदा सुस्पष्टमस्ति यद् विद्या विफला जाता। सा विद्या नास्ति। इयं राजविद्यैवमस्ति या निश्चितरूपेण कल्याणप्रदाऽस्ति। अयं विद्याबोधः समस्तगोपनीयातायाः राजा अस्ति। अविद्या-विद्यायाश्चावगुण्ठनस्य जातेऽनावरणे योगयुक्ततायाः पश्चादनेन मिलनं भवति। इदं ज्ञानमतिपवित्रम्, उत्तमं प्रत्यक्षं फलदं चास्ति। 'इतः कर्म कुरु, ततः फलं लभस्व', इत्थं प्रत्यक्षं फलदमस्ति। नायमन्धविश्वासो यदस्मिन् जन्मनि साधनविधानं कुरु, फलं त्वपरं जन्मनि मेलिष्यति। अयं परमधर्मः परमात्मना संयुक्तोऽस्ति। विज्ञानसहितमेतज्ज्ञानं सरलमविनश्वरञ्चास्ति।

द्वितीयाऽध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्णः प्रावोचत् यद् अर्जुन! अस्मिन् योगे बीजस्य नाशो न भवति। अस्याल्पमपि साधनं जन्म-मरणमहद्भयादुद्धारं करोति। षष्ठाऽध्यायेऽर्जुनः श्रीकृष्णमपृच्छत् यद् भगवन् ! शिथिलप्रयत्नवान् साधकः नष्टःभ्रष्टस्तु न जायते? श्रीकृष्णेनोत्तरितं यदर्जुन! पूर्वं तु कर्मज्ञानमावश्यकं ज्ञानानन्तरञ्चाल्पमपि साधनं जातं तदा तस्य तस्मिन्नपि जन्मनि कदापि विनाशो न भवति, प्रत्युत् तस्याल्पाभ्यासस्य प्रभावतः प्रत्येकं जन्मनि तदेव साधनं करोति। अनेक जन्मनां परिणामे तत्रैव प्राप्नोति यस्यनाम परमगतिः परमात्माचास्ति। तज्ज्ञानमेव योगेश्वरः श्रीकृष्ण अत्रापि ब्रवीति यदिदं साधनं सरलमनश्वरं चास्ति, किन्त्वेतदर्थं श्रद्धानितान्तमनिवार्या।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

परंतपाः अर्जुन! अस्मिन् धर्मे श्रद्धारहितः पुरुषः मां न प्राप्य संसार-क्षेत्रे भ्रमणं करोति। अतः श्रद्धापरमानिवार्यास्ति। किं भवान् संसारतः परो वर्तते? अत उपरि कथयति कृष्णः–

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

ममाव्यक्तस्वरूपेण जगदिदमस्ति व्याप्तम् अर्थादहं येन स्वरूपेणा-वस्थितोऽस्मि तद्रूपं सर्वत्रास्ति व्याप्तम्। सर्वे प्राणिनः मयिप्राप्तस्थानाः सन्ति, किन्तु नाहं तेषु स्थितः, कुतोहि अहमव्यक्तरूपेणास्मि संस्थितः। महापुरुषः यस्मिन्नव्यक्तस्वरूपे स्थितो भवति, तत एवाव्यक्तस्तरेण वार्तालापं करोति। अस्मिन् क्रमे कथयत्यग्रे कृष्णः–

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

वस्तुतस्तु सर्वेभूताः मयि न स्थिताः सन्ति, कुतोहि ते सन्ति मरण-धर्माणः प्रकृत्याश्रिताश्च, किन्तु मम योगमायायाः परमैश्वर्यमवलोकय यत् प्राणिनामुत्पन्नकर्त्ता पोषणकर्त्ता च ममात्मा भूतेषु न स्थितोऽस्ति। अहमात्म-स्वरूपोऽस्मि, अतएव तेषु भूतेषु नास्मिस्थितः। महापुरुषो यस्मिन्नव्यक्तस्वरूपे तिष्ठति तत एव (शरीरं विहाय तत् स्तरेण) वार्तां करोति। अयमेव योगस्य प्रभावः। इयं सुस्पष्टयितुं योगेश्वरः श्रीकृष्णः प्रददाति दृष्टान्तम् –

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

यथाकाशात् समुत्पन्नो वायुराकाशे सदैव राजते किन्त्वाकाशं मलिनं कर्त्तुं न प्रभवति-यथार्थतः तथैव सर्वेभूताः मयिस्थिताः सन्ति, इत्थं जानीहि। इत्थमेवाकाशवदहं निर्लेपोऽस्मि। ते भूताः मां मलिनं कर्तुं न सक्षमाः। प्रश्नः

पूर्णतामगच्छत्, एष एव योगस्य प्रभावः। इदानीं योगी किं करोति? अत उपरि वदति कृष्णः–

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।

अर्जुन! कल्पस्य विलयकाले सर्वे मम प्रकृतिं अर्थात् स्वभावं लभन्ते तथा च कल्पादौ तान् भूतानहं वारं-वारं '**विसृजामि**'- विशेषरूपेण सर्जनं करोमि। आसन् तु सर्वेभूताः प्रथमत एव किन्तु विकृता आसन्, तानेव विरचयामि, सज्जयामि। ये सन्त्यचेतास्तान् जागरयामि, कल्पार्थं प्रेरयामि। कल्पस्य तात्पर्यमस्ति उत्थानोन्मुखं परिवर्त्तनम्। आसुरीसम्पदः निःसृत्य यथा-यथा पुरुषः दैवीसम्पदि प्रविशति अतएव कल्पारम्भः, यदाचेश्वरभावं प्राप्नोति जीवः, तदैव कल्पक्षयः। स्वकर्म पूरयित्वा कल्पो विलीयते। भजनस्यारम्भः कल्पस्यादिः, भजनस्य पराकाष्ठा च यत्र लक्ष्यं विदितं भवति, स एव कल्पान्तः। यदायं प्रत्यगात्मा योनिनां कारणभूत रागद्वेषादिभ्यो मुक्तिं लब्ध्वा स्वशाश्वतस्वरूपे स्थिरो भवेत्, अमुमेव विषयं श्रीकृष्णः कथयति यत् स मम प्रकृतिं प्राप्तो भवति।

यः महापुरुषः प्रकृतेः विलयं कृत्वा स्वरूपे प्रवेशं प्राप्तवान् तस्य कीदृशी प्रकृतिः? किं तस्मिन् प्रकृतिः शेषा वर्त्तते? नहि, तृतीयाऽध्यायस्य (३/३३) श्लोके योगेश्वरेण श्रीकृष्णेनोक्तमासीत् यत् सर्वे प्राणिनः स्वप्रकृतिं प्राप्नुवन्ति। यादृशस्तेषामुपरि प्रकृतिगुणानां प्रभावोऽस्ति, ते तथा कुर्वन्ति च '**ज्ञानवानपि**' प्रत्यक्षदर्शनेन सह बोधविशिष्टः ज्ञान्यपि स्वप्रकृत्यनुसारेण चेष्टां करोति। अयं ज्ञानी पृष्ठानुवर्तिनां कल्याणाय करोति चेष्टाम्। पूर्णज्ञानिनस्तत्त्वेस्थितस्य महापुरुषस्य दिनचर्यैव तस्य प्रकृतिरस्ति। स स्वस्यास्मिन् स्वभावे प्रवर्त्तते। कल्पक्षये जनाः महापुरुषस्येमां दिनचर्यां भजन्ते। महापुरुषस्यास्य कृतित्वस्योपरि पुनः प्रकाशं करोति–

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

स्वप्रकृतिमर्थात् महापुरुषस्य दिनचर्यांस्वीकृत्य '**प्रकृतेर्वशात्**'- स्वस्वभावेस्थितप्रकृतिगुणैः परवशः सन् इमं सम्पूर्णं भूतसमुदायं अहं भूयो-भूयः '**विसृजामि**'- विशेषसर्जनं करोमि, विशेषरूपेण सज्जयामि, एतान् स्वस्वरूपोन्मुखं वर्धनाय प्रेरयामि। तदा तु भवानेतद्कर्मबन्धनबद्धोऽस्ति?-

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अध्याये (४/९) योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन कथितमासीत् यन् महापुरुषस्य कार्यप्रणाल्यलौकिकी भवति। अध्याये (९/४) उक्तम्- अहमव्यक्तरूपेण करोमि। अत्रापि तदेव विषयमुपस्थापयति यद् धनञ्जय! यानि कर्माण्यहमदृश्य- रूपेण करोमि, तेषु नास्ति ममासक्तिः। उदासीनेन सदृशस्य स्थितस्य मम परमात्मनः स्वरूपं तानि कर्माणि न बध्नन्ति, कुतः कर्मणः परिणामे यल्लक्ष्यं मिलत्यहं तस्मिन् स्थितोऽस्मि। अतएव तानि कर्त्तुं नाहं विवशो बाध्यो वा।

अयं तु स्वभावेनसहयुक्तप्रकृतिकार्यस्य प्रश्न आसीत्, महापुरुषस्य दिनचर्या रचना चासीत्। इदानींममाध्यासेन माया यां रचनां करोति, तत् किमस्ति? सोऽपि एकः कल्पः-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अर्जुन! ममाध्यक्ष्ये, ममोपस्थितौ सर्वत्र व्याप्ते मयि अध्यासेनेयं माया (त्रिगुणमयी प्रकृतिः, अष्टधा मूलप्रकृतिश्चेतनञ्च) चराचरसहितं जगद् रचयति, यः क्षुद्रः कल्पोऽस्ति। अस्मात् कारणाच्च संसारोऽयं जन्ममरणस्य चक्रे भ्रमति। प्रकृतेरयं क्षुद्रः कल्पः, यस्मिन् कालस्य परिवर्तनमस्ति, ममाध्यासेनैव प्रकृतिरेव करोति, नाहं करोमि; किन्तु सप्तमश्लोकस्य कल्प आराधनायाः सञ्चारमेवं पूर्तिपर्यन्तं मार्गदर्शनवान् कल्पः महापुरुषः स्वयं कुरुते। एकस्थाने स भगवान् स्वयं कर्त्ताऽस्ति यत्र विशेषरूपेण सर्जनं करोति, अत्र तु कर्त्ता प्रकृतिरस्ति, या केवलं ममाध्यासेनैव क्षणिकं परिवर्तनं करोति। यस्मिन् परिवर्तने शरीरपरिवर्तनम्, कालपरिवर्तनम्, युगपरिवर्तनादीनि चायान्ति। एवं व्याप्तप्रभावेसम्पन्नेसत्यपि मूढजना मां न जानन्ति यथा-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

सर्वेषां भूतानां महान्तमीश्वरस्वरूपं मम परमभावमजानानः मूढजना मां मानवशरीरं तुच्छञ्च कलयन्ति। सम्पूर्णप्राणिनामीश्वरस्यापि यः महानीश्वरोऽस्ति तस्मिन् परमभावेऽहं स्थितोऽस्मि, किन्त्वस्मिमानवशरीरधारी, मूढा नेदं रहस्यमवगच्छन्ति। ते मां मनुष्यमुक्त्वा सम्बोधयन्ति। तेषां दोषोऽपि किमस्ति? यदा ते दृष्टिपातं कुर्वन्ति, तदा महापुरुषस्य शरीरमेव दृष्टिगतो भवति। कथं ते जानन्तु यद् भवान् महेश्वरभावे स्थितोऽस्ति। ते कथं न द्रष्टुं शक्नुवन्ति? अत उपरि कथयति कृष्णः-

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

ते वृथाशां (या कदापि न पूर्णतामेति), वृथाकर्म (बन्धनकारकं कर्म), वृथाज्ञानं (यद् वस्तुतः ज्ञानं नास्ति) '**विचेतसः**'-विशेषरूपेणाचेताः सन्तः राक्षसानामसुराणामिव मोहितस्वभावं धारणं कृतवन्तः सन्ति अर्थाद् आसुरी-स्वभाववन्तो वर्त्तन्ते एतदर्थं मां मनुष्यं जानन्ति। असुरराक्षसयोश्च मनस एकः स्वभावोऽस्ति, न तु काचिज्जातिः, योनिर्वा। आसुरीस्वभावन्तः मां न ज्ञातुं शक्नुवन्ति, किन्तु महापुरुषाः मां जानन्ति, भजन्ति च-

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

हे पार्थ! दैवीप्रकृतेः-दैवीसम्पदः समाश्रिताः महात्मजनाः मां सर्वभूतानामादिकारणमव्यक्तमक्षरञ्च बुद्ध्वानन्यमनसा-मनस अन्तराले कमप्यन्यं स्थानं न दत्वा केवलं मयि श्रद्धां निधायानवरतं मां भजन्ते। कथं भजन्ति? अत उपरि कथयति कृष्णः-

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

ते निरन्तरं चिन्तनव्रते निश्चलाः भवन्तः सन्तः मम गुणानां चिन्तनं कुर्वन्ति, ममप्राप्तेः यत्नं विदधति मां च वारंवारमभिवादयन् सदैव मत्संयुक्तः भूत्वानन्य-भक्त्या मामुपासते निरन्तरं संलग्नाश्च भवन्ति। कीदृशीमुपासनां कुर्वन्ति? कीदृशश्चायं कीर्तिमानः? काचिदपरोपासना नहि, प्रत्युत् तदेव 'यज्ञः' यस्य वर्णनं सम्यक् प्रपञ्चितम्। तामेवाराधनामिह समासतः योगेश्वरः श्रीकृष्णः पुनरावर्त्तयति-

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

तेषु केचन तु सर्वव्याप्तं विराजं परमात्मानं मां ज्ञानयज्ञद्वारा यजन्ते, अर्थात् स्वलाभालाभौ शक्तिञ्चावगत्य कस्मिंश्चित् नियतकर्मयज्ञे प्रवर्त्तन्ते। केचन तु मामेकत्वभावेन समुपासते यत् मामस्मिन्नेवैकत्व प्राप्तिरपरे च मां पृथक् कृत्य मयि समर्पिता भूत्वा निष्कामसेवाभावेन मामुपासते तथान्यप्रकारेणापि बहवो भजन्ति, कुतोह्येकस्यैव यज्ञस्येमे उच्चावचाः स्तराः सन्ति। यज्ञस्यारम्भः सेवया भवति; किन्तु तस्यानुष्ठानं भवति कथम्? योगेश्वरः कृष्णः कथयति- यज्ञमहं करोमि। यदि महापुरुषः रथी न स्यात् तदा यज्ञः न पूरयिष्यति। तस्यैव निर्देशने साधकः ज्ञातुं शक्नोति यत् साम्प्रतं स तस्मिन् स्तरे वर्त्तते, कियत् यावत् तस्य गतिः। वस्तुतः यज्ञकर्त्ता कोऽस्ति? अत उपरि कथयति कृष्णः-

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

अहं कर्त्ताऽस्मि। वस्तुतः कर्त्तुः पृष्ठे प्रेरकरूपेण सर्वदा सञ्चालयन् कर्त्ता तदिष्टेवास्ति। कर्त्ताद्वारा यः पारं पारयति, तद् ममानुदानमस्ति। अहमेव यज्ञोऽस्मि। यज्ञ आराधनायाः विधिविशेषोऽस्ति। पूर्तिकाले यज्ञः यस्य सर्जनं करोति, तस्यामृतस्य पानकर्त्ता पुरुषः सनातने ब्रह्मणि प्रवेशं प्राप्नोति। अहं स्वधाऽस्मि, अर्थातीतस्यानन्तसंस्काराणां विलयकरणम्, तान् सन्तर्पणं ममानुदानमस्ति। अहमेव भवरोगस्य निवारकं महौषधमस्मि। मां लब्ध्वा जनाः भवरोगात् विनिवृत्ताः भवन्ति। अहं मन्त्रोऽस्मि। मनसः श्वासान्तराले निरोधनं ममानुदानमस्ति। अस्यां निरोधक्रियायां तीव्रतानायकं वस्तु 'आज्यम्' (हविः) अपि अहमेवास्मि। ममैव

प्रकाशे मनसः सर्वाः प्रवृत्तयः विलीयन्ते तथा हवनमर्थात् समर्पणमप्यहमेवास्मि।

अत्र योगेश्वरः श्रीकृष्णः भूयोभूयः 'अहमस्मि' इति कथयन्नस्ति। अस्याशय एतावान् मात्रमस्ति यदहमेव प्रेरकरूपेणात्मनः अभिन्नो भूत्वा सन्नद्धो भवामि तथा निरन्तरं निर्णयं ददानः योगक्रिया पूर्तिं कारयामि। एतस्यैव नाम विज्ञानमस्ति। 'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म यत् यावदिष्टदेवः सारथी भूत्वा श्वासप्रश्वास-योरवरोधं कर्त्तुं नारभेत् तावद् भजनारम्भो न भवति। कश्चित् कियदपि नेत्रफलक निरोधनं विदधीत्, भजनं कुर्यात्, शरीरं तापयेत् किन्तु यावत् यस्य परमात्मनः मम कामनाऽस्ति स, यस्मिन् धरातले अहं स्थितोऽस्मि तस्मिन् धरातले समवतीर्य, आत्माभिन्नो भूत्वा जागृतं न भवति तावत् सच्चामुचं मात्रायां भजनस्य स्वरूपं बुद्धौ न प्रविशति। अतएव 'महाराजाः' कथयन्ति स्म, "मम स्वरूपं गृहाण, अहं सर्वं दास्यामि।" श्रीकृष्णः कथयति—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

अर्जुन! अहमेव सम्पूर्ण जगतः '**धाता**' अर्थात् धारणकर्त्ताऽस्मि।' '**पिता**' अर्थात् पालनकर्त्ताऽस्मि, '**माता**' अर्थादुत्पन्नकर्त्ताऽस्मि, '**पितामहः**' अर्थात् मूलोद्गमोऽस्मि, यत्र सर्वे प्रवेशं प्राप्नुवन्ति। ज्ञातुं योग्यश्च पवित्रः 'ओंकार' अर्थाद् अहं आकारः इति ॐकारः, स परमात्मा मम स्वरूपे निहितोऽस्ति, सोऽहम्, 'तत्वमसि' इत्यादि वचांसि परस्परं पर्यायभूतानि सन्ति एवं बोद्धव्य स्वरूपोऽहमस्मि। '**ऋक्**' अर्थात् सम्पूर्णा प्रार्थना, '**साम**' अर्थात् समत्वप्रदायिका प्रक्रिया, '**यजुः**' अर्थात् यजनस्य विधिविशेषोप्यहमस्मि। योगानुष्ठानस्योक्त त्रीण्यावश्यकान्यङ्गानि मत्त एव जायन्ते।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

अर्जुन! '**गतिः**' अर्थात् प्राप्तव्या परमगतिः, '**भर्ता**'- भरण-पोषणकर्त्ता सर्वेषां स्वामी, '**साक्षी**' अर्थाद् द्रष्टारूपेण स्थितः सर्वस्य ज्ञाता, सर्वस्य शरण-प्रदं वासस्थानम्, अहैतुक प्रेमीमित्रम्, उत्पत्तिप्रलययोरर्थात् शुभाशुभ संस्काराणां

विलयाश्रयः, अविनाशीकारणमहमेवास्मि। अर्थादन्ततो गत्वा यासु प्रवेशो मिलति, ताः सर्वा विभूतयोऽहमस्मि।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

अहं सूर्यरूपेण तपामि, अहं वृष्टिमाकर्षामि, मृत्योः परे अमृततत्त्वं तथा मृत्युः, सदसच्च सर्वमहमेवास्मि। अर्थात् यः परमं प्रकाशं ददाति, स सूर्योप्यहमेवास्मि। यदा-कदा भजमाना भक्ताः मामसदपि मन्यन्ते, ते मृत्युं प्राप्नुवन्ति। इत्थं कथयति कृष्णः-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

आराधना विद्यायाः ऋक्, साम, यजुः स्वरूपाणि यानि त्रीण्यङ्गानि सन्ति यैरङ्गैः प्रार्थना, समत्व, यजन क्रियायाः आचरण कर्त्तारः, सोम अर्थात् चन्द्रमसः क्षीण प्रकाशप्रापकः पापान्मुक्तो भूत्वा पुरुषाः पवित्राः सन्तस्तस्यैव यज्ञस्य निर्धारित प्रक्रियाद्वारा मामिष्टरूपेण परिपूज्य स्वर्गाय प्रार्थयन्ति। इयमेवासतः कामनास्ति, अनया ते मृत्युं लभन्ते तेषाञ्च पुनर्जन्म भवति। यथा पूर्वश्लोके योगेश्वरः कथितवान्। ते पूजयन्ति तु मामेव, पूर्वोक्त निर्धारितविधिना किन्तु फलरूपेण स्वर्गं याचन्ते। ते पुरुषा स्वपुण्यस्य फलस्वरूपमिन्द्रलोकं प्राप्य, स्वर्गे देवतानां सुलभं दिव्यभोगं भुञ्जन्ति, अर्थादिमं भोगमपि अहमेव ददामि।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

त उपर्युक्तं विशालं स्वर्गसुखं भोगञ्चभुङ्क्त्वा पुण्यस्य क्षये जाते सति पुनः मृत्युलोके जन्मगृहीत्वा पुनः म्रियन्ते। अनेन प्रकारेण '**त्रयीधर्मम्**'- प्रार्थनासमत्वयजनानां त्रयाणां विधिनां मध्यत एकेनैव यज्ञानुष्ठानकर्त्तारो मम शरणमागता अपि कामनायुक्ताः पुरुषाः वारं-वारं जन्ममृत्युक्लेशं वहन्ति। किन्तु तेषां मूलनाशः कदाऽपि न भवति, कुतोहि अस्मिन् योगपथे बीजस्य नाशो न भवति। किन्तु ये कामपि कामनां न कामयन्ते ते किं प्राप्नुवन्ति?-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अनन्यभावेन मयि स्थिताः ये भक्तजनाः मां परमात्मस्वरूपं निरन्तरं ध्यायन्ति, '**पर्युपासते**'- लेशमात्रमपि त्रुटिं न कृत्वा मामर्चन्ति, तेषां नित्यमेकी-भावेन संयुक्तानां पुरुषाणां योगक्षेममहं स्वयं वहाम्यर्थात् तेषां योगस्य सुरक्षायाश्च दायित्वं स्वपाणौ धारयामि। एवं सत्यपि जना अन्य देवान् भजन्ते-

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

कौन्तेय! श्रद्धायुक्ताः ये भक्ताः भिन्नान्-भिन्नान् देवान् पूजयन्ति, तेऽपि मामेवार्चन्ति, कुतोहि तत्र देवतानाम्नः कस्यापि वस्तुनो नास्तित्वं भवति, किन्तु तेषां तत्पूजनं विधिहीनमस्ति, ममप्राप्तिविधेः विरहितमस्ति।

अत्र योगेश्वरः श्रीकृष्णः द्वितीयवारं देवानां प्रकरणं जग्राह। सर्वप्रथमं सप्तमाऽध्यायस्य विंशतितमश्लोकात् त्रयोविंशतितमश्लोकं यावत्तेनोक्तम्, अर्जुन! कामनाभिः येषां ज्ञानस्यापहरणमभवत्, एवंभूताः मूढबुद्धिपुरुषाः अन्यदेवान् पूजयन्ति। यत्र पूजयन्ति, तत्र देवाभिधाना काऽपि सक्षमा सत्ता न वर्त्तते। परन्तु पिप्पले, प्रस्तरे, भूते, भवान्यामथवान्यत्र यत्र कुत्रापि तेषां श्रद्धा विनम्रायते, तत्र न कोऽपि देवः। अहमेव सर्वत्र वर्त्ते, तत्रापि अहमेवोपस्थितो भूत्वा तेषां श्रद्धां तेषु स्थानेषु स्थिरां करोमि। अहमेव फलस्यापि विधानं करोमि, फलं यच्छामि च। फलं निश्चितरूपेण मिलति, किन्तु तत्फलं नश्वरमस्ति। अद्यास्ति, तर्हि श्वः भोगे आगमिष्यति, नङ्क्ष्यति च, यदा तु मम भक्तः नष्टो न भवति। अतस्ते मूढबुद्धयः येषां ज्ञानस्यापहरणं जातं त एवान्यदेवानां पूजां विदधति।

प्रस्तुताऽध्यायस्य त्रयोविंशतिश्लोकतः पञ्चविंशतिश्लोकं यावत् योगेश्वरः श्रीकृष्णः पुनरावृत्तिं करोति, यदर्जुन! ये श्रद्धयान्यान् देवान् यजन्ते ते मामेवाभिवन्दन्ते, किन्त्वेतत् पूजनं विधिविगर्हितम्। तत्र देवतानाम्नः न किमपि सशक्तं वस्तु, तेषां प्राप्तिविधिरलीका। साम्प्रतमुदेति प्रश्नः यदा ते प्रकारान्तरेण भवन्तमेव पूजयन्ति फलमपि च लभन्ते, तर्हीतर देवपूजने को दोषः?

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनाश्च्यवन्ति ते।।२४।।

सम्पूर्ण यज्ञानामहमेव भोक्तार्थात् यज्ञाः यस्मिन् विलीयन्ते, यज्ञस्य परिणामे यत्किञ्चिन्मिलति सोऽहमस्मि। स्वामीचाप्यहमेवास्मि। परन्तु ते मां तत्त्वतः सम्यग् न जानन्ति, अतएव च्यवन्ति पतन्ति च। अर्थात् ते कदाचिदन्येषु देवेषु पतन्ति, तत्त्वतस्ते न जानन्ति तावत् कामनाभिरपि पतन्ति। तेषां का गतिः?–

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अर्जुन! देवानां पूजकाः देवान् प्राप्नुवन्ति। देवास्तु परिवर्त्तितसत्तास्वरूपाः सन्ति, श्वः न स्थास्यन्ति। ते स्वसत्कर्मानुसारेण जीवनं यापयन्ति। पितृणां पूजकाः पितृन् लभन्ते अर्थादतीतजाले भवन्ति निबद्धाः। भूतानां पूजकाः भवन्ति भूताः, शरीरं धारयन्ति, मम च भक्ताः मां प्राप्नुवन्ति। ते मम साक्षात् स्वरूपाः सन्ति, तेषां पतनं न भवति। एतदेव नहि, मम पूजाया विधानमपि सरलं, सुकरं, सुलभं सुगमञ्चास्ति।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

भक्तेरारम्भ इतएवास्ति यत् पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं चेत्यादीनि यः कश्चिद् भक्तिपूर्वकं मह्यं प्रत्यर्पयति, मनसा समर्पितं पत्रादिकं तस्य भक्तस्य सर्वमहं भुञ्जाम्यर्थात् स्वीकरोमि। अतएव–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अर्जुन! त्वं यत् कर्म करोषि, यत् खादसि, यद्धवनं करोषि, यत् समर्पणं करोषि, यद्दानं ददासि, मनसासहितमिन्द्रियं यन्ममानुरूपं तापयसि, उक्तं सर्वं मह्यं समर्प्यार्थात् मां प्रति समर्पितो भूत्वा पूर्वोक्तं सर्वं कुरु। समर्पणक्रियया योगक्षेमस्य दायित्वमहं स्वयं पालयिष्यामि।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

अनेन प्रकारेण सर्वस्वस्य न्यासद्वारेण प्राप्तसंन्यासयोगेन युक्तस्त्वं शुभाशुभफलदायककर्मणां बन्धनेन मुक्तो भूत्वा मां प्राप्स्यसि।

उपर्युक्त त्रिषु श्लोकेषु योगेश्वरः श्रीकृष्णः क्रमबद्धसाधनस्य तस्य परिणामस्य च चित्रणं कृतवान्। आदौ पत्रपुष्पजलादीनां पूर्णश्रद्धयार्पणम्, द्वितीये श्लोके समर्पितो भूत्वा कर्माचरणं, तृतीये च श्लोके पूर्णसमर्पणेन साकं सर्वस्वत्यागः। एतेषांद्वारेण कर्मबन्धनाद् विमुक्तो भविष्यति। मुक्त्या किं प्राप्स्यसि? उक्तवान् मां प्राप्स्यसि। अत्र मुक्तिः भुक्तिश्च परस्परमेका द्वितीयायाः पूरिके स्तः। भवतः प्राप्तिरेव मुक्तिः, तर्हि तेन को लाभः? अत उपरि कथयति कृष्णः—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

सृष्टौ न मम कश्चित् प्रियः न च द्वेष्यः, किन्तु योऽनन्यभक्तोऽस्ति स मयि, अहञ्च तस्मिन् वसामि। अयमेष ममैकमात्रं सम्बन्धः। तस्मिन्नेव परिपूर्णो भवामि। मयि भक्ते च न कोऽप्यन्तरः शिष्यते। तदा तु बहुभागशालिनः भक्ता एवं भजनं कुर्वन्तः भविष्यन्ति। भजनस्याधिकारः कस्य? अत उपरि योगेश्वरः कथयति—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

जघन्यपापकर्ता दुराचारो मामनन्यभावेनार्थात् (अन्य+न) मदतिरिक्तं कमप्यन्यं वस्तु देवं वा न भजित्वा केवलं मामेवानवरतं भजति, स साधुरेव माननीयः। इदानीं स साधुत्वमप्राप्तोऽस्ति किन्तु तस्य साधुत्वसिद्धौ सन्देहोऽपि

न वर्त्तते, कस्माद्धि स यथार्थ निश्चयेन संलग्नोऽभवत्। अतो भजनं भवानपि कर्त्तुं शक्नोति। स समयेन (बशर्ते) यद् भवान् मनुष्यो भवेत्, यतोहि मनुष्य एव यथार्थनिश्चयवान् भवति। गीता पापीनामुद्धारं करोति तथा च पथिकः–

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अस्य भजनस्य प्रभावतः स दुराचारोऽपि शीघ्रमेव धार्मिको भवति, परमधर्मेण परमात्मना संयुज्यते तथा सर्वदैव स्थातुमर्हां परमशान्तिं प्राप्नोति। कौन्तेय! त्वं निश्चयपूर्वकं जानीहि यन् मम भक्तः कदापि न नश्यति। यथैकस्मिन् जन्मनि पारं नाप्तवान् तर्ह्यग्रिमे जन्मनि तेनैव साधनेन शीघ्रमेव परमशान्तिं लभते। अतः सदाचारस्य दुराचारस्य च सर्वेषां भजनस्याधिकारोऽस्ति। एतदेव नहि, अपितु–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

पार्थ! स्त्रीवैश्यशूद्रादयः ये केचन पापयोनयः, ते सर्वे मामाश्रित्य परमां गतिं लभन्ते। अतो गीतेयं मनुष्यमात्रस्य हितायास्ति, कामं स किमपि कुर्वन् भवेत्, कुत्रापि गृहीतजन्मा स्यात्, सर्वेषां कृते गीतेयमेकसमानकल्याणस्योपदेशं करोति। गीता सार्वभौमा वर्त्तते।

पापयोनिः-(अध्याये १६/७-२१) आसुरीवृत्तेः लक्षणानामन्तर्गतं भगवता प्रतिपादितं यच्छास्त्रविधिं विहाय नाममात्रस्य यज्ञैः सदम्भं ये यजनं कुर्वन्ति ते नराधमाः। यज्ञस्तु वर्त्तत एव नहि किन्तु नामकरणं कृतवन्तः सदम्भं च यजन्ते, स क्रूरकर्मा पापाचारोऽस्ति। वैश्यशूद्रादयो भगवत्पथः सोपानानि सन्ति। नारीणां प्रति कदाचिद् हीनताया भावनासीत् किन्तु योगप्रक्रियायां स्त्रीपुरुषयोः समानमेव प्रवेशोऽस्ति।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

पुनस्तु ब्राह्मणराजर्षिक्षत्रियभक्तानां कृते किमस्ति कथनीयम्। ब्राह्मण एकस्या अवस्थायाः विशेष एव। यस्मिन् ब्रह्मणि प्रवेशं दापयितुं सर्वाः योग्यताः विद्यमानाः मिलन्ति। शान्तेः, आर्जवस्य, अनुभवस्य उपलब्धेः, ध्यानस्य, इष्टस्य च निर्देशेन यस्मिन् गन्तुं क्षमता विद्यते, इयमेव ब्राह्मणस्यावस्था। राजर्षिः, क्षत्रियेषु ऋद्धीनां–सिद्धीनां च सञ्चारः, शौर्यस्य, स्वामिभावस्य, अपलायनस्य स्वभावो वर्त्तते। अस्मिन् योगस्तरे प्राप्ताः योगिनस्तु पारयन्त्येव तेषां कृते नास्ति किमपि वक्तव्यम्। अतएवाऽर्जुन त्वं सुखरहितं, क्षणभङ्गुरमिदं मनुष्य–शरीरं प्राप्य ममैव भजनं कुरु। अस्यनश्वरशरीरस्य ममत्वे, पोषणे समयं नष्टं मा कार्षीः।

योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽत्र चतुर्थवारे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चर्चां कृतवान्। द्वितीयाध्याये तेनोक्तं यत् क्षत्रियस्य कृते युद्धादुत्तमं कल्याणस्य किमपि मार्गं नास्ति। तृतीयाऽध्याये तेनोक्तं यत् स्वधर्मे निधनमपि श्रेयस्करमस्ति। चतुर्थाऽध्याये तेनोक्तं यत् वर्णचतुष्टयस्य रचनामहमकरवम्। किं तर्हि मनुष्यान् चतसृषु जातिषु विभाजितवान्? उक्तं तेन, नहि, '**गुणकर्म विभागशः**'–गुणस्य मापदण्डेन कर्माणि चतसृषु श्रेणिषु विभाजितानि। श्रीकृष्णानुसारेण कर्मैकमात्रं यज्ञस्य प्रक्रियाऽस्ति। अतोऽस्य यज्ञस्यकर्त्तारश्चतुष्प्रकारकाः सन्ति जनाः। प्रवेशकाले यज्ञकर्त्ताऽयं शूद्रोऽस्ति, अल्पज्ञोऽस्ति। किञ्चित् कर्मसम्पादनानन्तरं काचित् क्षमता समायाता, आत्मिकसम्पत्तेः समभवत् संग्रहः तदा तु तत्रैव यज्ञकर्त्ताऽभवत् वैश्यः। इत उन्नते स्तरे प्रकृतेः गुणत्रयस्य भेदनस्य समायातायां क्षमतायामसौ साधकः क्षत्रियश्रेणीको भवति, यदाचास्य साधकस्य स्वभावे ब्रह्मणि प्रवेशदायिन्यः योग्यताः संविशन्ति, तदा स एव ब्राह्मणोऽस्ति। वैश्यशूद्रयोरपेक्षया क्षत्रियब्राह्मणश्रेणीकश्च साधकः परमपदप्राप्तेरधिकं समीपमस्ति। शूद्रवैश्यश्चापि तस्मिन् ब्रह्मणि प्रवेशं लब्ध्वा शान्तिमेष्यतः, पुनरितः श्रेष्ठावस्थावतां किमस्ति कथनीयम्, तेषां कृते तु सुनिश्चितैव प्राप्तिः।

गीता यासामुपनिषदां सारसर्वस्वमस्ति, तासु ब्रह्मविदुषी महिला–नामाख्यानानि सन्ति चर्चितानि। तथाकथित धर्मभीरवः, रूढिवादिनः वेदाध्ययनस्य कस्याधिकारः कस्य च नाधिकार इति व्यवस्थां दातुं वादविवादकर्त्तारः कुर्वन्तु वादविवादम्, योगेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य स्पष्टमस्ति समुद्घोषः यत् यज्ञार्थकर्मणः

निर्धारित क्रियायां नार्यो नराश्च सर्वे प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति। अतः कृष्णः भजनस्य धारणार्थं प्रोत्साहनं प्रददाति–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

अर्जुन! मम मनोऽनुकूलं तव मनः भवेत्। मदतिरिक्तमन्ये भावास्तव मनसि नागन्तुं शक्नुयुः। त्वं ममानन्यभक्तोऽसि, निरन्तरं चिन्तने संलग्नो भव। श्रद्धासहितः निरन्तरं ममैव पूजनं विधेहि, मामेव च नमस्कुरु। अनेन प्रकारेण मम शरणागतः स्वात्मानमेकीभावेन मयि सन्निवेश्य त्वं मामेव प्राप्स्यसि अर्थात् मया सहैकतां प्राप्तं करिष्यसि।

निष्कर्षः-

अस्याध्यायस्यारम्भे श्रीकृष्णेनोक्तम्– अर्जुन! तव दोषरहितस्य भक्तस्य कृते इदं ज्ञानमहं विज्ञानसहितं वक्ष्यामि। यज्ज्ञात्वा किमपि ज्ञेयं नावशिष्यति। इदं ज्ञानं ज्ञात्वा त्वं संसारबन्धनात् मोक्ष्यसि। इदं ज्ञानं सम्पूर्णविद्यानां राजपदं धत्ते। विद्या साऽस्ति या परमब्रह्मणि प्रवेशं दापयेत्। इदं ज्ञानं तस्याः विद्याया अपि राजाऽस्ति, अर्थात् निश्चितरूपेण कल्याणकारिकाऽस्ति। इदं ज्ञानं प्रत्यक्षफलदायकं साधनायां सरलमनश्वरं चास्ति। अल्पमप्येतस्य साधनेन साधकः पारं लगेत् तदास्य ज्ञानस्य कदाऽपि नाशो न भवति, प्रत्युदस्य ज्ञानस्य प्रभावतः सः साधकः परमश्रेयो यावत् प्राप्नोति, किन्त्वस्मिन् ज्ञानराजे अस्त्येकः पणः समयो (शर्त) वा, श्रद्धाविहीनाः पुरुषाः परमगतिमप्राप्य संसारचक्रे पर्यटन्ति।

योगेश्वरः श्रीकृष्णः योगस्यैश्वर्यस्योपर्यपि प्रकाशं प्रससार। दुःखस्य संयोगस्य वियोग एव योगः कथ्यते अर्थात् यः संसारस्य संयोगवियोगाभ्यां सर्वथोन्मुक्तो वर्तते, तस्यास्ति नाम योगः। परमतत्त्वस्य परमात्मनः मिलनस्य नामास्ति योगः। परमात्मनः प्राप्तिरेव योगस्य पराकाष्ठाऽस्ति। योऽस्मिन् योगे प्रवेशं प्राप्तवान् तस्य योगिनः प्रभावमवलोकय यत् सम्पूर्णजीवानां स्वामी–पोषणकर्ताऽपि ममात्मा तेषु भूतेषु नास्ति स्थितः। अहमात्मस्वरूपे स्थितोऽस्मि। स एवास्मि। यथाकाशे समुत्पन्नो वायुः गगने एव विराजते किन्तु गगनं मलिनं

कर्तुं न पारयति, तेनैव प्रकारेण सम्पूर्णभूतेषु संस्थितोऽस्मि किन्त्वहं न तेषु लिप्तोऽस्मि।

अर्जुन! कल्पादौऽहं भूतान् विशेषप्रकारेण रचयामि, सुसज्जयामि कल्पस्य च पूर्तिकाले सर्वेभूताः मम प्रकृतिमर्थात् योगारूढमहापुरुषस्य दिनचर्यां तेषामव्यक्तभावं च प्राप्ता भवन्ति। यद्यपि महापुरुषाः प्रकृतितः पृथक् सन्ति किन्तु प्राप्तेरनन्तरं स्वभावे स्वयं स्थितो भूत्वा लोकसङ्ग्रहाय यः कार्यं करोति सा तस्याः दिनचर्यास्ति। अस्याः दिनचर्यायाः कार्यकलापं तस्य महापुरुषस्य प्रकृतिमुक्त्वा सम्बोधितमस्ति।

एको रचयिता तु अहमस्मि, यः भूतान् कल्पाय प्रेरयामि, अपरा रचयित्री त्रिगुणमयी प्रकृतिरस्ति, या ममाध्यासेन चराचरसहितं भूतं सृजति। अयमप्येकः कल्पः,यस्मिन् शरीरस्य परिवर्तनम्, स्वभावस्य परिवर्तनम्, कालस्य परिवर्तनञ्च निहितमस्ति। गोस्वामी तुलसीदासोऽपीदं तथ्यं पुष्णाति–

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा।
जा वश जीव परा भव कूपा।।

(रामचरित मानस, ३/१४/५)

प्रकृतेः द्वौ भेदौ विद्या तथा अविद्या स्वरूपौ स्तः। अनयोरविद्या दुष्टाऽस्ति, दुःखरूपाऽस्ति, येन विवशो भूत्वा जीवो भवकूपे पतितोजातः, यया प्रेरितोभूत्वा जीवः कालस्य, कर्मणः, स्वभावस्य, गुणस्य च परिधौ समायाति। द्वितीया विद्यास्ति माया, यां कृष्णः कथयति–अनयैवाहं रचयामि। गोस्वामिनः अनुसारेण प्रभुः रचयति–

एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।

(रामचरित मानस, ३/१४/६)

इयं जगतः रचनां करोति, यदाश्रिताः गुणाः सन्ति। कल्याणकराः गुणा एकमात्रमीश्वरे वर्तन्ते। प्रकृतौ तु गुणाः सन्त्येव नहि, सा तु नश्वरा, किन्तु विद्यायां प्रभुरेव प्रेरको भूत्वा करोति सृजनम्।

अनेन प्रकारेण कल्पस्य भेदद्वयम्। एकस्तु वस्तुनः, शरीरस्य, कालस्य च परिवर्तनं कल्पोऽस्ति, किन्त्विदं परिवर्तनं प्रकृतिरेव ममाध्यासेन करोति किन्तु इतो महान् कल्पः स य आत्मानं निर्मलं स्वरूपं प्रददाति तस्य शृङ्गारं महापुरुषाः कुर्वन्ति। ते अचेतान् पुरुषान् सचेतान् कुर्वन्ति। भजनस्यादिरेवास्य कल्पस्य प्रारम्भोऽस्ति, भजनस्य च पराकाष्ठा कल्पस्यान्तोऽस्ति। यदाऽयं कल्पो भवरोगात् पूर्णनीरोगं कृत्वा शाश्वतब्रह्मणि प्रवेशं दापयति, तस्मिन् प्रवेशकाले योगी मम दिनचर्यां मम स्वरूपं च लभते। प्राप्तेरनन्तरं महापुरुषस्याचरणं तस्य प्रकृतिरस्ति।

धर्मग्रन्थेषु कथानकाः मिलन्ति यत् चतुर्षु युगेषु व्यतीतेष्वेव कल्पः पूर्णो भवति, महाप्रलयो भवति। प्रायः जना यथार्थरूपेण तथ्यमिदं नावगच्छन्ति। युगस्यार्थः स्तः द्वौ। भवान् पृथगस्ति, आराध्यः पृथगस्ति तावत् युगधर्मः स्थास्यति। गोस्वामीतुलसीदासः रामचरितमानसस्योत्तरकाण्डे त्वस्य चर्चां कृतवानस्ति। यदा तमोगुणः कार्यं करोति, रजोगुणस्तु अल्पमात्रायां भवति, चतसृषु दिक्षु वैरविरोधस्य प्रचारः एवंभूतो व्यक्तिः कलियुगीनः कथ्यते। स भजनं न कर्तुं पारयति किन्तु साधनारम्भे युगपरिवर्तनं भवति। रजोगुणस्य यदा भवति वृद्धिः, तमोगुणः क्षीणतामापद्यते, किञ्चित् सत्त्वगुणोऽपि स्वभावे आगच्छति, हर्षभययोश्च द्वैविध्यमापतति तदा तत्रैव साधकः द्वापरयुगस्यावस्थायामायाति। क्रमशः सत्त्वगुणस्य बाहुल्ये रजोगुणः स्वल्पो भवति, आराधनाकर्मणि रतिरुत्पद्यते एवं त्रेतायुगस्यावस्थायां त्यागस्य स्थितियुक्तः साधकः बहून् यज्ञान् करोति। 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि', यज्ञश्रेणीकः जपः यस्यारोहावरोहः श्वासप्रश्वासोपरि निर्भरोऽस्ति तं कर्तुं क्षमता जागर्ति। यदा मात्रं सत्त्वगुणः शेषायते, विषमता नष्टा समता समागता, अयं कृतयुगस्यार्थात् कृतार्थयुगस्याथवा सत्ययुगस्य प्रभावोऽस्ति। तस्मिन् समये सर्वे योगिनो विज्ञानिनो भवन्ति, ईश्वरे मिलनशीलाः जायन्ते, स्वाभाविक ध्यानग्रहणस्य तेषु क्षमता वरीवर्ति।

विवेकीजनाः युगधर्माणां पतनोत्थानं मनस्येव बुद्ध्यन्ते। मनसः निरोधार्थमधर्मस्य परित्यागं कृत्वा धर्मेप्रवृत्ता भवन्ति। निरुद्धमनसोऽपि जाते विलये, युगैः साकंसाकं कल्पस्याप्यन्तो भवति। पूर्णतायां प्रवेशं दापयित्वा

कल्पोऽपि शान्तो भवति। एष एव प्रलयः, तदा प्रकृतिः पुरुषे विलीना भवति। तदनन्तरं महापुरुषस्य या जीवनी सैव तस्य प्रकृतिरस्ति, तस्य स्वभावोऽस्ति।

योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथयति– अर्जुन! मूढाजना मां न जानन्ति, मामीश्वराणामपीश्वरं तुच्छं मन्यन्ते, साधारणमनुष्यं मानयन्ति। प्रत्येकं महापुरुषस्य जीवनेन सहेयं विडम्बनासीत् स्थिता यत्तत्कालीन समाजस्तेषामुपेक्षां कृतवान्। तेषां सबलं विरोधोऽभवत् । श्रीकृष्णोऽपि नाभवदस्य नियमस्यापवादः। स कथयति– यदहं परमभावे स्थितोऽस्मि, किन्तु शरीरं मदीयं मनुष्यस्यैवास्ति। अतो मूढा पुरुषा मां तुच्छंकथयित्वा मनुष्यमुक्त्वा सम्बोधयन्ति। एतादृशाः जनाः वृथाशावन्तः, व्यर्थकर्मवन्तः, व्यर्थज्ञानवन्तः सन्ति, यदिमे कुर्युः किमपि, ब्रूयुः किमपि यथाइत्थं कथयेयुः–न वयं कामनां कुर्मः, बभूवुः निष्काम–कर्मयोगिनः, ते आसुरीस्वभाववन्तः मां न शक्नुवन्ति बोद्धुम्, किन्तु दैवी–सम्पद्युता जना मम ध्यानमनन्यभावेन कुर्वन्ति। मम गुणानां सर्वदा चिन्तनं कुर्वन्ति।

अनन्योपासनायाः अर्थात् यज्ञार्थकर्मणः द्वौ पन्थानौ स्तः। प्रथमस्तु ज्ञान–यज्ञः अर्थात् स्वबलेन स्वशक्तिं ज्ञात्वा तस्मिन् नियत कर्मणि प्रवर्तनमपरः पन्थाः स्वामी–सेवकभावनायाः संस्थापनम्, यस्मिन् सद्गुरुं प्रति समर्पितो भूत्वा तदेव कर्म क्रियते, इत्युभाभ्यां दृष्टिभ्यां जनाः मामुपासते; किन्तु तेषां माध्यमेन ये पारं गच्छन्ति स यज्ञः, तद् हवनं, तस्य कर्ता, श्रद्धौषधिश्च येन भवरोगस्य चिकित्सा भवति, अहमेवास्मि। अन्ततः या गतिर्प्राप्ता भवति सा गतिरप्यहमस्मि।

अमुं यज्ञं जनाः 'त्रैविद्याः'– प्रार्थना, यजनं समत्वञ्च प्रदानकारक विधिभिः सम्पादनं कुर्वन्ति, किन्तु तस्य प्रतिफलरूपे स्वर्गं कामयन्ते तदाऽहं स्वर्गमपि ददामि। तस्य प्रभावेण ते देवेन्द्रपदं प्राप्तं कुर्वन्ति। दीर्घकालं यावत् ते तत्पदं भुञ्जन्ति किन्तु पुण्यस्य क्षयिते सति पुनर्जन्म लभन्ते। तेषां क्रियापद्धतिरासीत् समीचीना, किन्तु भोगकामनायाः शेषत्वात् पुनर्जन्म लभन्ते। अतो भोगानां कामना न कर्तव्या। यो अनन्यभावेनार्थात् मदतिरिक्तमपरः नास्ति कोऽपि, एवं भावेन यः निरन्तरं मम चिन्तनं करोति, भजने मनागपि न्यूनता न भवेदिति सावधानतया ये भजन्ति, तेषां योगस्य सुरक्षाया भारमहं स्वकराभ्यां धारयामि।

इत्येवंभूतहितरते मयि केचनजना: परित्यज्य मां विभिन्न देवानामर्चनां कुर्वन्ति किन्तु साऽर्चना मम प्राप्तेर्विधिर्नास्ति। नैतत् ते जानन्ति यदहं सम्पूर्ण यज्ञानां भोक्ताऽस्मि, अर्थात् तेषां पूजाया: परिणामे नाऽहं मिलामि, एतस्मात् तेषां पतनं भवति। ते देवता, भूत अथवा पितृणां कल्पितरूपे निवासं कुर्वन्ति, यदा तु मद्भक्तो मयि निवसति। मम स्वरूपो भवति।

योगेश्वर: श्रीकृष्ण: पूर्वोक्तयज्ञार्थकर्मजातमतीवसुगमंसरलञ्चोक्तवान् कोऽपि भक्तो फलं पुष्पं पत्रादिकञ्च मह्यं श्रद्धया निवेदयति तत् सर्वमहं स्वीकरोमि। अतो अर्जुन! त्वं यत् किञ्चिदाराधनां करोषि तत् सर्वं मे समर्पय। यदा सर्वस्वस्य त्यागो भविष्यति, तदा त्वं योगयुक्त: सन् कर्मबन्धनान्मुक्तो भविष्यसि। मुक्तिश्चेयं मम स्वरूपमस्ति।

संसारे सर्वे प्राणिन: सन्ति मामका:, कैरपि प्राणिभि: सह न मे वैरं न च प्रीति:। अहं तटस्थोऽस्मि, किन्तु ये सन्ति ममानन्यभक्ता:, तेष्वहं ते च मयि। कश्चिज्जनोऽत्यन्तदुराचारो जघन्यतम: पाप एवं कथं न स्यात् , पुनरपि सोऽनन्य–श्रद्धया भक्त्या च चेन्मां भजते, तदा तु साधुरूपेण समादरणीय: सम्माननीयश्च। तस्य निश्चय: स्थिरोऽस्ति, तर्हि स शीघ्रमेव परमेब्रह्मणि संयुज्यते। सदा स्थितां शाश्वतीं शान्तिञ्च सुतरां समालभते। अत्र तु कृष्णेन सुविवेचितं यत् कोऽस्ति धार्मिक:? सृष्टौ गृहीतजन्मान: केऽपि प्राणिनश्चेदनन्यभावेनैकं परमात्मानमर्चन्ति, तस्य चिन्तनं कुर्वन्ति तर्हि ते प्राणिनो धार्मिका भवन्ति। अतस्ते धार्मिका: ये मात्रैक परमात्मनो भजनं कुर्वते। अन्ततो ददात्याश्वासनं यदर्जुन! मम भक्त: कदापि नष्टो न भवति। भक्तस्तु भवेच्छूद्र:, भवेदादिवासी, भवेन्नीच:, भवेदनादिवासी, भवेत्किमपि नामधारी, भवेत् पुरुष:, भवेन्नारी, भवेत्पापयोनि:, भवेत् तिर्यक् योनि:, इत्थं योऽपि कोऽपि प्राणी पूर्वोक्त वर्गतश्चेत् ममशरणमाश्रयते तर्हि परमं श्रेय: प्राप्नोति। अतएव अर्जुन! सुखरहितं क्षणभङ्गुरं किन्तु दुर्लभं मानवशरीरं सम्प्राप्य मम भजनं कुरु। पुनस्तु ये ब्रह्मणि प्रवेश कारयित्रीभिर्योग्यताभि: सन्ति सम्पन्ना:, ये ब्राह्मणस्तरेण राजर्षि संस्तरेण च भजन्ति, एतादृशानां योगिनां तु विषये नास्ति किमपि वर्णनीयम् । ते स्वत: पारंगता: सन्ति। अतो अर्जुन! निरन्तरं मन्मना: सम्भूय निरन्तरं नमस्क्रियां

विधेहि। इत्थं त्वं मम शरणागतः सन् मां प्राप्स्यसि यतः पुनः पृष्ठानुवर्तनं न भविष्यति।

प्रस्तुताध्याये भाष्ये तस्याः विद्यायाः सम्बन्धे प्रकाशः कृतः श्रीकृष्णेन, यां विद्या श्रीकृष्णः स्वयं प्रजागरयति। इयमस्ति राजविद्या, यैकदा जागृता सति निश्चितरूपेण कल्याणं करोति।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'राजविद्याजागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्येण स्वामिना अड़गड़ानन्द कृते 'यथार्थगीता' भाष्ये 'राजविद्याजागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ दशमोऽध्यायः

गताध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्णः परमगुप्तराजविद्यायाः चित्रणं कृतवान् या निश्चयरूपेण कल्याणकारिण्यस्ति। दशमेऽध्याये श्रीकृष्णस्यास्ति कथनं यन्महाबाहो अर्जुन! मम परमरहस्ययुतं वचनं पुनराकर्णय। अत्र पूर्वोक्तोपदेश–सन्दर्भस्य द्विरावृत्तेः किमस्ति प्रयोजनम्? वस्तुतः साधकस्य कृते सिद्धौ परिपक्वता प्राप्तिं यावद्विघ्नबाहुल्यस्य क्रमश्चलति। यथा–यथा साधकः स्वरूपे स्वयं घटयति सन्निवेशयति वा, तदा प्रकृतेरावरणानि सूक्ष्मतां यान्ति, नवानि नूतनानि दृश्यानि दृश्यन्ते। तस्यावबोधं महापुरुषा एव कारयन्ति। स न जानाति। यदि महापुरुषाः मार्गदर्शनक्रियां त्यजेयुस्तदा साधकः स्वरूपोपलब्धेः परिवञ्चितो भविष्यति। यावत् स स्वरूपतो दूरमस्ति, तावत्सुस्पष्टमस्ति यत् प्रकृतेः किमपि न किमप्यावरणं वर्तत एव पथच्युततायास्तथा गतिभङ्गतायाः सम्भावना वर्तते। अर्जुनः शरणागतः शिष्योऽस्ति। तेनोक्तम् –'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' भगवन्! अहं ते शिष्योऽस्मि, शरणागतोऽस्मि, मां सम्भालय। अतो हि तस्य हितकामनया योगेश्वरः पुनः समुदीरयति–

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

महाबाहो अर्जुन! मम परमप्रभावयुक्तं वचनं पुनः सन्धारय, यद्वचनं तवोपरि प्रकृष्टप्रेमभावनया तवहितेच्छया कथयिष्यामि।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

अर्जुन! ममोत्पत्तिं देवता अपि न जानन्ति न च महर्षिगणाः बुध्यन्ते। श्रीकृष्णेनोक्तमासीत् '**जन्मकर्म च मे दिव्यं**' मदीयं तज्जन्मकर्मचालौकिकमस्ति, एभिश्चर्मचक्षुभिर्न न द्रष्टुं शक्यते मामकं जन्मकर्म च। अतएव तन्मम प्राकट्यं देवाः महर्षिस्तरं प्राप्ता जना अपि न जानन्ति। अहं सर्वप्रकारेण देवानां महर्षीणाञ्चास्तित्वस्यादिकारणमस्मि।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

यो जनः मां जन्ममृत्युरहितम्, आद्यन्तरहितम्, सर्वलोकस्य महान्तमीश्वरं साक्षात्कारंसहितं वेत्ति, स पुरुषः मरणधर्मेषु मनुष्येषु ज्ञानवानस्ति, अर्थादजमनादिं सर्वलोकमहेश्वरञ्च सम्यग् रूपेणावबोधनमेव ज्ञानमस्ति अपरञ्चायं ज्ञानयुक्तः पुरुषः सर्वपापेभ्यो मुच्यते न तस्य भवति पुनर्जन्म। श्रीकृष्णः कथयति यदियमप्युपलब्धिर्ममानुदानमस्ति।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अर्जुन! निश्चयात्मिका बुद्धिः, साक्षात्कारसहितं ज्ञानम्, लक्ष्ये विवेकपुर-सराः प्रवृत्तिः, क्षमा, शाश्वतसत्यम्, इन्द्रियाणां दमनम्, मनसः शमनम्, अन्तः-करणस्य प्रसन्नता, चिन्तनपथस्य कष्टम्, परमात्मजागृतिः, स्वरूपप्राप्तिकाले सर्वस्वस्य विलयः, इष्टं प्रत्यनुशासनात्मकं भयम्, प्रकृतितः निर्भयत्वं तथा–

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अहिंसा, अर्थात् निजात्मनोऽधोगतितः निवारणाचरणम्, समता–यत्र विषमता न स्यात्, सन्तोषः, तपः–मनसासहितानीन्द्रियाणि लक्ष्यानुरूपं तापनम्, दानम् अर्थात् सर्वस्वस्य समर्पणम्, भगवत् पथे मानापमानयोः सहनम्, अनेन प्रकारेण प्राणिनामुपर्युक्तभावाः मत्तः प्राप्ता भवन्ति। इमे सर्वे भावाः दैवी चिन्तनपद्धतेः लक्षणानि सन्ति। एतेषां भावानामभावा एव आसुरीसम्पदः सन्ति।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

सप्तर्षिः– अर्थात् योगस्य सप्तक्रमिकाः भूमिकाः (शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्तिः, असंसक्तिः, पदार्थाभावना, तुर्यगा च) तथा एतैः सप्तभिरनुरूपमन्तःकरणचतुष्टयम् (मनः, बुद्धिः, चित्तम्, अहङ्कारश्च), तस्यानुरूपं मनः यन् मयि भावयुक्तमस्ति– एतत् सर्वं ममैव सङ्कल्पात् (मम प्राप्तेः सङ्कल्पात् तथा यः मम प्रेरणया भवति। सप्तभूमिकास्तथान्तःकरणचतुष्टयं परस्परं पूरकौ स्तः) एतत् सर्वं ममद्वारोत्पद्यन्ते। अस्मिन् संसारे इमाः (सम्पूर्ण दैवीसम्पदः) एतत्– प्रजाः सन्ति, यतोहि सप्तभूमिकानां सञ्चारे दैवीसम्पद एव सन्ति, नान्याः।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

यः पुरुषः योगस्य तथा ममोपर्युक्तविभूतीनां साक्षात्कारेण मां जानाति, स स्थिरध्यानयोगद्वारा मयि सदैकीभावेन स्थितो भवति। अत्र किञ्चिदपि संशयो नास्ति। येन प्रकारेण वायुरहितस्थाने स्थापितस्य दीपकस्य शिखा ऋज्वी चकास्ति, न भवति कम्पनम्, योगिनां जितचित्तस्येयमेव परिभाषाऽस्ति। प्रस्तुतश्लोके 'अविकम्पेन' शब्दोऽस्याशयोपरि सङ्केतयति।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

अहं निखिलजगदुत्पत्तिकारणमस्मि। मत्प्रभावत एवाखिलं जगत् चेष्टते– इत्थं ज्ञात्वा श्रद्धाभक्तियुतः विवेकवान् पुरुषो निरन्तरं मां भजति। तात्पर्यमिदमस्ति यत् योगिभिर्द्वारा ममानुरूपं याः प्रवृत्तयः जायन्ते, तासां प्रवृत्तीनामुत्पादनमहमेव करोमि। स ममैव प्रसादोऽस्ति। (कथमस्ति? एतत् पृष्ठाध्याये स्थाने-स्थाने चित्रितं कृतम्) ते निरन्तरं भजनं कथं कुर्वन्ति? अत उपरि कथयति कृष्णः–

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अन्यस्मै कस्मैचित् स्थानं न दत्वा मयि चैव निरन्तरं चित्तं योजकाः, मयि चैव प्राणान् प्रयोजकाः सदैव परस्परं मम प्रक्रियाणां बोधं कुर्वन्ति। मम गुणगानं कुर्वन्त एव सन्तुष्टाः जायन्ते तथा निरन्तरं मयि चैव रमन्ते।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

निरन्तरं मम ध्याने संलग्नानां तथा प्रेमपूर्वकभजतां तेषां भक्तानां कृतेऽहमेव तद्बुद्धियोगमर्थात् योगे प्रवेशदां बुद्धिं ददामि, यया ते मां प्राप्ताः भवन्ति, अर्थात् योगस्य जागृतिः ईश्वरस्यानुदानमस्ति। स अव्यक्तः पुरुषः 'महापुरुष' योगे प्रवेशदापयित्रीं बुद्धिं कथं ददाति?—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

तेषां भक्तानामुपरि पूर्णानुग्रहं कर्तुमहं तेषामात्मनोऽभिन्नो भूत्वा, सारथी सम्भूय अज्ञानादुत्पन्नं गाढान्धकारं ज्ञानरूप दीपकद्वारेण प्रकाशितं कृत्वा नाशयामि। वस्तुतः केनापि स्थितप्रज्ञेन योगिना यावत्स परमात्मा तस्यात्मना जागृतो भूत्वा प्रतिपलं सञ्चालनं न करोति, अवरोधं न करोति, अस्याः प्रकृतेः द्वन्द्वात् बहिष्कुर्वन् स्वयं नाग्रे चालयति, तावत् वास्तविक यथार्थभजनस्यारम्भ एव न सम्पद्यते। एवं तु भगवान् सर्वतो वक्तुमारभते, किन्तु प्रारम्भे स भगवान् स्वरूपस्थ महापुरुषद्वारेण ब्रूते। यद्येतादृशं महापुरुषं भवान् न प्राप्नोति, तदा स भवन्तं स्पष्टं न वदिष्यति।

इष्टः, सद्गुरुरथवा परमात्मनः सारथीभवनमेवैकवतथ्यमस्ति। साधकस्यात्मनो जागृते सति तस्य निर्देशाश्चत्वारः प्रकारकाः मिलन्ति। पूर्वं तु स्थूलः सुरासम्बन्धी जायतेऽनुभवः। भवान् चिन्तने समुपविष्टोऽस्ति। कदा भवतां मनः लगितुमुत्सुकः? कियत् सीम यावत् मनः संलग्नं वर्तते? कदा मनः पलायनं वाञ्छति कदा च पलायितम्? एवं सर्वं प्रतिक्षणमिष्टोऽङ्गस्फुरणेन सङ्केतयति। अङ्गानां स्पन्दनं स्थूलसुरासम्बद्धोऽनुभवोऽस्ति, यः पलान्तराल एव द्वित्रेषु स्थानेषु युगपत् समायाति। भवति विकृते च प्रतिक्षणमागन्तुं प्रयतिष्यते।

अयं सङ्केतः तदैवायाति, यदा भवानिष्टस्वरूपमनन्यभावेन धारयति, अन्यथा साधारणजीवेषु संस्कारस्य संघर्षेणाङ्गस्पन्दनानि निरन्तरं भवन्ति, येषामङ्गस्पन्दनानामिष्टैर्न भवति कोऽपि सम्पर्कः। द्वितीयोऽनुभवः स्वप्नसुरा-सम्बद्धः। साधारणमनुष्यः स्ववासनासम्बद्धान् स्वप्नानवलोकयति, किन्तु यदा भवान् इष्टं ग्रहीष्यति, तदेमे स्वप्नाः निर्देशे परिवर्तिता भवन्ति। योगी स्वप्नान् नावलोकयति, भवितव्यतां निरीक्षते।

उपर्युक्तावुभावनुभवौ प्रारम्भिकौ स्तः, कस्यचित् तत्त्वस्थितस्य महापुरुषस्य सान्निध्येन, मनसि तान्प्रति श्रद्धाधारणमात्रेण, तेषां व्यस्ताव्यस्त सेवयाऽपि भवन्ति जागृताः किन्तूभाभ्यामनुभवाभ्यामतिरिक्तौ द्वानुभवौ क्रियात्मकौ स्तः, यावनुभवौ क्रियात्मकरूपेणकार्यान्वयनेनैव द्रष्टुं शक्यौ।

तृतीयोऽनुभवः सुषुप्तिः सुरा-सम्बद्धो भवति। संसारे सर्वेजनास्तु स्वपन्त्येव। मोहनिशायां सर्वे अचेताः सन्ति। रात्रिं दिवं यत् किञ्चित् कुर्वन्ति, तत्सर्वं तु स्वप्नमेवास्ति। अत्र सुषुप्तेः शुद्धोऽर्थोऽस्ति-यदा परमात्मनः चिन्तनस्यैतादृशी तन्त्री संलगेत् यत् सुरतम् (ध्यानम्) नितान्तरूपेण स्थिरं भवेत्, शरीरं जागृतं स्यात्, मनश्च सुप्तं भवेत् इति स्थितौ स इष्टदेवः पुनः स्वकमेकं सङ्केतं दास्यति। योगस्यावस्थानुरूपमेकं रूपकं (दृश्यं) दर्शनायते यत् समुचितां दिशां प्रकाशयति, भूतभविष्याभ्यामवगतं कारयति। 'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म यच्चिकित्सको यथा संज्ञाहीनताया औषधं दत्वा समुचितोपचारेण चेतनामानयति, इत्थमेव भगवान् सङ्केतयति।

चतुर्थोऽन्तिमश्चानुभवः समसुरासम्बद्धोऽस्ति। यत्र भवान् सुरतम् (ध्यानम्) नियोजितवान्, तेन परमात्मना भवतः समत्वं जातः, तदनन्तरमुत्थाने उपवेशने च गच्छत्यटति च सर्वत्रानुभूतिर्भवितुं प्रारभते। अयं योगी त्रिकालज्ञो भवति। अयमनुभवः त्रिकालेभ्यः परमव्यक्तस्थितिवतः महापुरुषस्यात्मनः जागृतो भूत्वाऽज्ञानजनितमखिलमन्धकारं ज्ञानदीपेन नष्टं करोति। अतः परमर्जुनश्चकार प्रश्नम्-

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

भगवन्! भवान् परब्रह्म, परमधाम तथा परमपवित्रोऽस्ति, यतोहि भवन्तं सर्वे ऋषिगणाः सनातनम्, दिव्यपुरुषम्, देवानामप्यादिदेवम्, अजन्मानं सर्वव्यापिनञ्च कथयन्ति। परमपुरुषस्य परमधामस्यैव पर्यायवाचिनः दिव्य–पुरुषाः, अजन्मादि शब्दाः सन्ति। देवर्षिर्नारदः, असितः, देवलः, व्यासस्तथा स्वयं भवानपि मां तदेव कथयति। अर्थात् पूर्वं भूतकालोद्भवा महर्षयः कथितवन्तः, साम्प्रतं वर्तमानकाले येषां सान्निध्यमुपलब्धो वर्तते, यथा नारदः, देवलः, असितः व्यासश्चेति नामानि गृहीतानि, येऽर्जुनस्य समकालीना आसन् (सत्पुरुषाणां सङ्गतिरर्जुनस्य कृते सुलभासीत्) भवानपि तदेव कथयति। अतः–

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

हे केशव! मां प्रति यत्किञ्चित् भवान् कथयति तत्सर्वमहं सत्यं मन्ये। भवतः व्यक्तित्वं न देवा जानन्ति न दानवाः।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

हे भूतानामुत्पादक! हे भूतानामीश्वर! हे देव–देव! हे जगतः स्वामिन्! हे पुरुषोत्तम! स्वयं भवानेवात्मानं जानाति अथवा यस्यात्मनि प्रविष्टो भूत्वा, जागृतो भूत्वा भवान् वेदयति, स एव जानाति। सोऽपि भवदबोधनं अभवत्। अतएव–

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

भवानेव स्वपूर्वोक्तविभूतीनां सम्पूर्णरूपेण लेशमात्रमप्यनवशेषं वक्तुं सक्षमः, याभिर्विभूतिभिर्भवान् सर्वलोकं व्याप्तं कृत्वा संस्थितोऽस्ति।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

हे योगिन् ! (श्रीकृष्ण आसीदेकोयोगी) केन प्रकारेण निरन्तरं भवन्तं चिन्तयन् भवन्तं जानानि? हे भगवन्! कैर्कैर्भावैरहं भवतः स्मरणं करवाणि?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

हे जनार्दन! स्वयोगशक्तिं योगविभूतिश्च पुनः सविस्तारं कथयतु। संक्षेपतस्त्वस्याध्यायस्यारम्भे कथितवान्, पुनः ब्रवीतु, कुतोहि अमृततत्त्वस्य प्रदायकानि वचनानीमानि श्रवणेन नाहं तृप्तिं गच्छामि।

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।।
(रामचरितमानस, ७/५२/१)

यावत् प्रवेशो न मिलति, तावत्तदमृततत्त्वस्य ज्ञानस्य पिपासा प्रबलायते। प्रवेशात् पूर्वमेव प्राप्तिपथ एवेदं विचार्य कश्चिदुपविष्टोऽभवत् यत् बहुज्ञानं लब्धम्, तदा स न किञ्चित् ज्ञानवान्। सुस्पष्टमस्ति तस्य मार्गं निरुद्धं भविष्यति। एतदर्थं साधकः पूर्तिपर्यन्तमिष्टस्य निर्देशं कदापि न जहातु तथा निर्देशमाचरणे संवेशनीयम्। अर्जुनस्योक्त जिज्ञासोपरि योगेश्वरः कृष्णो अकथयत् –

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

कुरुश्रेष्ठार्जुन! इदानीमहं स्वदिव्यविभूतीः, तास्वपि प्रमुख विभूतीस्त्वां कथयिष्यामि, कुतोहि मम विभूतीनां विस्तारस्याऽन्तो नास्ति।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

अर्जुन! अहं सर्वजीवानां हृदये स्थितः सर्वेषामात्माऽस्मि तथा सर्वेषां जीवानामादिर्मध्यश्चान्तश्चास्म्यहमर्थात् जन्ममरणं जीवनमपि अहमेवास्मि।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

अहमदितेर्द्वादश पुत्रेषु विष्णुः, ज्योतिषां मध्ये सूर्यः, वायोरनेकभेदेषु मरीचिनामा वायुस्तथा नक्षत्रेषु चन्द्रोऽस्मि।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

वेदेष्वहं सामवेदः अर्थात् पूर्णसमत्वदायकः गायनमस्मि। देवेष्वहं देवानामधिपतिरिन्द्रोऽस्मि, इन्द्रियेषु च मनोऽस्मि, कुतोहि मनसोनिग्रहादेवाहं ज्ञेयो भवामि तथा प्राणिषु तेषां चेतनाऽस्मि।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

एकादश रुद्रेषु अहमस्मि शङ्करः। शङ्क + अरः स शङ्करः अर्थात् शङ्काभिः उपरामावस्थायामहमेवास्मि। यक्षेषु राक्षसेषु चाहं धनाधीशः कुबेरोऽस्मि। अष्टवसूनामहमग्निः, शिखरिणां सुमेरुः अर्थाच्छुभानामहम्मेलनमस्मि। तत् सर्वोपरि शिखरमस्ति, न तु काचिद् भूधरी। वस्तुत इमानि सर्वाणि योगसाधनानां प्रतीकानि सन्ति, यौगिकाः शब्दाः सन्तीमे।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

पुरस्य रक्षा कर्तृणां पुरोधसां मां बृहस्पतिं जानीहि, यतो दैवी सम्पदः सञ्चारो भवति, अपरञ्च हे पार्थ! सेनापतिष्वहं स्वामिकार्तिकेयोऽस्मि। कर्मणः त्याग एव कार्तिकोऽस्ति। येन चराचरस्य संहारः, प्रलयः इष्टस्य च प्राप्तिर्भवति। जलाशयेष्वहं समुद्रोऽस्मि।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

महर्षिष्वहं भृगुरस्मि, वाणीषु चैकमक्षरं 'ओङ्कारः' अस्मि, यस्तस्य ब्रह्मणः परिचायकोऽस्ति। सर्वविधयज्ञेष्वहं जपयज्ञोऽस्मि। यज्ञः परमतत्त्वे प्रवेशप्रदायाः आराधनायाः विधिविशेषस्य चित्रणमस्ति। तस्य सारांशोऽस्ति स्वरूपस्य स्मरणं नाम्नो जपश्च। वाणीद्वयात् पारंगते सति यदा नाम यज्ञस्य श्रेण्यामायाति, तदा

वाणीतः न जप्यते, स जपो न चिन्तनेन, न कण्ठेन प्रत्युत् श्वासे जागृतो भवति। केवलं सुरतं श्वाससन्निधौ संयोज्य मनसा निरन्तरं प्रस्थानं करणीयं भवति। यज्ञस्य श्रेणीसम्बलितस्य नाम्नः आरोहावरोहः श्वासोपरि निर्भरो भवति। अयं जपः क्रियात्मकः। स्थिरवतां हिमालयोऽस्मि। शीतलः, समः, अचलश्चैकमात्रं परमात्मास्ति। यदा प्रलयो बभूव, तदा मनुस्तस्मिन्नेव शिखरे निबद्धो बभूव। अचलस्य समस्य शान्तस्य च ब्रह्मणः प्रलयो न भवति। तस्य ब्रह्मणः प्राप्तिर्माध्यमोऽहमस्मि।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

सर्वेषु वृक्षेष्वहमश्वत्थोऽस्मि। अश्वः-श्वः यावत् यस्य स्थितेः नास्ति दायित्वमस्यापि एवम् '**ऊर्ध्वमूलमधः शाखम् अश्वत्थ**' उपरि परमात्मा यस्य मूलमस्ति, अधः प्रकृतिर्यस्य शाखास्वरूपाऽस्ति, एतादृशः संसार एव एको वृक्षोऽस्ति, यदर्थं पिप्पलस्य संज्ञामिलिता- सामान्यपिप्पलस्य वृक्षो नहि, यत्तस्य पूजां कर्तुमारभे। अत उपरि कथयति कृष्णः यत् सोऽहमस्मि, देवर्षिषु च नारदोऽस्मि। नादस्य रन्ध्रः स नारदः। दैवीसम्पद् इयत् सूक्ष्माजाता यत् स्वरे उत्पत्स्यमानो ध्वनिः (नादः) वशमागच्छेत्, ईदृशी जागृतिरहमस्मि। गन्धर्वेष्हं चित्ररथोऽस्मि, अर्थात् गायनकर्तृषु प्रवृत्तिषु यदा स्वरूपं चित्रितं भवितुं प्रभवेत् स अवस्थाविशेषोऽहमस्मि। सिद्धेष्वहं कपिलमुनिरस्मि। 'काया' एवं कपिलोऽस्ति। अस्मिन् यदा लगेल्लवस्तस्येश्वरीयसञ्चारस्यावस्थाऽहमस्मि।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

घोटकेष्वमृतादुत्पन्न उच्चैःश्रवा नामको घोटकोऽस्मि। संसारे सकलं वस्तु नश्वरमस्ति। आत्मैवाजरः, अमरः, अमृतस्वरूपो वर्तते। अनेन अमृत-स्वरूपेण यस्य सञ्चारोऽस्ति स अश्वोऽहमस्मि। घोटको गतेर्प्रतीकोऽस्ति। आत्मतत्त्वस्य ग्रहणविधौ मनः यदा तत्र गतिं गृह्णाति स एव घोटकोऽस्ति। एवं गतिरहमस्मि। गजेष्वैरावतनामा गजोऽहमस्मि। मनुष्येषु मां राजानं विद्धि। वस्तुतो महापुरुष एव राजाऽस्ति, यस्य सविधे नास्त्यभावः।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

शस्त्रेष्वहं वज्रः। गोषु कामधेनुः। कामधेनुस्तु नैतादृशी काचिद्गौः या दुग्धस्थाने स्वामिष्टव्यञ्जनं परिवेषयति। ऋषिवशिष्ठस्याश्रमे कामधेनुरासीत्। वस्तुतः 'गो' पदम् इन्द्रियाणां बोधकमस्ति। इन्द्रियाणां संयतीभवनमिष्टं वशे कर्तृणां महापुरुषाणां मध्ये मिलति। येषामिन्द्रियाणीश्वरानुरूपाणि भवन्ति स्थिराणि, तदर्थं तस्येन्द्रियाणि कामधेनवो भवन्ति। पुनस्तु–

जो इच्छा करिहउँ मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।
(रामचरित मानस, ७/११३/४)

तदर्थं किमपि वस्तु न भवति दुर्लभम्। प्रजननकर्तृषु नवीनस्थितेः प्रकटयिताऽहमस्मि। 'प्रजननम्'–एकस्मिन् पक्षे बालको गर्भात् बहिरुत्पन्नः क्रियते। चराचरे विविधजीवाः नानायोनितः मूषकाः, पिपीलिकाः दिवानिशं जायन्ते, नेत्थं प्रत्युदेकस्याः स्थितेरपरा स्थितिः प्रादुर्भाव्यते, अनेन प्रकारेण वृत्तीनां परिवर्तनं भवति। तत् परिवर्तितस्वरूपमहमस्मि। सर्पेष्वहं वासुकिरस्मि।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

नागेष्वहमनन्तोऽर्थात् शेषनागोऽस्मि। यथार्थतो नायं कश्चित् सर्पः। गीतायाः समकालीनपुस्तके श्रीमद्भागवतमहापुराणेऽस्य शेषनागस्य रूपचर्चा वर्तते यत् अस्याः भूमेस्त्रिंशत् सहस्रयोजनदूरं परमात्मनो वैष्णवीशक्तिर्वर्तते यस्य शिरसीयं पृथ्वीसर्षपबीजवत् भाररहितास्थिता वर्तते। तस्मिन् युगे योजनस्य किमासीत् मानदण्डः? पुनरपि एतावती दूरी अत्यधिकाऽस्ति। वस्तुत इदमाकर्षणशक्तेश्चित्रणमस्ति। वैज्ञानिकाः यस्य वस्तुनः 'ईथर' संज्ञां दत्तवन्त–स्तस्येथरप्रभावत ग्रहाउपग्रहाः सर्वेवैज्ञानिकदृष्ट्या सन्ति स्थिराः। तस्मिन् शून्ये ग्रहाणां कोऽपि भारो न वर्तते। सा शक्तिर्सर्पकुण्डलीवत् सर्वान् ग्रहान् वेष्टितवती। एष एव सोऽनन्तः, येन पृथ्वी धार्यते। श्रीकृष्णः कथयत्येवं– भूतेश्वरीय शक्तिरहमस्मि। जलचरेषु तेषामधिपतिरहं वरुणोऽस्मि तथा पूर्वजेषु अहम्

'अर्यमा' अस्मि। अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यमपरिग्रहाः एते पञ्च यमाः सन्ति। एतेषां पालने समागन्तुकानां विकाराणां कर्तनम् 'अरः' अस्ति। विकाराणां शमनेन पितरः अर्थात् भूतसंस्कारास्तृप्यन्ति, निवृत्तिं प्रददन्ते। शासनकर्तृष्वहं यमराजोऽस्मि, अर्थादुपर्युक्ताहिंसादि पञ्चयमानां नियामकोऽस्मि।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

दैत्येष्वहं प्रह्लादोऽस्मि (पर+आह्लादः, परस्यकृते आह्लादः) वस्तुतस्तु प्रकर्षेणाह्लादयतीति प्रह्लादः, इति व्युत्पत्तिः समीचीना। आसुरीसम्पदि विद्यमानायां ईश्वरस्याकर्षणस्वरूपा विकलता प्रारभते, येन परमप्रभोर्दिग्दर्शनं भवति, एवं प्रेमोल्लासोऽहमस्मि। गणकानामहं समयोऽस्मि। एकः, द्वौ, त्रयश्चत्वारः इत्यादि संख्या क्षणः, घटी, दिनम्, पक्षः, मासादि नहि, प्रत्युदीश्वरस्य चिन्तने व्यतीतो हि समयोऽहमस्मि। अत्र तु यत्–**जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।** अनवरतचिन्तने समयोऽहमस्मि। पशुषु मृगराजः (योगी अपि मृ+ग अर्थात् योगरूपेजङ्गले गमनकर्ताऽस्ति) तथा पक्षिषु गरुडोऽस्मि। ज्ञानमेव गरुडोऽस्ति। यदेश्वरीयानुभूतिरागन्तुमारभते, तदेदं मनः स्वाराध्यस्य वाहनं घटते, यदायं मनश्च संशययुक्तं भवति तदा सर्पायते, दशति, योनिषु प्रक्षिपति। गरुडः वाहनमस्ति विष्णोः, या सत्ता विश्वस्मिन्नणुरूपेण सञ्चरिता वर्तते। ज्ञानसंयुक्तं मनस्तां सत्तां स्वस्मिन् धारयति, तस्य वाहको भवति। श्रीकृष्णः ब्रवीति–इष्टस्य धारकं मनोऽहमस्मि।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

पवित्रकर्तृष्वहं वायुरस्मि, शस्त्रधारिष्वहं रामोऽस्मि। '**रमन्ते योगिनः यस्मिन् स रामः**' योगिनः कस्मिन् रमन्ते? अनुभवे। ईश्वरः इष्टरूपेण यन्निर्देशनं ददते, योगिनस्तस्मिन्नेव रमन्ते। तस्या जागृतेर्नाम रामोऽस्ति। सा जागृतिरहमस्मि। मत्स्येष्वहं मकरोऽस्मि, नदीषु चाहं गङ्गाऽस्मि।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

हे अर्जुन! सृष्टेरादिरन्तोमध्यश्चाहमस्मि। विद्याष्वहमध्यात्मविद्यास्मि। या आत्मनि आधिपत्यं दापयेत्, सा विद्याऽहमस्मि। संसारे प्रायः प्राणिनो मायायाः आधिपत्ये वर्तन्ते। रागद्वेषाभ्यां, कालेन, कर्मणा, स्वभावेन गुणैश्च प्रेरिताः सन्ति जनाः। एतेषामाधिपत्यात् निःसार्य आत्माऽधिपत्ये नायिका विद्याऽहमस्मि याऽध्यात्मविद्या कथ्यते। परस्परं सम्भावितेषु विवादेषु ब्रह्मचर्चाविषये या निर्णायिका वार्ता साऽहमस्मि। शेषे निर्णयास्त्वनिर्णिताः भवन्ति।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

अहमक्षरेषु 'अ' कारः- ओंकारस्तथा समासेषु द्वन्द्वनामक समासोऽस्मि। अक्षयकालोऽहमस्मि। कालः सदैव परिवर्तनशीलोऽस्ति किन्तु स समयो यो अक्षये, अजरे, अमरे परमात्मनि प्रवेशं दापयति, सावस्थाऽहमस्मि। विराट्स्वरूपः अर्थात् सर्वत्रव्याप्तः सर्वस्य धारणपोषणयोः कर्ताऽहमस्मि।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

अहं सर्वेषां नाशकारक अर्थात् मृत्युस्तथा अग्रेसम्भवानामुत्पत्तेः कारणमहमस्मि। स्त्रिष्वहं यशः, शक्तिः, वाक्पटुता, स्मृतिः, (मेधा) बुद्धिः, धैर्यम्, क्षमा चाहमेवास्मि।

योगेश्वर श्रीकृष्णानुसारेण ''**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**'' (पञ्चदशाध्यायस्य षोडशतमश्लोकः) पुरुषाः द्विप्रकारकाः भवन्ति क्षराः अक्षराश्च। सर्वेषां भूतानामुत्पत्तेर्विनाशस्य च प्रयोजकशरीराः क्षराः पुरुषाः सन्ति। ते पुरुषाः नार्यः किमपि कथिताः सन्तु किन्तु कृष्णस्य शब्देषु ते सर्वे पुरुषा एव सन्ति। द्वितीयोऽस्ति अक्षरपुरुषः, यः कूटस्थश्चित्तस्य स्थिरकाले दृष्टिपथायते। इदमेव कारणमस्ति यदस्मिन् योगपथे स्त्री-पुरुषाः सर्वे समानस्थितिवन्तो महापुरुषाः प्रादुर्बभूवुः। अत्रापि बुद्ध्यादयः नारीणां गुणाः कथिताः। किमेतेषां सद्गुणानामावश्यकता पुरुषाणां कृते न भवति? क एतादृशः पुरुषो वर्तते यः श्रीमान्, कीर्तिमान्, वक्ता, स्मरणशक्तिसम्पन्नः, मेधावी, धैर्यवान्, क्षमावान् च भवितुं नार्हति? बौद्धिकस्तरेण दुर्बलेषु बालकेषु एतेषां गुणानां विकासाय पितरौ

पठनस्यातिरिक्तां व्यवस्थां कुर्वन्ति। अस्मिन् श्लोके कथ्यते यदिदं लक्षणं नारीषु व्याप्तं वर्णितम्। अतो भवन्तः विचारं कृत्वा पश्यन्तु काऽस्ति स्त्री? वस्तुतो भवतो हृदयस्य प्रवृत्तिरेवास्ति 'नारी'। एतासु पूर्वोक्तानां गुणानां सञ्चार आवश्यकः। एतेषां गुणानां धारणकरणं स्त्रीलिङ्गस्य पुंल्लिङ्गस्य च सर्वस्यकृते परमोपयोगी यन्मया सम्भवः।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

गायनं कर्तुं योग्यं श्रुतिष्वहं बृहत्साम– अर्थात् बृहतां संयुक्तः समत्वदायकं गायनमस्मि, अर्थात् एतादृशी जागृतिरहमस्मि। छन्दःष्वहं 'गायत्री' छन्दोऽस्मि। गायत्री कश्चित् मन्त्रो नास्ति, यस्य पठनेन मुक्तिर्मिलति प्रत्युदेकं समर्पणात्मकं छन्दोऽस्ति। वारत्रयमिष्टात् विचलिते सति तदनु ऋषिर्विश्वामित्र आत्मानमिष्टं प्रति समर्पयनवोचत्– **'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'** अर्थात् भूः, भुवः, स्वश्च त्रिषुलोकेषु तत्त्वरूपेण व्याप्तदेव! भवानेव वरेण्योऽस्ति। मह्यमेतादृशीं बुद्धिं ददातु, एतादृशीं प्रेरणां करोतु यदहं लक्ष्यं प्राप्तं कर्तुं शक्नुयाम। इयं मात्रमेका प्रार्थनाऽस्ति। साधकः स्वबुद्धिबलेन यथार्थनिर्णयं ग्रहीतुं न प्रभवति यत् कदाहं सत्यं कदा चालीकम्? तस्य समर्पिता प्रार्थना अहमेवास्मि, यत्र कल्याणः सुनिश्चितः, यतोहि स ममाश्रितो जातो बभूव। मासेषु शीर्षस्थ मार्गोऽहमस्मि। यस्मिन् सर्वदैव आह्लादो (बहारो) भवेत् एतादृशः ऋतुः, हृदयस्यैतादृश्यवस्थाप्यहमस्मि।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

तेजस्वी पुरुषाणामहं तेजोऽस्मि। द्यूते छलकर्तॄणामहं छलमस्मि। तदात्वभवदच्छम्, द्यूतं खेलेयं, तस्मिन् द्यूते छलछद्मनामाचरणं करणीयम्, तत्रैव भगवन्निवासः। नहि, नहि, नैतत् किञ्चिदपि। इयं प्रकृतिरेकं द्यूतमस्ति। लुण्ठीकेयम्। अस्याः प्रकृतेर्द्वन्द्वात् निःसरितुं गोपनीयरूपेण भजनं छलमुच्यते। छलं तु नात्र वर्तते किन्तु रक्षार्थं छलमप्यावश्यकं भवति। जडभरतवत् उन्मत्तवत्, नेत्रान्धवत्, बधिरवत्, मूकवच्च, हृदयतः बहुज्ञः भवन् सन्नपि इत्थं स्थितिं निर्मापयेत् यथा अनभिज्ञः, शृण्वन्नप्यश्रोता, पश्यन्नपि नेत्रान्धः– इति स्थितिं

परिपालयन् गोपनीयरूपेणैव भजनस्य विधानमस्ति, तदैव साधकः प्रकृति-पुरुषयोः द्यूते पारं प्राप्नोति। एवं विजयीनां विजयोऽहमस्मि। व्यवसायीनाञ्च निश्चयः (यं द्वितीयाऽध्याये एकचत्वारिंशत् तमे श्लोके वर्णितम्। अस्मिन् योगे निश्चयात्मिका क्रियैकास्ति, बुद्धिरप्येका, दिशा एकैवास्ति) क्रियात्मक-बुद्धिरहमेवास्मि। सात्विकपुरुषाणां तेजः ओजश्चाहमेवास्मि।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

वृष्णिवंशेऽहं वासुदेवोऽर्थात् सर्वत्र वासकर्ता देवोऽस्मि। पाण्डवेष्वहं धनञ्जयः। पुण्यमेव पाण्डुरस्ति, आत्मिकसम्पत्तिश्च स्थिरा सम्पत्तिरस्ति। पुण्येन प्रेरितो भूत्वात्मिकसम्पत्तेरर्जयिता धनञ्जयोऽहमस्मि। मुनिष्वहं व्यासः। परमतत्त्वमभिव्यक्तं यस्मिन् विद्यते क्षमता स मुनिरहमस्मि, कविषु 'उशना' अर्थात् तस्मिन् प्रवेशदायकः काव्यकारो अहमस्मि।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दमनकर्तृष्वहं दमनशक्तिरस्मि। विजिगीषूणामहं नीतिरस्मि। गोपनीय-भावेष्वहं मौनमस्मि, ज्ञानवतां साक्षात्कारेण प्राप्तव्यपूर्णज्ञानञ्चाहमस्मि।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अर्जुन! सर्वभूतानामुत्पत्तेरहमेवकारणम्, यतोहि चराचरा न केऽपि सन्तिजीवा ये मद्रहिताः स्युः। अहं सर्वत्र व्याप्तोऽस्मि। सर्वं मम सन्निधौ वर्तते।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

परन्तप अर्जुन! ममदिव्यविभूतीनां नास्त्यन्तः। स्वविभूतीनां विस्तारस्त्वहं संक्षेपतोऽकथयम्, वस्तुतस्ताः सन्त्यनन्ताः।

अस्मिन्नध्याये कासाञ्चिद् विभूतीनां चित्रणं चित्रितं यतोहि अग्रिमाध्याये

धनञ्जयः इमाः सर्वाः दिदृक्षते, कुतोहि प्रत्यक्षदर्शनेनैव विभूतयः ज्ञातुं शक्नुवन्ति। विचारधारां बोद्धुं संक्षेपतः अर्थः प्रदत्तः।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

यानि-यान्यप्यैश्वर्ययुक्तानि, कान्तियुक्तानि, शक्तियुक्तानि च वस्तूनि सन्ति, तानि-तानि त्वं मम तेजस एकांशमात्रेणोत्पन्नानि बुद्ध्यस्व।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अथवाऽर्जुन! इत्युक्त बहुविभूतिज्ञानेन किं ते प्रयोजनम्? अहमिदमखिलं जगदेकांशमात्रेण धारयित्वा स्थितोऽस्मि। उपर्युक्त विभूतीनां वर्णनस्य नैतत्तात्पर्यं यत् मानवोऽर्जुनो वा सर्वाणि वस्तूनि अर्चितुं लगन्तु प्रत्युत् श्रीकृष्णस्याशयः केवलमियानस्ति यत् सर्वतः श्रद्धां समाकृष्य केवलं तस्मिन्नविनाशिनि परमात्मनि संयोजयेयुः। एतेनैव तेषां कर्तव्यं पूरयति।

निष्कर्षः-

अस्मिन्नध्याये श्रीकृष्णेनोक्तम्, अर्जुन! अहं त्वामुपदेक्ष्यामि यतोहि त्वं ममातिशयप्रियः। पूर्वमुक्तं पुनर्वक्तुंयते, कुतोहि पूर्तिपर्यन्तं सद्गुरुतः श्रवणस्य भवत्यावश्यकता। ममोत्पत्तिं न देवाः न च महर्षयो जानन्ति कुतोहि तेषामप्यहमस्म्यादिकारणं यतोहि अव्यक्तस्थितेः पश्चात् सार्वभौमस्यावस्थां स एव जानाति यदतीतम्। यः मामजन्मानम्, अनादिं, सर्वलोकस्य महेश्वरं साक्षात्कारसहितमवगच्छति स एव ज्ञानी।

बुद्धिः, ज्ञानम्, असम्मूढता, इन्द्रियाणां दमनम्, मनसः शमनम्, सन्तोषः, तपः, दानम्, कीर्तिश्चेमे भावाः- अर्थात् दैवीसम्पद इमानि लक्षणानि मत्तः दत्तानि सन्ति। सप्तमहर्षिजना अर्थात् योगस्य सप्तभूमिकाः, ततोऽपिप्राग्भवाः तदनुरूपा अन्तःकरणस्य चत्वारो भेदाः तदनुकूलं मनश्च यत् स्वयंभूरस्ति, स्वयं रचयिताऽस्ति। एते सर्वे मयि भावसंस्थापकाः, सुरतिकारकाः, श्रद्धावन्तश्च

सन्ति, संसारे सर्वाः प्रजाः मत्त एव समुत्पन्नाः सन्ति– अर्थात् साधनशीलाः प्रवृत्तयो मम प्रजाः सन्ति। एतासां प्रवृत्तीनां समुत्पत्तिः स्वतः नहि, प्रत्युत् गुरोः सकाशात् भवति। यो योगी उपर्युक्ताः मम विभूतीः साक्षात् जानाति स निस्सन्देहं मयि एकीभावेन प्रवेष्टुमर्हः।

अर्जुन! अहमेव सर्वेषामुत्पत्तेः कारणम्, इत्थं ये श्रद्धया बुद्ध्यन्ते, ते अनन्यभावेन मां चिन्तयन्ति। निरन्तरं मयि मनसा, बुद्ध्या, प्राणैश्च भवन्ति संलग्नाः। परस्परं मम गुणानां चिन्तनं मयि रमन्ते च। तेषां निरन्तरं मयि संयुक्तेषु पुरुषेष्वहं योगे प्रवेशं कारयित्रीं बुद्धिं प्रददामि। एतदपि ममैवानुदान-मस्ति। केन प्रकारेण बुद्धिर्योगो दीयते? तदा अर्जुन! 'आत्मभावस्थ' तेषामात्मसु जागृतो भूत्वाहमुपस्थितो भवामि तथा तेषां हृदये अज्ञानजनितमन्धकारं ज्ञानरूपदीपकेन नाशयामि।

अर्जुनोऽपृच्छत्, भगवन्! भवान् परम पवित्रः, सनातनः, दिव्यम्, अनादिः सर्वत्रव्याप्तश्चास्ति– इत्थं महर्षिगणाः कथयन्ति तथा वर्तमाने देवर्षिर्नारदः, देवलः, असितः, व्यासः, भवाञ्चापि तदेव कथयन्ति। इदं सत्यमप्यस्ति यत् भवन्तं न देवा जानन्ति न च दानवाः। स्वयं भवान् यं जानयतु स एव जानाति। भवानेव स्वविभूतीनां वर्णने समर्थः। अतो जनार्दन! भवान् स्वविभूतीनां सविस्तरं वर्णनं करोतु। पूर्तिपर्यन्तमिष्टात् श्रवणस्य प्रबलोत्कण्ठा परमावश्यकी। अग्रे इष्टस्यान्तराले किमस्ति तत् साधकः कथं जानीयात्।

इति प्रश्नोपरि उत्तररूपेण योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन पृथक्-पृथग् स्वकीया एकाशीति संख्याकाः विभूतयः समासतो वर्णिताः यासु काश्चन् योगसाधने प्रवेशविधानेन सह प्राप्तव्यानामन्तरङ्गविभूतीनां चित्रणमस्ति। समाजे ऋद्धि-सिद्धिभ्यां साकं प्राप्तव्यासु विभूतिषु प्रकाशं प्रससार, अन्ते च स सबलमकथयत्– अर्जुन! बहुज्ञानेन ते किमस्ति प्रयोजनम्? अस्मिन् संसारे यानि काञ्चित् तेजो-मयानि ऐश्वर्ययुक्तानि वस्तूनि विद्यन्ते तानि सर्वाणि मम तेजसोंशमात्रे संस्थितानि सन्ति। वस्तुतः मम विभूतयोऽनन्ताः सन्ति–एवं कथयन् योगेश्वरः श्रीकृष्णः अस्याध्यायस्य पटाक्षेपं चकार।

अस्मिन्नध्याये श्रीकृष्णेन स्वविभूतीनां मात्रबौद्धिकं ज्ञानं प्रदत्तम्, येनार्जुनस्य श्रद्धा सर्वतो निवृत्यैकस्मिन्निष्टे संलगेत् किन्तु बन्धुगणाः! सर्वं श्रुत्वा, बुद्ध्वा चाग्रे चलित्वा ज्ञानं शेषमेवावतिष्ठते। अयं क्रियात्मकः पन्थाः।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'विभूतिवर्णनम्' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते 'यथार्थ गीता''भाष्ये 'विभूतिवर्णनम्' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथैकादशोऽध्यायः

गताध्याये श्रीकृष्णेन स्वप्रमुख–प्रमुख विभूतीनां संक्षिप्तं विवरणं प्रस्तुतम्, किन्त्वर्जुनेनाऽनुभूतं यन्मया सविस्तरं सामस्त्येन विभूतिज्ञानं हृदयङ्गमायितम्। अर्जुनः कथयति यच्छ्रुत्वा श्रीमद्वचनानि मामकः सकलो मोहो विनष्टो जातः, किन्तु श्रीमतः एतद्वचसा प्रतिपादितं तत् सर्वं प्रत्यक्षं द्रष्टुमिच्छामि। श्रवणे दर्शने च पूर्वपश्चिमयोरिव महीयान् भेदोऽस्ति। कस्यचित् दूरस्थवस्तुनस्तत्र गत्वा निरीक्षणेन श्रवणदर्शनयोर्भेदः सुतरां सुस्पष्टायते। पश्चादर्जुनो विभूतिदर्शनं यदाऽकरोत्तदा बहुचकम्पे क्षमायाचनां कर्त्तुमारेभे। ज्ञानी भयभीतो भवति किम्? तस्य काचिज्जिज्ञासाऽवशिष्टा भवति? नहि, बौद्धिकस्तरीयं ज्ञानं सदा धूम्रायितं भवति। आम्, तज्ज्ञानं यथार्थज्ञानं प्राप्तुं प्रेरणामवश्यं प्रददाति। अतो निवेदयत्यर्जुनः–

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

भगवन् ! ममोपरि कर्त्तुमनुग्रहं श्रीमता गोपनीयाध्यात्मप्रवेशाय यदुपदेशो मह्यं प्रदत्तः, तेन मदीयमज्ञानं प्रनष्टम्। अहमभवं ज्ञानी।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

यतोहि हे कमलनयन ! भूतानामुत्पत्तिः प्रलयश्चाहं सविस्तरं सम्यक् अशृण्वं तथा भवतो विनाशरहितोऽविनाशी प्रभावोऽपि मयाश्रुतः।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

हे परमेश्वर! भवता स्वसम्बन्धे विषये वा यथा समुच्यते, तत्सर्वं तथैवाऽस्ति, नाऽत्र कोऽपि सन्देहावसरः, किन्तु मया तत्सर्वं केवलमाकर्णितम्। अतो हे पुरुषोत्तम! पूर्वोक्तमैश्वर्ययुक्तं स्वरूपं प्रत्यक्षं द्रष्टुं वाञ्छामि।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

हे प्रभो! यदि ममद्वारा भवतस्तद्रूपं द्रष्टुमस्ति सम्भवमिति, भवतामीहा–सुसम्मतिश्च, तर्हि हे योगेश्वर! भवान् निजाविनाशिनः स्वरूपस्य मां दर्शनं कारयतु। इति निवेदनोपरि योगेश्वरो न किमपि प्रतिवादमकरोत्, कुतोहि पूर्वमेवानेकप्रसङ्गे योगेश्वरेणार्जुनंप्रति भणितं यत् त्वं ममानन्यभक्तः प्रियसखा चाऽसि। अतः पूर्णप्रसन्नतया स्वरूपमदर्शयत् –

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

पार्थ! मम शताधिकानि सहस्राधिकानि विविधवर्णयुतानि विविधाकृति समन्वितानि दिव्यस्वरूपाणि समवलोकय।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

हे भारत! अदितेर्द्वादश पुत्रान्, अष्टवसून्, एकादशरुद्रान्, द्वावश्विनीकुमारौ, एकोनपञ्चाशन्मरुतगणांश्च पश्य तथापराणि बहूनि पूर्वं त्वद् द्वारा कदाऽप्यनवलोकितान्याश्चर्यमयान्यनेकानि रूपाणि पश्य।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अर्जुन! साम्प्रतं ममास्मिन् शरीरे एकस्मिन्नेव स्थाने स्थितं चराचरसहितं सम्पूर्णं जगत् पश्य, तथाऽपरमपि यत्किञ्चिद् द्रष्टुमिच्छसि तदपि सर्वमवलोकय।

अनेन प्रकारेण श्लोकत्रयं यावत् श्रीभगवान् रूपाण्यदर्शयत्, किन्त्वर्जुनो न किमपि द्रष्टुमपारयत् (स नेत्रे आमृजन्नेव स्थितः) अतएवेत्थं विभूतिं दर्शयमानो भगवान् सहसा विरमति कथयति च–

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अर्जुन! त्वं मां स्वनेत्राभ्यामर्थाद्बौद्धिकदृष्ट्या चावलोकितुं समर्थोनाऽसि, अतएवाहं तुभ्यमलौकिकीं दिव्यां दृष्टिं प्रयच्छामि, तया दृष्ट्या त्वं मम प्रभावं योगशक्तिञ्च निरीक्षस्व।

इतस्तु योगेश्वर श्रीकृष्णस्य कृपाप्रसादेनार्जुनाय सैव दिव्यदृष्टिः सुलभायिता, ददर्श चार्जुनः, योगेश्वरव्यासस्य कृपाप्रसादरूपेण यां दृष्टिं सञ्जयो प्राप्तवान्। तया दिव्यदृष्ट्या यत् किञ्चिदर्जुनो ददर्श तदेवाक्षरशः सञ्जयोऽपि समवलोकयाञ्चकार। तस्य प्रभावेण स्वं कल्याणभागरचयत्। स्पष्टमस्ति कृष्ण आसीदेको योगिनः समकक्षः।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

सञ्जय प्रावोचत् – हे राजन् ! महायोगेश्वरो हरिरेवमुपर्युक्त प्रकारेण सम्बोध्य ततः पार्थं स्वकीयं परमैश्वर्यसंवलितं दिव्यं स्वरूपमदर्शयत्। यः स्वयमस्ति योगी, अन्यमपि योगप्रशिक्षणस्य यस्मिन् वर्त्तते क्षमता, यो योगस्यास्ति स्वामी स योगेश्वरः समुच्यते। अनेन प्रकारेण सर्वस्वापहरणकर्त्ता हरिरस्ति। चेत् केवलं दुःखस्य हरणं भवेत् सुखस्यापहरणं न भवेत्तदा दुःखमागमिष्यत्येव। अतः समस्त पापानां नाशेन साकं सर्वस्वस्य हरणं कृत्वात्मस्वरूप प्रदाने यः सक्षमो भवति स एव हरिरस्ति। स योगेश्वरः स्वदिव्यस्वरूपं पार्थं दर्शितवान्। पुरतस्तु स आसीदुपस्थितः।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

अनेकनेत्रैर्मुखैर्युक्तम्, अनेकाद्भुतदर्शनीयैर्युक्तम्, अनेकदिव्याभूषणैर्युक्तम्, स्वकरधृतानेकदिव्यशस्त्रम् तथा–

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

सदिव्यमालं परिदधद्दिव्यवाससम्, विहिद्दिव्यगन्धानुलेपनम्, सर्वप्रकारेणाश्चर्ययुतं असीमं विराट् स्वरूपं परमदेवात् प्राप्तदिव्यदृष्ट्या ददर्शार्जुनः।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

(अज्ञानप्रतीकस्तु धृतराष्ट्रः, संयमस्वरूपः सञ्जयः–यथा पूर्वं सूचितम्) सञ्जयः समुवाच– हे राजन्! आकाशे युगपत् सहस्राणां सूर्यानामुदये यावान् प्रकाशो भवति, सोऽपि प्रकाशो विश्वरूपस्य तस्य महात्मनः प्रकाशसदृशः कदाचिदेव स्यात्। अत्र श्रीकृष्णो महात्मैवास्ति योगेश्वरश्च।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

पाण्डुपुत्रार्जुन (पुण्यमेव पाण्डुरस्ति, पुण्यमेवानुरागं जनयति) तस्मिन् समये विविधप्रकारेण विभक्तं निखिलं जगत् तस्य परमदेवस्य शरीरे समवस्थितमेकत्र दृष्टवान्।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

तदनन्तरमाश्चर्यचकितः प्रमुदितरोमराजिः सोऽर्जुनः परमात्मदेवं शिरसा प्रणामं कृत्वा (पूर्वमपि प्रणामं करोति स्म, किन्तु दृष्टप्रभावः सादरं प्रणामं कृत्वा) करबद्धोऽवादीत्। अत्रार्जुनोऽन्तःकरणेन नमनं कृतवानवोक्तवाञ्च–

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

हे देव! भवच्छरीरेऽहं सम्पूर्णदेवगणान्, नानाभूतगणसमूहान्, कमलासनमलङ्कुर्वन्तं ब्रह्माणम्, महादेवम्, सम्पूर्णं ऋषिमण्डलम् तथा दिव्य-सर्पसमूहान् पश्यामि। इदं प्रत्यक्षं दर्शनमासीत्, निराधारा कल्पना नासीत्, किन्त्वेवं तदैव सुसम्भवोऽस्ति यदा योगेश्वरः, पूर्णत्वप्राप्तमहापुरुषहृदयेन दृष्टिं प्रयच्छेत्। इदं साधनगम्यमस्ति।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

विश्वस्वामिन्! अहं त्वामनेककरोदराननयनसंयुक्तं तथा सर्वतोऽनन्त-रूप परीतं पश्यामि। हे विश्वरूप! नाऽहं तवादिंमध्यमन्तञ्चावलोकयामि, अर्थात् तवादिमध्यान्तानां निर्णयं न कर्त्तुं पारयामि।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

अहं भवन्तं समुकुटम्, सगदम्, सचक्रम्, सर्वतः प्रकाशमानं तेजः स्वरूपम्, प्रज्वलिद्वह्निप्रदीप्तादित्यस्वरूपम् अवलोकने दुष्करमर्थात् काठिन्येन दर्शनीयं सर्वतश्च बुद्ध्यादिभिरग्रहणीयमप्रमेयं परिपश्यामि। अनेन प्रकारेण

सम्पूर्णैरिन्द्रियैर्पूर्णतया समर्पितो भूत्वा योगेश्वरं श्रीकृष्णमुपर्युक्तरूपेण दृष्ट्वाऽर्जुनः श्रीकृष्णस्य स्तवनं कर्त्तुमारभते–

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

भगवन् ! भवान् वेत्तुं योग्यं परमक्षरमर्थादक्षयः परमात्माऽस्ति। भवानस्य जगतः परमाश्रयोऽस्ति, भवान् शाश्वतधर्मस्य रक्षकोऽस्ति तथा भवान् सनातनोऽस्ति, एवमस्ति मे मतम्। आत्मनः स्वरूपं किमस्ति? शाश्वतम्, सनातनम्, अव्यक्तम्, अनश्वरमस्ति। अत्र श्रीकृष्णस्य किं स्वरूपमस्ति? तदेव शाश्वतम्, सनातनम्, अव्यक्तम्, अविनाशी। अर्थात् प्राप्तेरनन्तरं महापुरुषोऽपि तस्मिन् आत्मभावे स्थितो भवति। तस्मादेव भगवान्, आत्मा चैकलक्षणवन्तौ स्तः।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

हे परात्मन् ! अहं भवन्तमादिमध्यान्तरहितमनन्तसामर्थ्यसहितमनन्त–करयुतम् (पूर्वन्तु सहस्रकराः दृष्टाः, साम्प्रतमनन्तकरो दृष्टो हरिः) चन्द्र–सूर्यनेत्रसंयुतम् (तदा तु भगवान् बभूव काणः। एकं नेत्रं चन्द्रवत् क्षीणप्रकाश–कारकम्, अपरं सूर्यवत् सतेजस्कं तीक्ष्णप्रकाशप्रदम्, नहि नैतत् किमपि। सूर्य–सदृशप्रकाशस्य कारकश्चन्द्रमस इव शीतलताप्रदो गुणो भगवत्यवतिष्ठते। शशिसूर्यौ मात्र प्रतीकौ स्तः। अर्थात् चन्द्र–सूर्य दृष्टिवन्तम्) तथा प्रदहद्वह्नि स्वरूपं मुखयुतम् तथा स्वतेजसा जगदिदं तापयन्तं पश्यामि।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

हे महात्मन् ! आकाशवसुन्धरयोर्मध्ये सम्पूर्णं नभस्तथादिग्मण्डलमेकमात्रं भवता परिव्याप्तमस्ति। भवत इदमलौकिकं भयङ्करञ्च रूपमवलोक्य लोकत्रय-मति विषीदति।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

सर्वेषां देवानां समूहो भवत्येव प्रविशन्तः परिप्रेक्ष्यन्ते, केचन च भयार्त्ताः करबद्धाः सन्तो भवद्गुणान् गायन्ति। महर्षीणां सिद्धानाञ्च समुदायाः स्वस्तिवाचनम् अर्थात् कल्याणं भूयादिति समुदीरयन्तः सम्पूर्णैः स्तोत्रैर्भवन्त-मीडन्ते।

रुद्रादित्वा वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्राः, आदित्याः, वसूनि, साध्याः, विश्वेदेवाः, अश्विनीकुमारौ, वायवः, 'उष्मप'-ईश्वरीय उष्मायाः ग्रहणकर्त्ता, गन्धर्वाः, यक्षाः, राक्षसाः, सिद्धाश्च इमे सर्वे समुदायबद्धाः साश्चर्यं भवन्तं पश्यन्ति अर्थात् पश्यन्तोऽपि भवन्तं न बुद्ध्यन्ते। यतोहि तेषां पार्श्वे न वर्त्तते सा दिव्यदृष्टिः। श्रीकृष्णेन पूर्वं कथितं यदासुरी स्वभावयुक्ताः जनाः मां तुच्छं मन्वानाः सम्बोधयन्ति। सामान्य मनुष्यवत् मां जानन्ति यदात्वहं परमभावपरमेश्वररूपेण स्थितोऽस्मि। यद्यप्यस्मि मनुष्यशरीरा-

धाराश्रयी। तस्यैवास्ति विस्तारो यत्ते साश्चर्यं पश्यन्ति, यथार्थतो न जानन्ति न पश्यन्ति।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

महाबाहो! (श्रीकृष्णोऽस्ति महाबाहुरर्जुनश्चापि तथैव। प्रकृतेः परतो महत्यां सत्तायां यस्य कार्यक्षेत्रं भवेत् सोऽस्ति महाबाहुः। श्रीकृष्णो महानताक्षेत्रे परिपूर्णो वर्तते, अधिकतमायां सीमापरिधौ राजते। अर्जुनस्तस्य प्रवेशिकायामस्ति प्रविष्टः, पथि एवास्ति पार्थः। लक्ष्यं प्रवेशमार्गस्य द्वितीयं तीरमस्ति।) महाबाहो योगेश्वर! भवतः परिमितेरधिकं मुखं, नेत्रं, पाणिं, पादं, जघनमुदरं, विकृतहनुयुतं रूपं दृष्ट्वा सर्वेलोका व्याकुलायन्ते, तथाऽहमपि व्याकुलो भवामि। इदानीमर्जुन-मानसेऽजागरीद्भयं यत् श्रीकृष्णस्त्वेतावान् महानस्ति।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

विश्वस्मिन् सर्वत्राणुरूपेण व्याप्त विष्णो! आकाशं स्पृशद्भिरनेकैः स्वरूपैः प्रकाशमानम्, अनेकैः रूपैर्युक्तम्, व्यात्तमुखम्, प्रकाशमानैः विशालैनेत्रैर्युतं भवन्तं समवलोक्याऽहं भयभीतान्तःकरणो धैर्यस्य फलं मनसः समाधानकारिकां शान्तिं न लभमानोऽस्मि।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

भवतो विकरालदाढपरीतानि, कालाग्नि (कालस्यापि कृते परमात्माग्निस्वरूपः) सदृशानि प्रज्वलितानि मुखानि दृष्ट्वा दिग्ज्ञानं न शक्यते कर्त्तुम्। चतसृषुदिक्षु प्रकाशं पर्यालोच्य जायते दिग्भ्रमः, भवतः इदं रूपं दृष्ट्वा न सुखमनुभवामि। हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसीदतु भवान्।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

ते सर्वे धृतराष्ट्रपुत्राः भूपतीनां समुदायसहिताः भवत्येव प्रवेशं कुर्वन्तः सन्ति। भीष्मपितामहः, द्रोणाचार्यस्तथा स कर्णश्च (येन कर्णेनार्जुनः बहुभयभीतः स कर्णः) तथा मम पक्षीयैः वीरैः सहिताः सर्व एव–

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

महता वेगेन भवतो विकरालाश्मश्रुदाढयुते भयङ्करे मुखे प्रविशन्तः सन्ति, तथा तेभ्यो मुखेभ्यश्चूर्ण शिरस्का: शिरोसहिताः भवतोदशनान्तराले संश्लिष्टाः दृश्यन्ते। ते केन वेगेन प्रविशन्ति? तस्यैव वर्णनं प्रस्तूयते–

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

यथा नदीनामपरिमिताः सलिलप्रवाहाः (स्वस्मिन्नतीव विकरालाः सन्तोऽपि) सागराभिमुखं धावन्ति, समुद्रे च प्रविशन्ति, तथैव ते शूरप्रमुखा वीरसमुदाया भवतः प्रज्वलिते मुखे समाविशन्ति। अर्थात् ते यद्यपि सन्ति

वीराग्रगण्यास्तथापि समुद्रोपमे भवतस्तुण्डे नदीनामिव विलीयन्ते, भवान् समुद्रसन्निभोऽस्ति। भवतः समक्षं तेषां बलमत्यल्पमस्ति। ते किमर्थं केन प्रकारेण प्रविशन्ति? एतदर्थं उदाहरणं द्रष्टव्यम्–

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

यथा पतङ्गाः स्वं विनाशयितुं प्रज्ज्वलिते पावके वेगातिशयेन प्रविशन्ति, तथैवेमे सर्वे प्राणिनः प्रनष्टं कर्त्तुं भवन्मुखे प्रबलवेगेन प्रवेशं कुर्वन्तः सन्ति।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

भवान् तान् समस्त लोकान् प्रज्ज्वलितमुखद्वारेण निगलन् सन् लेढि तेषामास्वादनं कुर्वन् वर्तते। हे व्यापनशीलपरमात्मन्! भवत अत्युग्रा प्रभा निखिलं जगत् स्वतेजसा व्याप्तं कृत्वा तापयति। तात्पर्यमिदं यत् प्रथममासुरी–सम्पद् परमतत्त्वे विलीयते, तदनन्तरं दैवीसम्पदः काप्यावश्यकता न शिष्यते। अतएव दैवीसम्पदपि तस्मिन्नेव स्वरूपे विलीना भवति। अर्जुनः समवलोकितवान् यत् कौरवपक्षीयाः शूराः स्वपक्षीयाश्चापि योद्धारः श्रीकृष्णस्य मुखे विलीना भवन्तः सन्ति। स पप्रच्छ–

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

मां ब्रूहि यद् विकरालाकारको भवान् कोऽस्ति? हे देवेषु श्रेष्ठ! भवते नमः, प्रसीदतु भवान्। आदिस्वरूप! अहं भवन्तं सम्यक् प्रकारेण ज्ञातुं कामये– (यथा कोऽस्ति भवान्? किं चिकीर्षति?) कुतोहि भवतां प्रवृत्तिं चेष्टाञ्च नाऽहं ज्ञातुं प्रभवामि। अत उपरि योगेश्वरः श्रीकृष्णो ब्रूते–

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अर्जुन! अहं लोकानां विनाशकर्त्ता प्रवर्धमानः कालोऽस्मि। साम्प्रतम् एतान् सर्वान् लोकान् प्रणाशयितुं प्रवृत्तोऽस्मि। प्रतिपक्षीनां सेनायां यावन्त सन्ति योद्धारस्ते तव प्रयासाभावेऽपि न स्थास्यन्ति, न ते जीवितावर्तिष्यन्ते। एतदर्थं प्रवृत्तोऽहम्।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

अतएवार्जुन! त्वं योद्धुं सन्नद्धो भव, कीर्तिं संरक्षय, शत्रून् पराजयस्व, समृद्धिसम्पन्नं राज्यमुपभुङ्क्ष्व। इमे सर्वे शूराः वीराश्च मया पूर्वमेव मारिताः सन्ति। सव्यसाचिन्! त्वं केवलं निमित्ततां सम्पादय।

प्रायः सर्वत्रश्रीकृष्णेन समुद्घोषितं यदसौ परमात्मा स्वयं किञ्चिदपि न करोति न च कारयति, न संयोगं योजयति। मोहावृत्तबुद्धिकारणात् जनाः कथयन्ति यत् परमात्मैव सर्वं कारयति, किन्त्वत्र स परमात्मा तालं संध्वन्य साटोपं सम्पीड्य वा स्वयं विराजते। कथयति च– अर्जुन! सर्वस्य कर्त्ता–धर्त्ता चाहमस्मि। ममद्वारा सर्वे कौरवाः सन्ति मारिताः, त्वं केवलं युद्धे प्रस्तुतो भव, यशः प्राप्नुहि। एवमेतदर्थमस्ति यत् "सो केवल भगतन्ह हित लागी।" अर्जुनः तामवस्थां

प्राप्तं कृतवानस्ति, यद् भगवान् स्वयं सतालध्वनिः सन्नद्धो बभूव। अनुराग एव अर्जुनोऽस्ति। अनुरागीणां कृते भगवान् सदोपस्थितोऽस्ति, तेषां कर्त्ता सारथिरपि भवति परमात्मा।

अत्र गीतायां तृतीयवारं साम्राज्यस्य प्रकरणमुपस्थितम्। प्रथमन्तु पार्थो योद्धुं नाकामयत्। तेन कथितमासीत् यत् पृथिव्याः निष्कण्टकसाम्राज्ये धनधान्य बहुले तथा देवानामाधिपत्ये, लोकत्रयस्य राज्ये च नाऽहं तदुपायं समवलोक-यामि, य इन्द्रियाणां शोषकं ममेमं शोकं निवारयेत्। यदि स्व-बन्धूनां वध-जन्यं सन्तापः स्थास्यति, तदा नाऽहं कामये भोगम्। श्रीकृष्णेनार्जुनः सम्बोधितश्चेत् पराजितो भविष्यति तदा देवत्वं जेष्यसि चेत् महामहिमगौरवं प्राप्स्यसि।

अत्र चैकादशेऽध्याये कथयति यत्- इमे पुरतो विद्यमानाः शत्रवो मम-द्वारामारिताः सन्ति, त्वं मात्र निमित्तं भूत्वा कीर्तिमर्जय, समृद्धं राज्यञ्च भुङ्क्ष्व। पुनः सैव चर्चा यया चर्चयार्जुनश्चकितो भवति, यत्र शोकं विगलन् न पश्यति, किं श्रीकृष्णः पुनस्तदेव राज्यं दास्यति? नहि, वस्तुतो विकाराणामन्तेन सह परमात्मस्वरूपस्य स्थितिरेव वास्तविक समृद्धिरस्ति, या स्थिरा सम्पत्तिरस्ति। यस्याः कदापि न भवति नाशः, राजयोगस्य परिणामोऽस्ति।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

एतान् द्रोणभीष्मजयद्रथकर्णादीन् तथाऽन्यान् बहून् ममद्वारा मारितान् सकलान् वीरान् त्वं जहि, माभैषीः। संग्रामे त्वं शत्रूनवश्यं जेष्यसि, अतो युद्धं कुरु। अत्रापि योगेश्वरेणोक्तं यत् ममद्वारा सर्वे हताः सन्तीमे, एतान् मृतान् त्वं मारय। स्पष्टं कृतवान् यदहं कर्त्ताऽस्मि, यदा पञ्चमाध्यायस्य १३,१४,१५ तमे श्लोके तेन कथितं यद् भगवानकर्त्तास्ति। अष्टादशतमेऽध्याये स कथयति-शुभाशुभ प्रत्येकं कार्यस्यपूर्तौ पञ्च माध्यमाः सन्ति-अधिष्ठानम्, कर्त्ता, करणम्, चेष्टा, दैवम्। ये कथयन्ति यत् कैवल्यस्वरूपं परमात्मा करोति, ते सन्त्यविवेकिनः

न यथार्थं जानन्ति, अर्थात् भगवान् न करोति। कथमेतादृशो विरोधाभासः?

वस्तुतः प्रकृतेस्तथा तस्य परमात्मपुरुषस्यान्तराले वर्तते सीमारेखैका। यावत् प्रकृतेः परमाणूनां प्रभावोऽधिको भवति, तावन्माया प्रेरणां ददाति, यदा साधकस्तदुपरि सन्तिष्ठते, ईश्वरस्येष्टस्य अथवा सद्गुरोश्च कार्यक्षेत्रे प्रवेशं प्राप्तं करोति, ततः सद्गुरुः (स्मरणीयम्, प्रेरकस्य स्थाने सद्गुरुः, आत्मा, परमात्मा, इष्टः, भगवान् सर्वे पर्यायाः सन्ति, किमपि वदानि भगवानेव कथयति) हृदयेन रथी भवति, आत्मना जागृतो भूत्वा तस्यानुरागिणः साधकस्य स्वयं पथसञ्चालनं कर्त्तुं यतते।

'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म– "हो, यस्य परमात्मनो ममाऽस्ति कामना, यस्मिन् धरातले स्थितोऽहं तस्मिन् धरातले स्वयं सन्नद्धो भूत्वा यावत् आत्मा जागृतो न भवति, तावत् सुचारुरूपेण साधनारम्भो न भवति। ततः साधकेन यत् किञ्चित् पार्यते तत् तस्यैवानुदानमस्ति। साधकस्तु निमित्तमात्रं भूत्वा तस्य संकेतेन आदेशेन च चलति। साधकस्य सफलता तस्यानुदानमस्ति। एतादृशस्यानुरागिणः कृते स्वदृष्ट्या पश्यति दर्शयति च, स्वस्वरूपं यावत् प्रापयति च। एतदेव श्रीकृष्णः कथयति यत् ममद्वारा हतान् मारय शत्रूनिमान्, निश्चयरूपेण जेष्यसि, अहं समुपस्थितोऽस्मि।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

सञ्जय अब्रवीत्– (यत् किञ्चिदर्जुनः ददर्श तथैव सञ्जयः दृष्टवान्। अज्ञानाच्छादित मनाः प्रज्ञाचक्षुः धृतराष्ट्रोस्ति, किन्तु एतादृशं मन अपि संयमस्य माध्यमेन पश्यति, शृणोति बुध्यते च) केशवस्यैतानुपर्युक्तान् वचनसमूहान् श्रुत्वा किरीटधारी धनञ्जयो भयभीतो भूत्वा कम्पमानः करबद्धः प्रणम्य पुनः श्रीकृष्णं श्लथकण्ठः प्रोवाच–

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।३६।।

अन्तर्यामिन् हे हृषीकेश! समुचितमेतत् यत् भवतः कीर्त्या संसारो हर्षितोऽस्ति तथानुरागञ्च लभते। भवतो महिम्नैव भयभीता राक्षसाः दिक्षु–विदिक्षु पलायन्ते, अपरे सिद्धगणसमुदाया भवन्महिमानं दृष्ट्वा नमस्कुर्वन्ति।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

हे महात्मन् ! ब्रह्मणोऽपि प्रथमकर्त्तारं सर्वश्रेष्ठं भवन्तं ते कथं न प्रणमेयुः कुतोहि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सदसतोः परमक्षरमक्षयस्वरूपो भवानेवाऽस्ति। अर्जुनोऽक्षयस्वरूपस्य प्रत्यक्षं दर्शनमकरोत्। केवलं बौद्धिक–स्तरेण कल्पनया मान्यतया वा न काऽपीदृशी स्थितिः प्राप्यते या भवेदक्षया। अर्जुनस्य प्रत्यक्षदर्शनं तस्यान्तरिकानुभूतिरेवाऽस्ति। स सविनयमब्रवीत् –

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

भवानादिदेवः, सनातनः पुरुषः, अस्य जगतो भवान् परमाश्रयः ज्ञाता–ज्ञेयश्चास्ति तथा परमधामास्ति। हे अनन्तस्वरूप! सम्पूर्णमिदं जगत् भवद् व्याप्तमस्ति। भवान् सर्वत्रैव।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

भवानेव वायुः, यमराजः, अग्निः, वरुणः, चन्द्रमास्तथा प्रजानां स्वामी ब्रह्मा तथा ब्रह्मणः पिताऽस्ति। भवते भूयो-भूयो नमोस्तु। पुनस्तु वारं-वारं नमो नमः। अतिशय श्रद्धया भक्त्या च प्रणमतोऽर्जुनस्य मनो न तृप्यति। स वदति–

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

हे बहुसामर्थ्यवान्! भवते पृष्ठतः पुरतश्च नमः। सर्वात्मन् ! भवते सर्वतो नमः, कुतोहि हे अनन्तपराक्रमशालिन्! भवान् सर्वतो जगत् व्याप्तं कृतवानस्ति, अतएव भवानेव सर्वरूपः सर्वत्रोऽस्ति। एवं प्रकारेणार्जुनो वारम्वारं नमस्कारं कृत्वा भयभीतः सन् स्वापराधस्य क्षमापनाय क्षमां याचते।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

भवत ईदृक् प्रभावमजानानो भवन्तं सखारूपेण, मित्ररूपेण मत्वा मम-द्वारा कदाचित् प्रेम्णा कदाचिच्च प्रमादात् हे यादव, हे कृष्ण, हे सखे!- इति प्रकारेण हठपूर्वकं कथितं तथा–

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

हे अच्युत! परिहासाय, विहाराय, शय्यायाम्, आसने, भोजनादौ च एकलः समूहे वा तेषां प्रतिपक्षीणां पुरतोऽपि भवान् नैकदाऽपमानितः तस्य जातस्यापराधस्य कृते भवतः क्षमां याचे। कथं क्षमां करोतु भवान्?–

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

भवानस्य चराचरस्य संसारस्य पिता, गुरुतोऽपि गुरुरतिपूजनीयश्चास्ति, यस्य नास्ति किमपि प्रतिमानमेवमप्रतिमप्रभाववान् ! भवत्तुल्यं त्रिषु लोकेषु नापरः कोऽपि, पुनरधिको कथं भविष्यति? भवान् सखापि नहि, सखा तु समकक्षो भवति।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

भवानखिलस्य जगतः पिताऽस्ति, अतएव स्वशरीरं सम्यग् रूपेण भवतश्चरणेषु समर्प्य प्रणामं कृत्वा, स्तुत्यं भवन्तं प्रसादयितुं प्रार्थये। हे देव! पिता यथा पुत्रस्य, सखा यथा सख्युः, पतिश्च यथा प्रियकान्ताया अपराधं क्षमते तथैव भवानपि ममापराधान् क्षन्तुमर्हः। अपराधः किमासीत्? अहं कदाऽपि हे यादव! हे सखे! हे कृष्ण! इति सम्बोधनमकरवम्। उक्त सम्बोधनं समाजे तथैकान्तेऽपि मयाव्यवहृतम्। भोजनसमये, शयनकालेऽपि पूर्वोक्त सम्बोधनं प्रयुक्तं मया। किं कृष्ण इति कथनमासीदपराधः? कृष्णवर्णस्तु तस्यासीत् न तु गौरः, यादवकथनमपि नासीदपराधः कुतोहि यदुकुले जन्मजातम्, सखे इति कथनमपि नासीदपराधः यतोहि स्वयं कृष्णः स्वमर्जुनस्य सखा मन्यते स्म। यदा कृष्ण कथनमपराध एवास्ति, वारमेकं कृष्णकथनस्यापराधाय भूयो-भूयो याचते क्षमाम्, तदा जपः कस्य नाम्नो भवेत्? किन्नाम ग्राह्यम्?

वस्तुतश्चिन्तनस्य यद्विधानं स्वयं श्रीकृष्णो निर्दिष्टवान्, तथैव जनैः कर्त्तव्यम्। तेन पश्चादुक्तम् ''**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**'' अर्जुन! 'ओम्' अलमेतदेवाक्षयब्रह्मणः परिचायकमस्ति। अस्य त्वं जपं कुरु, मम च ध्यानं धारय। यतोहि तस्मिन् परमभावे प्रवेशे मिलिते सति तस्य महापुरुषस्याप्येत-देवनामास्ति, यदुक्ताव्ययस्य परिचायकमस्ति। प्रभावदर्शनानन्तरमलगदर्जुनस्य यदयं न कृष्णो न च गौरो, न सखा न यादवः, अयं तु अक्षयब्रह्मस्थितिवानस्ति महात्मा।

सम्पूर्णायां गीतायां श्रीकृष्णः पञ्चवारम् 'ओम्' इत्यस्योच्चारणाय प्रेरणां दत्तवान्। इदानीं चेज्जपस्यकरणं भवेत्तदा कृष्ण-कृष्ण इति नोक्त्वा 'ओम्' इत्यस्य जपः कर्त्तव्यः। प्रायो भावुका जनाः कमपि पन्थानमन्वेषयन्ति। केचन तु ''ओम्'' इति जपस्याधिकारानधिकार विवेचने सन्ति भयभीताः। केचन तु महात्मनां साक्ष्यं समुपस्थापयन्ति अथवा केचन तु श्रीकृष्ण एव नहि कृष्णादपि पूर्वं राधा तथा गोपीनामपि नाम जपं कृष्णं प्रसादयितुं कुर्वन्ति। पुरुष-श्रद्धामयोऽस्ति। अतस्तेषामुपर्युक्त विधानेन जपो भावुकतायाः प्रतीकोऽस्ति। यदि भवन्तः सन्ति भावुकाः सत्यतस्तदा श्रीकृष्णस्यादेशस्य पालनं कुर्वन्तु। स अव्यक्तरूपेण स्थितः सन्नपि भवतो दूरं विभाव्यते। किन्तु तस्य वचनानि तु भवतः समक्षं वर्त्तन्ते। तस्याज्ञापालनमनिवार्यमन्यथा ब्रुवन्तु गीतायां भवतः स्थानं किमस्ति? आम्, एतत्त्ववश्यमस्ति यत् ''**अध्येष्यते च य इमं श्रद्धावाननुसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।**'' य अध्ययनं करोति, शृणोति, स ज्ञानं तथा यज्ञं ज्ञातुं प्रभवति, शुभान् लोकान् लभते। अतोहि कर्त्तव्यमध्ययनम्।

प्राणापानयोश्चिन्तने 'कृष्ण' नाम्नः क्रमो ध्यानार्थं ग्रहणे न समागच्छति। बहवो भावुकाः जनाः भावुकतया केवलं 'राधे-राधे' जपितुं लगन्ति। साम्प्रतं कस्मिन्नपि कार्येजातेऽवरोधे प्रशासनिकाधिकारीणां क्षेत्रे तदा जनास्तमधिकारिणं स्वानुकूलमनुनेतुमधिकारीणां सम्बन्धिभिः, मित्रैः, सुहृद्भिः, भार्यादिभिश्च 'प्रभावं' द्रढयितुं परम्परा प्रचलिता विद्यते। जनाश्चिन्तयन्ति- सम्भवतः परमात्मनो गेहेऽपि अधिकारीणामिव प्रक्रिया प्रचलन्ती भविष्यति। अतस्तैः 'कृष्ण-कृष्ण' इति नामकीर्तनं विहाय ''राधे-राधे'' इति कथनमारब्धम्। ते कथयन्ति ''राधे-राधे,

श्याम मिला दे'' राधा स्वयमेकदा जाता वियुक्ता पुनर्नामिलत् कृष्णेन, सा राधा कथं भवन्तं मेलयिष्यति कृष्णेन? अतोहि अपरेषां सन्देशमुपदेशं संकेतञ्च परित्यज्य केवलं श्रीकृष्णस्योपदेशमक्षरशः पालयन्तु भवन्तः 'ओम्' इत्यस्य जपं कुर्वन्तु। आम्, एतावदुचितमस्ति, यत् 'राधा' ममादर्शोऽस्ति तेनैव मनोयोगेन परमानुरागेणास्माभिरपि भजनीयम्। यदि परमात्मप्राप्तिरस्ति अभीष्टा तर्हि राधावत् विरहानुभवं कुरु।

अग्रेऽपि धनञ्जयः 'कृष्ण' इति सम्बोधनं कृतवान्। कृष्णः तस्यासीत् प्रचलितं नाम। इत्थमनेकानि नामानि कृष्णस्यासन्, यथा– 'गोपाल' इत्यादयः, किन्तु नैके साधकाः ''गुरु-गुरु'' तथा गुरोः प्रचलितं नाम भावुकतावशतो जपितुं वाञ्छन्ति; किन्तु परमात्मप्राप्तेरनन्तरं प्रत्येकं महापुरुषस्य नाम तदेव, यस्मिन् शाश्वते स स्थितोऽस्ति। बहवः शिष्याः पृच्छन्ति, गुरुदेव! यदा भवतो ध्यानं कुर्मस्तदा परमप्राचीनम् 'ओम्' इत्यस्य नाम्नोजपं किमर्थं विधेयम्? 'गुरु-गुरु' अथवा 'कृष्ण-कृष्ण' इति कथन्न भजेम? किन्त्वत्र योगेश्वरः सुस्पष्टं निर्णयं दत्तवान् यदव्यक्तस्वरूपे विलयेन सह महापुरुषस्यापि तदेव नाम यस्मिन् स रमते। ''कृष्ण'' सम्बोधनमासीत् न तु जपस्य नाम।

योगेश्वरं श्रीकृष्णं प्रत्यर्जुनः स्वऽपराधानां निवारणाय क्षमां याचितवान्, कृष्णं पूर्ववत् स्वाभाविक स्थितौ प्रवर्तमानायाऽपि प्रार्थितवान्। श्रीकृष्णो मानितवान् पूर्ववदभवत् अर्थात् क्षमामपि कृतवान्। स न्यवेदयत् –

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

इदानीं यावदर्जुनस्य समक्षं योगेश्वरो विश्वरूपे वर्त्तते। अतः स कथयति– यन्मया पूर्वमनवलोकितं भवत इदमाश्चर्यमयं रूपं दृष्ट्वा परमप्रमुदितोऽस्मि तथा सहैव मम मनो भयात् व्याकुलमपि भवन्नस्ति। पूर्वं तु सखारूपेण जानामि स्म, धनुर्विद्यायां कदाचिदात्मानं प्रखरं तीव्रञ्च प्राप्नोमि स्म, किन्तु साम्प्रतं

प्रभावं दृष्ट्वा भयं समुत्पद्यते। अतीतेऽध्याये प्रभावंश्रुत्वा स आत्मानं ज्ञानिनं मन्यते स्म। ज्ञानी न कुत्रापि विभेति। वस्तुतः प्रत्यक्षदर्शनस्य प्रभावो विलक्षणो भवति। सर्वं तथ्यं श्रवणे स्वीकरणे च पश्चात् सर्वं ज्ञातुं शेष एव मिलति। स कथयति, पूर्वमनवलोकितमिदं भवतो रूपं दृष्ट्वा प्रसीदाम्यहम्। मनो मे भयात् व्याकुलायते। अतो हे देव! प्रसीदतु भवान्। हे देवेश! हे जगन्निवास! भवान् मां पूर्वरूपं दर्शयतु। कीदृशो रूपम्?—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

अहं भवन्तं पूर्ववत् शिरसि मुकुटधारिणं, करे गदां चक्रञ्च धारयन्तं द्रष्टुमिच्छामि। अतएव हे विश्वरूप! हे सहस्रबाहो! भवान् स्वचतुर्भुजरूपं दधातु। कीदृश रूपं द्रष्टुमियेष? चतुर्भुजं रूपम्। इदानीं द्रष्टव्यमस्ति यत् चतुर्भुजं रूपं किमस्ति?—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

अनेन प्रकारेणार्जुनस्य प्रार्थनां श्रुत्वा ब्रवीति श्रीकृष्णः— अर्जुन! मया कृपापूर्वकं स्वयोगशक्तिप्रभावतः परमतेजोमयं, सर्वस्यादिम्, सीमारहितम्, स्वविश्वरूपं त्वामदर्शयम्, यद् रूपं त्वदतिरिक्तमितः पूर्वं न केनापि दृष्टम्।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अर्जुन! अस्मिन् मनुष्यलोके एवं प्रकारः विश्वरूपधारकोऽहं न वेदैः, न यज्ञैः, नाध्ययनैः, नदानैः, न क्रियाभिः, नोग्रतपोभिः किं बहुना त्वदतिरिक्तेन नान्येन केनचित् द्रष्टुं सम्भाव्यते। अर्थात् त्वदतिरिक्तं रूपमिदं नान्यः कश्चित् द्रष्टुं शक्नोति। तदा तु गीतेयं भवतः कृते निष्प्रयोजना, भगवद्दर्शनस्यापि योग्यता अर्जुनं यावत् सीमिता भवत्। यदाहि पूर्वं समुपदिष्टं कृष्णेन यद् अर्जुन! रागभयक्रोधादिभिःरहिता अनन्यमनोभिः मम शरणं समायाता बहवो जनाः ज्ञानरूपतपसापूता भूत्वा साक्षात् मम स्वरूपं प्राप्तवन्तः। अत्र कथयति कृष्णः– त्वां विहाय नान्यः कश्चित् द्रष्टुं शशाक न च भविष्येऽपि कोऽपि द्रक्ष्यति। अतोऽर्जुनः कोऽस्ति? किं कश्चित् पिण्डधारकोऽस्ति? कश्चित् शरीरधारकोऽस्ति? नहि, वस्तुतोऽनुराग एवास्त्यर्जुनः। अनुरागहीनः पुरुषः न कदापि द्रष्टुं शशाक, न भविष्येऽपि कदाऽपि द्रक्ष्यति। सर्वतश्चित्तं समाकृष्यैकमात्रेष्टस्यानुराग एवानुरागः समुच्यते। अनुरागिणः कृत एव प्राप्तेर्विधानमस्ति।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

अनेन प्रकारेण मम विकरालं रूपं दृष्ट्वा त्वं व्याकुलो मा भूः तथा मूढभावमपि मा गमः यत् व्यग्रीभूय स्वेष्टात् पृथगपि न भवेः। साम्प्रतं त्वं भयरहितः प्रीतियुक्तमनसा पूर्वतनं मे चतुर्भुजरूपं पश्य पुनः।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

सञ्जयो निजगाद–सर्वत्र वासकर्त्ता देवः वासुदेवोऽनेनप्रकारेणार्जुनं सम्बोध्य पुनः पूर्ववत् स्वरूपं दर्शयामास। पुनः महात्मा कृष्णः "सौम्यं वपुः" अर्थात्

प्रसन्नो भूत्वा भयभीतमर्जुनमाश्वस्तवान्। अर्जुनोऽब्रवीत् –

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

जनार्दन! भवतः शान्तं मानवरूपमवलोक्य साम्प्रतमतीव प्रसन्नचित्तोऽस्मि। स्वस्वभावं प्राप्तोऽस्मि। अर्जुनेनेतः पूर्वं प्रार्थितः श्रीकृष्णः यत् भगवन् ! मां पौर्वं चतुर्भुजरूपं दर्शय। योगेश्वरो दर्शितवानपि किन्तु यदाऽर्जुनः पूर्वमवलोकितवान् तदा तस्य किं फलम्? 'मानुषं रूपम्'– मनुष्यस्य रूपमपश्यत्। वस्तुतः प्राप्तेरनन्तरं महापुरुष एव चतुर्भुजस्तथानन्तभुजः कथ्यते। द्विभुजः पुरुषस्तु समुपविष्टो विद्यते समक्षमनुरागिणः; किन्तु कश्चिदन्यत्रतश्चेत् स्मरणं करोति, तदा स एव महापुरुषस्तेन स्मरणकर्त्रा जागृतः, रथी भूत्वा तस्यापि मार्गदर्शनं करोति। 'भुजः' कार्यस्य प्रतीकोऽस्ति। स एव आभ्यन्तरेऽपि कार्यं कुरुते बहिरपि, एष एव चतुर्भुजस्वरूपः। तस्य हस्तेषु शंखः, चक्रम्, गदापद्मे च क्रमशः वास्तविक लक्ष्यघोषः, साधनचक्रस्य प्रवर्तनमिन्द्रियाणां दमनं, निर्मलनिर्लेप–कार्यक्षमतायाः मात्र प्रतीकाः सन्ति। एतदेव कारणमस्ति यत् चतुर्भुजरूपेण कृष्णमवलोकिते सत्यपि अर्जुनस्तं मानवरूपेणैव लेभे। चतुर्भुजः महापुरुषाणां स्वरूपेण शरीरेण च कार्यसम्पादनस्य विधिविशेषस्याभिधानमस्ति, न तु चतुर्णां पाणीनामासीत् कश्चित् कृष्णः।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

महात्मा श्रीकृष्णः प्रावोचत्– अर्जुन! ममेदं रूपं दर्शनायऽतिपरम–दुर्लभमस्ति, यादृशं रूपं त्वं दृष्टवान्, यतोहि देवा अपि सदैवेदं रूपं दिदृक्षन्ते। यथार्थतः सर्वेजनाः साधुपुरुषं सत्पुरुषं वा परिचेतुं न शक्नुवन्ति। 'पूज्य सत्सङ्गिनः महाराजाः' अन्तःप्रेरणावन्तः महापुरुषा आसन् किन्तु जनास्तं प्रमत्तं जानन्त आसन्। कांस्कान् पुण्यात्मनः प्रत्यभवदाकाशवाणी यदिमे सद्गुरवः। केवलमसौ

सद्गुरुस्तं हृदयेन जग्राह, तस्य स्वरूपञ्च साक्षात्कृतवान् स्वगतिञ्च साधयामास। अयमेव कृष्णः कथयति यत् यस्य हृदये दैवीसम्पद् जागृता भवति, ते देवा अपि सदेदं रूपं द्रष्टुं कामयन्ते। तर्हि किं भवान् यज्ञेन, दानेन, वेदाध्ययनेन वा द्रष्टुं शक्नोति? कृष्णः कथयति—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

नाहं वेदैः, न तपोभिः, न दानैः, न च यज्ञैरित्थंरूपेण द्रष्टुं सुलभोऽस्मि यथा त्वं दृष्टवान्। तदा किं भवन्तं द्रष्टुं नापरः कश्चिदन्योपायो वर्तते? कथयति कृष्णः, अस्त्येकः उपायः—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।५४।।

श्रेष्ठतपस्विन् अर्जुन! अनन्यभक्तिद्वारेणार्थात् मदतिरिक्तं नान्यस्य कस्यापि देवस्य ध्यानं स्मरणं कुर्वन् अनन्यश्रद्धया त्वहमित्थं प्रत्यक्षं द्रष्टुं, तत्त्वतः साक्षात् ज्ञातुं तथा तत्त्वे प्रवेष्टुं सुलभोऽस्मि, अर्थात् तस्य परमतत्त्वस्य प्राप्तेरेकमात्रं सुगमसाधनमनन्याभक्तिरेवास्ति। अन्ते चलित्वा ज्ञानमपि अनन्यभक्तौ परिणतं भवति– यथाऽतीते सप्तमाध्याये द्रष्टव्यमस्ति। साम्प्रतमितः पूर्वं श्रीकृष्णेनोक्तम्– अर्जुन ! त्वां विहाय ममेदं रूपं न केनापि दृष्टं न च कोऽपि द्रक्ष्यति, अत्राघोषयत्– अनन्यभक्त्या मां न केवलं द्रष्टुं शक्यते अपितु साक्षात् रूपेण ज्ञातुं मयि सम्प्रवेष्टुं शक्यते अर्थादर्जुनः इत्यनन्यभक्तस्य संज्ञास्ति, इयमेकस्या अवस्थायाः नामास्ति। अनुराग एवार्जुनः। अन्ते पुनः योगेश्वरः वदति—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

अर्जुन! यः पुरुषो मम निर्देशानुसारेण कर्माणि अर्थात् नियतकर्म यज्ञार्थं कर्म करोति, '**मत्परमः**' मम परायणो भूत्वा करोति, यो मे अनन्यभक्तोऽस्ति, '**सङ्गवर्जितः**' किन्तु सङ्गदोषे वर्तमानः स कर्म न भवितुं शक्नोति। अतः सङ्गदोषरहितः समस्त प्राणिवर्गे वैरभावविमुक्तो यो भवति, स मां प्राप्नोति।

तर्हि किम् अर्जुनः युद्धमकरोत्? प्रणं कृत्वा असावार्जुनः किं स्ववैरिणो जयद्रथादीन् हतवान्? यदि तान् हन्ति, तर्हि भगवन्तं द्रष्टुं न सक्षमः, यदा त्वर्जुनः दृष्टवान् अस्ति। एतेन सिद्ध्यति यद् गीतायामेकोऽपि श्लोको नैतादृशो वर्तते यो बहिः घातप्रतिघातयोः समर्थनं कुर्वन् मिलेत्। यो निर्दिष्ट कर्मणो यज्ञस्य प्रक्रियाया आचरणं करिष्यति, योऽनन्यभावेन तं परित्यज्यापरस्य स्मरणमपि न करिष्यति, यः सङ्गदोषरहितो भविष्यति, तर्हि युद्धं कीदृशम्? यदि भवतः संसर्गे सान्निध्ये वा कश्चिदस्त्येव नहि, तदा भवान् केन सह युद्धं करिष्यति? सर्वेषु प्राणिषु यः वैरभावरहितः, मनसापि कमपि सन्तापयितुं कल्पनापि न कुर्वीत, स मां प्राप्तं कर्त्तुं शक्नोति, तर्हि किमर्जुनः युद्धमवाञ्छयत्? कदाऽपि नहि।

यद्यपि सङ्गदोषात् पृथक् भूत्वा यदा भवाननन्यचिन्तने नियुक्तो भवति, निर्धारितयज्ञस्यक्रियायां प्रवृत्तिः जागर्ति, तस्मिन् समये परिपन्थिनो रागद्वेष-कामक्रोधादयो दुर्जयाः शत्रवो बाधारूपेण प्रत्यक्षायन्ते। तेभ्यः पारप्राप्तिरेव युद्धमस्ति।

निष्कर्षः—

अस्याध्यायस्यारम्भे कथितमर्जुनेन— भगवन्! भवतां विभूतीनां सविस्तरं श्रवणं मया कृतम्, येन ममायं मोहोऽभवन्नष्टः, अज्ञानस्य शमनं जातम्, किन्तु यथा भवता घोषितं यदहं सर्वत्रास्मि; तदहं प्रत्यक्षं द्रष्टुं कामये। यदि मया दर्शनं कर्त्तुं शक्येत्, तदा तदेव स्वरूपं दर्शयतु। अर्जुनः प्रियः सखाऽऽसीत्, अनन्यसेवकश्चासीत्, अतएव योगेश्वरः श्रीकृष्णः अर्जुनस्य प्रस्तावस्य प्रतिवादं न कृत्वा त्वरितं विश्वरूपं दर्शयितुं प्रारेभे, यदिदानीं ममान्तराले सप्तर्षयस्तेभ्योऽपि पूर्वं भवः ब्रह्माणं विष्णुञ्च पश्य। सर्वत्र प्रसृतं मम तेजः पश्य। ममैव शरीरे एकस्थानस्थितस्त्वं चराचरं जगदवलोकय, किन्तु धनञ्जयः नेत्रे मृजन्नेव स्थितोऽभवत्। एवं प्रकारेण योगेश्वरः श्रीकृष्णः द्वित्र श्लोकं यावदनवरतं प्रदर्शनमकरोत्, किन्त्वर्जुनः न किञ्चित् विलोकयामास। सर्वा विभूतयो योगेश्वरे कृष्णे तदानीमप्यासन् किन्त्वर्जुनाय स कृष्णः सामान्यपुरुषवत् दृष्टिपथायितः।

तदैवं दर्शयन्-दर्शयन् योगेश्वरः श्रीकृष्णः सहसा विरराम कथयति च, अर्जुन! आभ्यामक्षिभ्यां त्वं मां द्रष्टुं न शक्नोसि। स्वबुद्ध्या त्वं मां परिचेतुं न शक्ष्यसि। साम्प्रतं तुभ्यमहं तद् दृष्टिं ददामि यया त्वं मां द्रष्टुं शक्ष्यसि। भगवान्तु समक्षं स्थितः आसीत्। अर्जुन अवलोकितवान्, वस्तुतः दृष्टवान्। दर्शनानन्तरं क्षुद्रत्रुटीनाम् कृते क्षमायाचनां कर्त्तुमलगत्, या वस्तुतो नासन् त्रुटयः। उदाहरणार्थम्, भगवन्! कदाचिदहं भवन्तं कृष्ण, यादव, कदाचिच्च सखा इत्युक्त्वा सम्बोधनमकरवम्। एतदर्थं भवान् मां क्षम्यताम्। श्रीकृष्ण अकरोत् क्षमामपि, यतोहि पार्थस्य प्रार्थनामाकर्ण्य स्वं स्वरूपं संधार्य धैर्यं ददौ।

वस्तुतः 'कृष्ण' इति सम्बोधनं नासीदपराधः। असौ श्यामवर्ण आसीदेव गौरः कथं सम्बोधयेत्। यदुवंशेत्वभवज्जन्म तर्हि यादव कथने कोऽपराधः? श्रीकृष्णस्त्वात्मानमर्जुनस्य सखायं मन्यते स्म। वस्तुतस्तु प्रत्येकं साधकः महापुरुषं प्रथममेव जानाति। केचन तं रूपेणाकारेण च सम्बोधयन्ति, केचन च तस्य वृत्त्याधारेण सम्बोधयन्ति, केचन तु तं स्वसमकक्षं मन्यन्ते, तस्य यथार्थस्वरूपं नावगच्छन्ति। तस्याचिन्त्य स्वरूपमर्जुनः ज्ञातवान् तदा तु जातः बोधः नायं कृष्णः, नायं गौरः, न कस्मिन् कुले जातः, न कस्यापि सखैवास्ति। एतत्तुल्यो न कोऽपि तर्हि कीदृशः सखा? कीदृशस्तुल्यः? अयन्त्वचिन्त्यस्वरूपः। यदर्थं अयं स्वयं ज्ञापयेत् स एव एनं द्रष्टुं पारयति। अतोऽर्जुनः स्वप्रारम्भिक भ्रान्तीनां कृते क्षमायाचनां कृतवान्।

जागर्ति प्रश्नः, यदा कृष्ण इति कथनमपराधोऽस्ति तर्हि तस्य नामजपः कथं भवेत्? तदा तु योगेश्वरः कृष्णः जपाय स्वयं प्रैरयत्, जपस्य यं विधिमुक्तवान् तेन विधिना भवानपि चिन्तनं स्मरणं च विदधीत्। स विधिरस्ति- '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।**'- 'ओम्' इति अक्षय ब्रह्मणः पर्यायोऽस्ति। '**ओ अहम् स ओम्**'-यः व्याप्तोऽस्ति, सा सत्ता मयि तिरोहितास्ति, अयमेवास्ति 'ओम्' इत्यस्याशयः। भवानस्य जपं करोतु, ध्यानञ्च मम धारयतु। कृष्णः रूपं स्वकीयं नाम च ओमिति उपदिदेश।

अर्जुनेन प्रार्थना कृता यत् चतुर्भुजरूपं मां दर्शय। कृष्णस्तमेव सौम्यं रूपं दधार। अर्जुनः कथितवान्- भगवन्! भवत इमं सौम्यं मानवं स्वरूपमवलोक्याहं प्रकृतिस्थोऽभवम्। याचितवान् चतुर्भुजं रूपम्, दर्शितवान् मानुषं रूपम्। वस्तुतः शाश्वते प्रवेशकर्त्ता योगी शरीरेणेहोपविष्टोऽस्ति, बहिरुभाभ्यां कराभ्यां करोति कार्यं सहैव चान्तरात्मना जागृतो भूत्वा यतोऽपि यः भाविकं स्मरणं करोति, युगपत् सर्वत्र तस्य हृदयेन जागृतो भूत्वा प्रेरकरूपेण कार्यं करोति। हस्तस्तस्य कार्यस्य प्रतीकोऽस्ति, अयमेव चतुर्भुजः।

श्रीकृष्णः प्रावोचत्, अर्जुन! त्वदतिरिक्तमिदं मम रूपं द्रष्टुं न कोऽप्यपारयत् न च भविष्ये कश्चित् द्रष्टुं शक्ष्यति। तदा तु गीता मदर्थं निष्प्रयोजना। किन्तु नहि, योगेश्वरः कथयत्यस्त्येक उपायः। यः ममानन्यभक्तः, ममातिरिक्तमपरस्य कस्यापि स्मरणं न कृत्वा ममैव चिन्तकोऽस्ति, तस्यानन्यभक्तिद्वाराऽहं प्रत्यक्षं दर्शनाय, (यथा त्वं दृष्टवानसि) तत्त्वतः ज्ञानाय, प्रवेशकरणाय चापि सुलभोऽहम्। अर्थादासीदर्जुनोऽनन्य भक्तः। भक्तेः परिमार्जितं रूपमस्त्यनुरागः, इष्टानुरूपं सुरतम्। '**मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।**'-अनुरागविहीनः पुरुषः स्वेष्टं कदाऽपि न प्राप्तवान् न च लप्स्यते। नास्त्यनुरागश्चेत्तर्हि कश्चिल्लक्ष्यमितं योगं विदधीत्, जपेत्, तपेत्, ददेच्च सो न मिलति। अतः इष्टानुरूपं रागः अथवा अनन्यभक्तिश्च नितान्तमनिवार्या।

अन्ते श्रीकृष्णः प्रोवाच-अर्जुन! मद्द्वारा निर्दिष्टं कर्म विधेहि, ममानन्य भक्तो भूत्वा, मम शरणागतः सन् किन्तु सङ्गदोषात् पृथग् भूय। सङ्गदोषे कर्मेदं भवितुमेव न शक्नोति। अतः सङ्गदोषः कर्मण्यस्मिन् बाधकोऽस्ति। यो वैरभाव-विहीनः स एव मामासादयति। यदा नास्ति सङ्गदोषः, मां विहाय नास्ति कश्चिदिष्टः, वैरस्य मानसिक सङ्कल्पोऽपि न वर्त्तते तदा युद्धं कीदृशम्? बहिर्जगति वाद-विवादाः भवन्तः दृश्यन्ते किन्तु विजयो जेतृभ्योऽपि न मिलति। दुर्जयः संसाररूपी शत्रवे असङ्गतारूपीशस्त्रेण छित्वा परमे प्रवेशप्राप्तिरेव वास्तविकः विजयोऽस्ति, यदनु पराजयो नास्ति।

अस्मिन्नध्याये कृष्णोऽर्जुनाय दिव्यदृष्टिं ददौ, पुनः विश्वरूपमदर्शयत्। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैका- दशोऽध्यायः।।११।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते 'यथार्थगीता' भाष्ये 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैका-दशोऽध्यायः।।११।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ द्वादशोऽध्यायः

एकादशाध्यायस्यावसाने योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन भूयोभूयः सबलं समुद्घोषितं यदर्जुन! अल्पकालात्पूर्वं त्वया यन्मम विराटं स्वरूपमवलोकितम्, तत्स्वरूपं त्वत्तोऽतिरिक्तं न केनाऽपि निरीक्षितं भविष्येऽपि न कोऽपि द्रक्ष्यति। अहं न तपसा, न यज्ञेन, न दानेन च द्रष्टुं सुलभोऽस्मि, किन्त्वनन्यभक्तिमाध्यमेन अर्थाद् मदतिरिक्तं कुत्राऽपि श्रद्धा न स्खलेत्, निरन्तरं स्रवत्तैलधारासन्निभं मम चिन्तनद्वारेण साध्वनेन प्रकारेण यथा त्वमवलोकितवान्, अहं प्रत्यक्षदर्शनाय प्रत्यक्षमवबोधाय प्रवेशाय च सुलभोऽस्मि। अतोऽर्जुन अनवरतं मम चिन्तनं विधेहि, भक्तो भव। अध्यायस्यान्ते तेनोक्तं यदर्जुन! ममद्वारेण निर्धारितं कर्म सम्पादय। "**मत् परमः**" अपितु मयि परायणो भूत्वा मामेव चिन्तय। अनन्य-भक्तिरेव लक्ष्यप्राप्तेः साधनमस्ति। एवं स्थितौ अर्जुनस्य प्रश्नः स्वाभाविक आसीत् यत् येऽव्यक्तमक्षरमुपासते, ये च सगुणं नामरूपसहितं भवन्तमुपासते, इत्युभयप्रकारकोपासक मध्यतः क उपासकः श्रेष्ठः?

अत्र अर्जुनः प्रश्नमिमं तृतीये वारे प्रस्तौति। तृतीयाध्यायेऽपि पार्थो कथितवानासीत् , यद् भगवन् ! यदि निष्कामकर्मयोगापेक्षया भवते सांख्ययोग एव श्रेयस्करोऽस्ति, तर्हि भवान् मां भयङ्करे कर्मणि किमर्थं नियोजयति? अस्य प्रश्नस्य समाधाने श्रीकृष्णेनोक्तमासीत्, अर्जुन! निष्कामकर्मपथः प्रियो भवेदथवा ज्ञानपथः प्रियो भवेत्, उभाभ्यां दृष्टिभ्यां तु कर्मविधानस्य प्राशस्त्यं प्रमुखमस्ति।एवं सत्यपि य इन्द्रियाणि हठपूर्वकं निरुद्ध्य मनसा विषयस्य स्मरणं करोति स दम्भाचरणोऽस्ति, ज्ञानी नास्ति, अतोऽर्जुन त्वं कर्म कुरु। कीदृशं कर्म करणीयम् ? तर्हि '**नियतं कुरु कर्म त्वम्**'- निर्धारितं कर्म

विधेहि। निर्धारितं कर्म किमस्ति? तदोक्तं यज्ञस्य प्रक्रियैवैकमात्रं कर्मास्ति। यज्ञस्य विधिं वर्णितवान्, आराधना चिन्तनस्य यो विधिविशेषोऽस्ति, परमे परमात्मनि प्रवेशप्रदायिनीप्रक्रियाऽस्ति। यदा निष्कामकर्ममार्गे ज्ञानमार्गे चोभयत्र कर्मविधानमस्ति, क्रिया त्वेकैव, तदा तु मार्गद्वये कीदृशोऽन्तरः? भक्तः कर्माणि समर्प्येष्टाश्रितो भूत्वा यज्ञार्थं कर्मणि प्रवर्तते, अपरस्तु सांख्ययोगी स्वशक्तिं सन्धाय (स्वबले) तस्मिन्नेव कर्मणि प्रवृत्तो भवति, पूर्ण श्रमं करोति।

पञ्चमाऽध्याये अर्जुनः पुनरप्राक्षीत् – भगवन्! कदाचित् सांख्यमाध्यमेन कर्मविधानस्य प्रशंसां करोति, कदाचित्तु समर्पणमाध्यमेन निष्कामकर्मयोगं प्रशंसति– इत्युभयोर्मध्ये कोऽस्ति श्रेष्ठः? इयत् यावत् अर्जुनो ज्ञातवान् आसीत् यत् कर्मोभयदृष्ट्या करणीयमस्ति, पुनरपि उभयोर्मध्यतः श्रेष्ठं मार्गं चेतुं समीहते। श्रीकृष्णः समवोचत् – अर्जुन! उभाभ्यां दृष्ट्या कर्मणि प्रवृत्तिं कामयमाना मामेव प्राप्नुवन्ति, किन्तु सांख्यमार्गापेक्षया निष्कामकर्ममार्गं श्रेष्ठमस्ति। निष्काम–कर्मयोगानुष्ठानं विना न कोऽपि भवति योगी, न च ज्ञानी। सांख्ययोगस्तु दुष्करोऽस्ति, तस्मिन्नधिकं काठिन्यं वर्तते।

अत्र तृतीयवारेऽप्यर्जुनो अमुमेव प्रश्नं प्रास्तौत्, यद् भगवन् ! भवत्यनन्य–भक्त्या संलग्नेष्वव्यक्ताक्षरोपासनायां (सांख्यमार्गेण) संलग्ना ये सन्ति तयोरुभयोर्मध्ये कः उत्तमः?

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

'एवम्' अर्थादनेन प्रकारेण साम्प्रतमेव यो विधिरुक्तो भवता, साध्वनेन विधिनानन्यभक्त्या भवच्छरणं गृहीत्वा भवति निरन्तरं संलग्नाः सम्यग् रूपेण भवन्तमुपासते, अपरे च भवच्छरणं नाङ्गीकृत्य स्वतन्त्ररूपेण स्वशक्ति–मनुसृत्याक्षयमव्यक्तं स्वरूपं ये भजन्ति, यस्मिन् भजने भवति भवतः स्थितिः, इत्युभयप्रकारयोर्भक्तयोरधिकोत्तमयोगवेत्ता कोऽस्ति? अत उपरि योगेश्वरः कृष्णः प्रभाषते–

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अर्जुन! मनो मयि कृतैकाग्रो निरन्तरं मयि लीना ये भक्तजनाः परमेण सम्बन्धकर्त्तारः श्रेष्ठश्रद्धयायुक्ता मामुपासते ते योगीस्वपि मम प्रियाः सन्ति, अत्युत्तमाः योगिनो मे मान्याः सन्ति।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

ये पुरुषाः इन्द्रियसमुदायं सम्यग् रूपेण संयतं कृत्वा, मनसो बुद्धेश्च चिन्तनादत्यन्तं परमम्, सर्वव्यापिनम्, अकथनीयस्वरूपम्, सदैकरसं नित्यम्, अचलम्, अव्यक्तम्, आकाररहितम्, अविनाशिनं ब्रह्मोपासते, समस्त जीवानां हितेषु रताः सन्तः सर्वेषु परमात्मभावमनुभवन्तो योगिनो मामेव प्राप्ताः भवन्ति। ब्रह्मण उपर्युक्तविशेषणं मत्तः पृथग् नास्ति; किन्तु–

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

तस्मिन्नव्यक्तं परमात्मान्यासक्तचेतसां पुरुषाणां साधने विशेषक्लेशोऽस्ति, कुतोहि देहाभिमानिभिरव्यक्तप्राप्तिः क्लेशेन सम्भाव्यते। यावत् देहाभिमानस्तिष्ठति, तावदव्यक्तस्य प्राप्तिर्बहुदुष्करा भवति।

योगेश्वरः श्रीकृष्णः सद्गुरुरासीत् । अव्यक्तपरमात्मतत्त्वं तस्मिन् व्यक्तमासीत्। स कथयति यन्महापुरुषस्य शरणमनङ्गीकृत्य यः साधकः स्वशक्तिं समवबोधयन्नग्रे सम्वर्धते यदहमस्यामवस्थायामस्याग्रे चलित्वा तामवस्थां प्राप्स्यामि, अहं स्वकीयमेवाव्यक्तं शरीरं प्राप्तो भविष्यामि, तन्मदीयमेव रूपं भविष्यति, अहं तदेवास्मि– एवं प्रकारेण चिन्तयन् प्राप्तेर्प्रतीक्षामकुर्वन् स्वशरीरमेव

'सोऽहम्' कथयितुमारभते। अस्मिन् मार्गे सर्वाधिकेयं बाधा विद्यते। स 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' इत्यत्रैवाटित्वा भ्रमित्वा स्थिरो भवति। किन्तु यः मच्छरणमुपलभ्य साधनायां प्रवर्तते स–

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

योमयि परायणो भूत्वा सम्पूर्ण कर्माणि अर्थादाराधनां मयि समर्प्यानन्य–भावेन योगेनार्थात् आराधनाप्रक्रियामाध्यमेन निरन्तरं ध्यायन् भजते–

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

केवलं मयि समर्पितचित्तानां तेषां भक्तानामहं मृत्युसंसारात् शीघ्रमेवोद्धारकर्त्ता भवामि। एवं प्रकारेण चित्तार्पणस्य प्रेरणायां विधौ च योगेश्वरः प्रकाशं प्रसारयति–

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

अतएवार्जुन! त्वं मयि मनः नियोजय, मयि बुद्धिं च संयोजय। अत उपरान्तं त्वं मय्येव निवासं करिष्यसि, नात्र मनागपि सन्देहः। मनः बुद्धिञ्च न योक्तुं शक्नुयाः, तदा (अर्जुनः पूर्वमुक्तवानासीत् यत् मनस अवरोधनं वायोर्वेगवत् दुष्करं मन्ये) अत उपरि योगेश्वरः प्रतिपादयति–

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।९।।

यदि त्वं मनो मयि निश्चलरूपेण योक्तुं नास्ति समर्थः, तदा अर्जुन! योगाभ्यासेनद्वारा मां प्राप्तं कर्तुमिच्छां विधेहि। (यत्रापि चित्तो धावेत् ततः समाकर्ष्य तमाराधनायां, चिन्तनक्रियायां विनियोजनस्य नामाभ्यासोऽस्ति।) यदीदमपि कर्त्तुं न पारयेः–

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

यदि त्वमभ्यासेऽपि समर्थो नासि, तदा केवलं मदर्थं कर्म कुरु अर्थात् आराधनाविधाने तत्परो भव। अनेन प्रकारेण ममप्राप्त्यर्थं कर्माणि कुर्वन् त्वं ममप्राप्तिरूपां सिद्धिमेव प्राप्स्यसि, अर्थादभ्यासेनापि न पार प्राप्तिस्तदा साधनापथे संलग्न एव भव।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।

यदीदमपि कर्त्तुमसमर्थोऽसि, तर्हि सम्पूर्ण कर्मफलं त्यक्त्वा, अर्थात् लाभालाभयोश्चिन्तामुन्मुच्य मद्योगस्याश्रितो भूत्वा अर्थात् समर्पणेन सहात्मवतः महापुरुषस्य शरणं व्रज। तेन प्रेरितो भूत्वा कर्म स्वतः भवितुं लगिष्यति। समर्पणेन साकं कर्मफलत्यागस्य महत्वं वर्णयन् कथयति श्रीकृष्णः-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

केवलं चित्तस्य निरोधनस्याभ्यासात् ज्ञानमार्गेण कर्मणि प्रवृत्तिः श्रेष्ठाऽस्ति। ज्ञानमार्गमाध्यमेन कर्मणः कार्यरूप प्रदानापेक्षया ध्यानं श्रेष्ठमस्ति, कुतोहि ध्याने सदेष्टः सन्तिष्ठते। ध्यानादपि समस्तकर्मणां फलत्यागः परमोत्तमः, यतो हीष्टं प्रति समर्पणेन सह योगोपरि दृष्टिं धारयन् कर्मफलत्यागेन तस्य साधकस्य योगक्षेमयोर्दायित्वमिष्टस्य सम्भवति। अतएवोक्तत्यागेन सः तत्कालमेव परमशान्तिं समासादयति।

इदानीं यावत् योगेश्वरः श्रीकृष्णः समुपदिष्टवान् यदव्यक्तोपासनां कर्तृणां ज्ञानमार्गीभ्यः समर्पणेन साकं कर्मकर्त्ता निष्कामकर्मयोगी वरिष्ठः। उभावप्येकमेव कर्म कुरुतः, किन्तु ज्ञानमार्गीणः पथि व्यवधानाधिक्यमस्ति। तस्य लाभालाभयोर्दायित्वं साधकोपर्येवावलम्बते, यदा तु समर्पितभक्तस्य लाभालाभयोर्दायित्वमिष्टोपरि भवति निर्भरम् । अतएव स कर्मफलत्यागद्वारा शीघ्रमेव शान्तिं संलभते। साम्प्रतं शान्तिप्राप्तस्य पुरुषस्य लक्षणं ब्रवीति योगेश्वरः-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

अनेन प्रकारेण शान्तिं प्राप्तो यः पुरुषः सर्वभूतेषु द्वेषभावविवर्जितः, सर्वस्य जीवसमूहस्य प्रेमी, कारणरहितः दयावानस्ति, ममतामुक्तः, अहङ्कार-शून्यः, सुखदुःखयोर्प्राप्तौ समः क्षमाशीलश्च भवति–

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

यो निरन्तरं योगस्य पराकाष्ठया संयुक्तोऽस्ति, लाभेहानौ च सन्तुष्टो वर्त्तते तथा मनसासहितमिन्द्रियं वशमानीय शरीरञ्च दृढनिश्चयोऽस्ति, मय्यर्पितमनाः बुद्धिश्च स भक्तः मे प्रियः।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

यस्मात् कोऽपि जीव उद्वेगं नहि प्राप्नोति, यः स्वयमपि न कस्मादपि जीवात् चेखिद्यते, हर्षसन्तापभयादि समस्तविक्षोभेभ्यः मुक्तोऽस्ति, स भक्तो मे बहुप्रियः।

साधकानां कृते श्लोकोऽयमतीवोपयोगार्हः। तैः साधकैरुक्तविधिना वर्त्तितव्यम्, यत्तेषां व्यवहारेण कस्यापि प्राणिनः जीवस्य वा मानसे नोत्पद्येत् क्लेशः। एवमाचरणं साधकः कर्त्तुं शक्नोति, किन्त्वितरे जनाः नेत्थमाचरिष्यन्ति। ते तु सन्ति संसारिणः, ते त्वग्निं वमिष्यन्ति। किमपि कथयिष्यन्ति किन्तु साधनापथिकेन स्वहृदये तेषां कटुव्यवहारकर्त्तृणां विषयेऽपि मनसि उद्विग्नेन न भवितव्यम्, चिन्तने ध्यानं संलग्नं भवेत्, क्रमविच्छेदो न भवेत् । उदाहरणार्थं भवति राजमार्गोपरि नियमानुसारेण वामभागे चलतिः सति, कश्चित् पीतमदिरः समायाति समक्षं ततः स्वसुरक्षा भवतो दायित्वमस्ति।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

यः पुरुषः निवृत्ततर्षः सर्वथा पूतोऽस्ति, 'दक्षः' अर्थात् आराधनायाः विशेषज्ञोऽस्ति (एवं नहि चोरयति, तत्र दक्षोऽस्ति। श्रीकृष्णानुसारेण कर्म

एकमेवास्ति नियतं कर्म–आराधना चिन्तनम् तस्मिन् दक्षता) यो वादीप्रतिवादीभ्यां पृथगस्ति, दुःखानुन्मुक्तोऽस्ति, सर्वारम्भान् त्यक्तवान् स त्यागी मम बहुप्रियोऽस्ति। करणाय कापि क्रिया तद्द्वारारम्भणाय न किञ्चिदवशिष्यते।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

यो न कदापि हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कामयते, यः शुभाशुभ समस्त कर्मणां फलस्यास्ति त्यागी, यत्र कोऽपि शुभो नास्ति पृथगशुभोऽपि न शेषोऽस्ति, भक्तेरेतत् पराकाष्ठायुक्तः स पुरुषः मम बहुप्रियोऽस्ति।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।

यः पुरुषः शत्रौ मित्रे च, माने तथापमाने च समोऽस्ति, यस्यान्तःकरणस्य वृत्तयः सन्ति सर्वथा शान्ताः, यः शीते तापे च सुखदुःखादिद्वन्द्वे सम आसक्तिरहितश्चास्ति तथा–

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

यः निन्दां स्तुतिञ्च समानं मन्यते, मननशीलतायाश्चरमसीमां सम्प्राप्य यस्य मनसासहितमिन्द्रियमण्डलं शान्तं जातं वर्तते,येनापि केन प्रकारेण शरीरस्य निर्वाहे सदैव सन्तुष्टः, यः स्वनिवासस्थाने न मनोयोगेन निवसति प्रत्युत् ममतारहितोऽस्ति, भक्तेः पराकाष्ठां सम्प्राप्तः स स्थिरबुद्धियुक्तः पुरुषोममाधिक–प्रियः।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तो स्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

ये जनाः मयिपरायणाः सन्तो हार्दिक श्रद्धयायुतः उपर्युक्तामिमां धर्ममयी सुधां सम्यक् सेवन्ते ते भक्ताः ममातिशयप्रियाः।

निष्कर्षः–

गताध्यायस्यान्ते योगेश्वरेण कृष्णेनोदीरितमासीत् यदर्जुन! त्वदतिरिक्तं मां न कश्चित् प्राप्तवान् न च प्राप्स्यति, यथा त्वं दृष्टवान्। किन्तु यः कोऽप्यनन्यभक्त्या सानुरागं मां भजति, स त्वादृक्ष एव मां द्रष्टुं शक्ष्यति, तत्त्वतः मां ज्ञास्यति, मयि च प्रवेशं लप्स्यते। अर्थात् परमात्मा ईदृशी सत्ता अस्ति यदुपलब्धिः सम्भवा। अतोऽर्जुन! भक्तो भव।

अर्जुनोऽस्मिन्नध्याये प्रश्नं कृतवानासीत् यद् भगवन्! अनन्यभावेन ये भवतश्चिन्तनं कुर्वन्ति, अपरे च येऽक्षरमव्यक्तमुपासते, तयोः कः उत्तम–योगवेत्तास्ति? योगेश्वरः कृष्ण उत्तरितवान्, यदुभौ मां प्राप्तुमर्हतः, कुतोहि अहमव्यक्तस्वरूपोऽस्मि। किन्तु य इन्द्रियाणि वशमानीय मनः सर्वतः समाकृष्याव्यक्ते परमात्मनि सन्त्यासक्ताः, तेषां पथि क्लेश विशेषो वर्त्तते। यावद्देहस्याभासोऽस्ति तावदव्यक्तस्वरूपस्य प्राप्तिः दुःखपूर्णा वर्त्तते, यतोहि अव्यक्तस्वरूपं तु चित्तनिरोधानन्तरं विलयकालमेव लप्स्यते। तस्याः प्राप्तेः पूर्वमेव तस्य साधकस्य शरीरमेव मध्ये भवति बाधकम्। 'अहमस्मि अहमस्मि' 'प्राप्तिर्मे लक्ष्यम्', इति वारं–वारं कथयन् स्वशरीरस्य सम्बन्धं स्मारं–स्मारं लक्ष्यात् परावृतो भवति। तस्य स्खलनस्याधिका सम्भावनास्ति। अतोऽर्जुन! त्वं सम्पूर्णं कर्मजातं मयि समर्पय अनन्यभक्त्या मम चिन्तनं विधेहि। ये मम परायणाः भक्तजनाः सन्ति, ते सकलं कर्मजातं मयि समर्प्य मानवशरीरधारिणं सगुणयोगीरूपिणं मम ध्यानेन तैलधारावत् निरन्तरं चिन्तनं कुर्वन्ति, तेषां संसारसागरात् शीघ्रमेवोद्धारकर्त्ताहं भवामि। अतः भक्तिमार्गः श्रेष्ठः।

अर्जुन! मयि मनो निधेहि। मनो न लगेत् तदापि लग्नस्याभ्यासं कुरु। यत्रापि कुत्रचित् मनः पर्यटेत् ततः समाकृष्य निरोधय। एतदपि कर्त्तुमसमर्थश्चेत्त्वं तदा कर्म कुरु। कर्म एकैवास्ति यज्ञार्थं कर्म। त्वं कार्यं कर्म कुर्वन् भवापरं न किमपि कुरु। तावदेव कुरु, पारं मिलेद्वा न मिलेत्। यदि तदापि कर्त्तुमसमर्थोऽसि तदा स्थितप्रज्ञस्यात्मवत्तत्त्वज्ञस्य महापुरुषस्य शरणं गत्वा सम्पूर्णकर्मफल त्यागं विधेहि। एवं कर्मत्यागात् त्वं परमशान्तिं लप्स्यसे।

तत्पश्चात् परमशान्तिंप्राप्तस्य भक्तस्य लक्षणं वर्णयन् योगेश्वरः कृष्णः

न्यगदीत्–ये सम्पूर्णभूतेषु द्वेषभावविरहिताः, करुणायुक्ताः, दयालवः, ममताहङ्काराभ्यां विरहिताः, ते भक्ताः मम बहुप्रियाः सन्ति। ये ध्यानयोगे निरन्तरं तत्पराः आत्मज्ञानिनश्चात्मनिस्थिताः वर्त्तन्ते, ते भक्ताः ममात्यधिक प्रियाः सन्ति। यद्द्वारेण न कश्चिदुद्विज्यते, स्वयं च न केनापि खिद्यते एवंभक्तो–ऽधिकाधिक प्रियः। यः शुद्धोऽस्ति, दक्षोऽस्ति, व्यथाविरतोऽस्ति, सर्वारम्भान् परित्यज्य यः परमं पदं लेभे, एतादृशः भक्तः मे नितान्तप्रियः। सम्पूर्ण कामनानां त्यागकर्त्ता शुभाशुभफलस्य चिन्ताविहीनो भक्तः मे प्रियः। यो निन्दास्तुतौ समानः मौनश्चास्ति, मनसा सह यस्येन्द्रियदलः शान्तः मौनश्च जातः, यो जीवन–निर्वाहे सन्तुष्टः, आवासस्थाने ममतारहितोऽस्ति, देहप्रसाधने नास्ति यस्यासक्तिः, एतादृशः स्थितप्रज्ञः भक्तियुतः पुरुषः मम प्रियः।

अनेन प्रकारेणैकादशश्लोकत एकोनविंशतिश्लोकं यावत् श्रीकृष्णः शान्तिप्राप्तस्य योगयुक्तस्य भक्तस्य जीवनोपरि प्रकाशमकरोत् , यः साधकेभ्यः परमोपादेयः। अन्ततो निर्णयं ददानः श्रीकृष्ण उक्तवान् – अर्जुन ! ये अभवन्मयि परायणा अनन्यश्रद्धयायुताः पुरुषा उक्तप्रकारेण धर्ममयं पीयूषं निष्कामभावेन सम्यक् प्रकारेणाचरणे प्रयुज्यन्ते, ते भक्ताः ममातिप्रियाः। अतः समर्पणेन साकं कर्मणि प्रवृत्तिः श्रेयस्करी, कुतोहि तस्य साधकस्य लाभालाभयोः सर्वं दायित्वमिष्टः सद्गुरुः स्वस्कन्धोपरि आदधाति। अत्र श्रीकृष्णः स्वरूपस्थ महापुरुषस्य लक्षणं वर्णितवान् तथा तेषां शरणगमनमत्यावश्यकं वदन् सन् स्वशरणमपि समागमनाय तेषां महापुरुषाणां समकक्षमेवात्मानं घोषितवान् । श्रीकृष्ण एकः योगी महात्मा चासीत् । अस्मिन्नध्याये भक्तेः श्रेष्ठता वर्णिता अतोऽध्यायस्यास्य नामकरणं 'भक्तियोगः' सर्वथोचितम् ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते 'यथार्थगीता' भाष्ये 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

गीतायाः प्रारम्भकाले सञ्जयं प्रति धृतराष्ट्रस्यासीत् प्रश्नः, सञ्जय! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युद्धेच्छवः समुपस्थिताः पाण्डुपुत्रास्तथा मामकाः दुर्योधनादयः किं कृतवन्तः? इदानीं यावन्न सूचितं यत्तत्क्षेत्रं क्व स्थितं विद्यते? किन्तु येन महापुरुषेण यस्मिन् क्षेत्रे युद्धं वर्णितम्, स्वयमेव प्रस्तुताध्याये तस्य क्षेत्रस्यासौ निर्णयं ददाति, यदिदं क्षेत्रं वस्तुतो विद्यते क्व?

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

कौन्तेय! इदं शरीरमेव क्षेत्रमस्ति। इदं रहस्यं यः सम्यक् प्रकारेण जानाति स क्षेत्रज्ञः समुच्यते। स क्षेत्रज्ञस्तस्मिन्नास्ति निबद्धः प्रत्युत् तस्य मात्र सञ्चालकोऽस्ति। एवं तत्तत्त्वस्यानुशीलनकर्त्तृभिर्महापुरुषैः प्रत्यपादि।

शरीरन्त्वेकमेवास्मिन् धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रे द्वे क्षेत्रे कथं सम्भवे? वस्तुतः अस्मिनेकस्मिन्नेव शरीरस्यान्तरालेऽन्तःकरणस्य द्वे प्रवृत्ती पुरातन्यौ स्तः, एकातु परमधर्मे परमात्मनि प्रवेशदायिका पुण्यमयी प्रवृत्तिर्दैवीसम्पदस्ति, अपरा च आसुरीसम्पद्, दूषितदृष्टिकोणेन यस्याः गठनं भवति, या नश्वरे संसारे विश्वासं दापयति। यदा आसुरीसम्पदः बाहुल्यं भवति तदेदं शरीरं कुरुक्षेत्रायते, अस्य शरीरस्य चान्तराले यदा दैवीसम्पदः भवति बाहुल्यं तदेदं शरीरं धर्मक्षेत्रं समुच्यते। अयमुत्थानपतनं निरन्तरं विद्यमानं विद्यते, किन्तु तत्त्वदर्शिनो महापुरुषस्य सान्निध्येन यदा कश्चिदनन्यभक्तिद्वाराराधनायां प्रवर्तते तदा द्वयोः प्रवृत्त्योर्मध्ये

निर्णायकयुद्धस्य सूत्रपातः सञ्जायते। क्रमशो दैवीसम्पदुत्थानमासुरीसम्पदः शमनं सम्भवति। आसुरीसम्पदः सर्वथा शमने जाते सति तदुत्तरं परमदेवस्य दिग्दर्शनस्यावस्था समायाति। दर्शनेन सहैव दैवीसम्पदः आवश्यकता समाप्ता भवति। अतः साऽपि दैवीसम्पद् परमात्मनि स्वतो विलीयते। भजनस्यकर्ता पुरुषः परमात्मनि प्रवेशं लभते। एकादशेऽध्यायेऽर्जुनोऽपश्यत् कौरवपक्षानन्तरं पाण्डवपक्षीया अपि योद्धारः योगेश्वरे विलीनाः भवन्ति। अस्य विलयानन्तरं पुरुषस्य यत्स्वरूपं तदेव क्षेत्रज्ञः ज्ञेयः। अग्रे पश्यन्तु—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

अर्जुन! त्वं सर्वेषु क्षेत्रेषु मामेव क्षेत्रज्ञं विद्धि अर्थादहमेव क्षेत्रज्ञोऽस्मि। 'य इदं क्षेत्रं जानाति स क्षेत्रज्ञोऽस्ति' इत्थं तस्य साक्षात्ज्ञातारो महापुरुषाः वर्णयन्ति। श्रीकृष्णश्चापि कथयति, अहमपि क्षेत्रज्ञोऽस्मि अर्थात् श्रीकृष्णोऽप्येकः योगेश्वर एवासीत्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरर्थात् विकारसहित प्रकृतिपुरुषयोस्तत्त्वतोऽवबोधनं ज्ञानमस्ति— एवं मे सम्मतिरर्थात् साक्षात्कारसहितस्यास्य बोधस्य नाम ज्ञानमस्ति, वृथा वाद-विवादस्य नाम ज्ञानं नास्ति।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।३।।

तत्क्षेत्रं यादृशमस्ति तथा च यत् विकारयुक्तमस्ति तथा यस्मात् कारणात् सम्भूतं तथा तत्क्षेत्रज्ञोऽपि योऽस्ति यादृशश्च प्रभावसम्पन्नोऽस्ति, तत्सर्वं मत्तः संक्षेपतः शृणु। अर्थात् क्षेत्रं विकारयुक्तमस्ति, कस्माच्चित् कारणात् विकारयुक्तमभवत्, यदा तु क्षेत्रज्ञः प्रभाववदस्ति। अहमेव कथयामि नैतत्तथ्यमस्ति, ऋषयोऽपि कथयन्ति—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

एतत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरस्तित्वं ऋषिभिर्विविधप्रकारेण गीतमस्ति तथा नाना-प्रकारेण वेदानां सम्मत्या विभाजितं कृत्वापि वर्णितं विद्यते तथा विशेषरूपेण

कृतनिश्चयैः ब्रह्मसूत्रस्य वाक्यैरपि तदेव कथितमस्ति। अर्थात् वेदान्तः, महर्षिः, ब्रह्मसूत्रमहञ्चैकमेव तथ्यं वर्णयामि। श्रीकृष्णस्तदेव कथयति यत् सर्वैरुपर्युक्तै- र्कथितम्। किं तावच्छरीरं(क्षेत्र)इयदेवास्ति यावत् दृश्यते? अत उपरि कथयति कृष्णः-

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

अर्जुन! पञ्चमहाभूताः (क्षितिः, जलम्, पावकः, गगनम्, समीरः) अहङ्कारः, बुद्धिश्चित्तञ्च (चित्तस्य नाम न गृहीत्वा तदव्यक्त पराप्रकृतिः कथिता। अर्थात् मूलप्रकृतेरुपरि प्रकाशः प्रसारितः, यस्यां पराप्रकृतिरपि सम्मिलिताऽस्ति, उपर्युक्ताऽष्टधामूलप्रकृतयः सन्तिः) तथा दशेन्द्रियाण्यक्षिः, श्रोत्रं, घ्राणः, त्वक्, जिह्वा, हस्तौ, पादौ, उदरम्, उपस्थः, गुदाचैकं मनः। पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां च विषयाः रूपं, रसः, गन्धः, शब्दः, स्पर्शश्च सन्ति तथा-

इच्छाः द्वेष सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

इच्छा, द्वेषः, सुखम्, दुःखम्, सर्वस्य च समूहं स्थूलदेहस्येदं पिण्डम्, चेतनाधैर्यञ्च इत्थं विकारसहितमिदं क्षेत्रं संक्षेपतः वर्णितम्। संक्षेपत इदमेव क्षेत्रस्य स्वरूपमस्ति, यस्मिन् क्षेत्रे सदसदुप्तं बीजं संस्काररूपेणाङ्कुरति। शरीरमेव क्षेत्रमस्ति। शरीरान्तर्गतमुपादानभूतं किमस्ति वस्तु? तदा तु पूर्वोक्तानि पञ्चतत्त्वानि, दशेन्द्रियाण्येकं मनश्चेत्यादयः- यथा लक्षणमुपरि सङ्कलितम्। एतेषां सामूहिकः संघातः पिण्डः शरीरमस्ति, यावदिमे विकाराः स्थास्यन्ति तावदिमं पिण्डशरीरमपि वर्तिष्यते एतस्माद् यदिदं विकारैर्निर्मितमस्ति। साम्प्रतं तस्य क्षेत्रस्य स्वरूपं द्रष्टव्यम् यदस्मिन् क्षेत्रे लिप्तं न भवति प्रत्युततः निवृत्तमस्ति-

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

अर्जुन !मानापमानयोरभावः, दम्भाचरणस्याभावः, अहिंसा (अहिंसायाः अर्थः केवलमेतावद् न भवति यत् पिपीलिकामपि मा जहि। श्रीकृष्णेनोक्तं

स्वात्मानमधोगतौ मा प्रापय। आत्मन अधोगतेः कारणं हिंसाऽस्ति, आत्मन उत्थानं शुद्धा अहिंसा कथ्यते। एतादृशः पुरुषोऽन्यस्याप्यात्मानमुत्थापयितुमुन्मुखो भवति। अस्याः समारम्भः कस्मै जनायाऽपि खेदस्याप्रदानेन भवेत्येतदहिंसा) क्षमाभावः, मनसो वाण्याश्च सारल्यम्, आचार्योपासना अर्थात् श्रद्धाभक्तिभ्यां सहिता सद्गुरुसेवा, उपासना च तस्य गुरोः, पवित्रता, अन्तःकरणस्य चाञ्चल्यान्मुक्तिः, मनसासहितमिन्द्रियमाध्यमेन शरीरनिग्रहश्च, तथा च–

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

अस्य लोकस्य परलोकस्य च दृष्ट–श्रुत भोगेष्वनासक्तिः, अहन्ताया अभावः, जन्ममरणयोः, वृद्धावस्थायाः, रोगभोगयोः, दुःखदोषस्य मुहुर्मुहुश्चिन्तनम्,

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

पुत्रे, स्त्रियां, धने, गृहादौ चासक्तेरभावः, प्रियाप्रिययोः प्राप्तौ चित्ते सदा समतायाः स्थितिः,

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जन संसदि।।१०।।

मयि (श्रीकृष्ण एक आसीत् योगी, अर्थात् कृष्णवत् कस्मिन् महापुरुषे) अनन्ययोगेनार्थात् योगातिरिक्तं नान्यत् किमपि संस्मरणम्, अव्यभिचारिणी भक्तिः (इष्टातिरिक्तं नान्यस्य चिन्तनम्), एकान्तस्थानस्य सेवनं, मनुष्यसमूहे निवासस्यासक्तेरभावस्तथा–

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

आत्मन आधिपत्यवति ज्ञाने एकरसा स्थितिस्तत्त्वज्ञानस्य चार्थस्वरूपं परमात्मनः साक्षात्कार एतत् सर्वं ज्ञानमस्ति, इतः विपरीतं सर्वमज्ञानं कथितमस्ति।

तस्य परमतत्त्वपरमात्मनः साक्षात्कारेण सह प्राप्तव्यावबोधस्य नाम ज्ञानमस्ति। (चतुर्थाऽध्याये तेनोक्तं यत् यज्ञस्य पूर्तौ यज्ञः यमवशेषं त्यजति, तस्य ज्ञानामृतस्य पानकर्त्ता सनातने ब्रह्मणि प्रवेशं प्राप्नोति। अतः ब्रह्मणः साक्षात्कारेण सह प्राप्तमवबोधं ज्ञानमस्ति। अत्रापि तदेव कथ्यते यत् तत्त्वस्वरूप परमात्मनः साक्षात्कारस्य नाम ज्ञानमस्ति) अतो विपरीतं सर्वमज्ञानमस्ति। अमानित्वादि पूर्वोक्तानि लक्षणानि अस्य ज्ञानस्य पूरकानि सन्ति। अयं प्रश्नः परिपूर्णो जातः।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

अर्जुन! यत् ज्ञेयमस्ति तथा यत् ज्ञात्वा मरणधर्मा मनुष्योऽमृततत्त्वं लभते तज्ज्ञानं सम्यग् रूपेण वदिष्यामि। स आदिरहितं परमब्रह्म न सदसदपि च न कथ्यते, यतो हि यावत् तत् पृथगस्ति तावत् सदुच्यते यदा च मनुष्यस्तस्मिन् समाहितो जातः, तदा कः कं ब्रूयात्? एकएवावशिष्यते, अपरस्य भानं निवर्तते। एवं स्थितौ तद्ब्रह्म न सत् न चासत्, प्रत्युत् यः स्वयं सहजोऽस्ति तदेवास्ति।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

तद् ब्रह्म परितः पाणिपादवान्, सर्वतो नेत्रशीर्षयुतः, मुखपरीतस्तथा सर्वतः श्रोतवान् श्रोता चास्ति, कुतोहि तद्ब्रह्म जगद् व्याप्तं कृत्वा स्थितमस्ति।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

तद् ब्रह्मसर्वेषामिन्द्रियाणां विषयाणां ज्ञातास्ति, पुनरपि सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो रहितमस्ति। तद् ब्रह्मासक्तिरहिते सत्यपि, गुणैरतीते सत्यपि सर्वं धारयति पोषयति, सर्वान् गुणान् भुनक्ति चार्थात् एकमेकं कृत्वा सर्वान् गुणानात्मनि विलीनयति। यथा कृष्णेन कथितं यद् यज्ञानां तपसाञ्च भोक्ताहमस्मि। अन्ते सर्वेगुणाः मयि विलया भवन्ति।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

तद् ब्रह्म सर्वेषां जीवानां बहिरन्तश्च परिपूर्णमस्ति। चररूपेणाचररूपेण च तदेवास्ति। सूक्ष्मतया तन्न दृष्टिपथायते, अविज्ञेयमस्ति। मनस इन्द्रियेभ्यश्च परं वर्त्तते तथातिसमीपे, अतिदूरे च तदेवास्ति।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

अविभाज्यञ्च भूत्वा तत्सम्पूर्णचराचरभूतेषु पृथक्-पृथग्वत् प्रतीयते। स ज्ञातुमर्हः परमात्मा समस्तभूतानुत्पादयति, भरति, पोषयति तथान्ते संहरति च। अत्र वाह्याभ्यन्तरयोरुभयोः भावयोरुपरि सङ्केतः कृतो विद्यते। यथा- बहिर्जन्माभ्यन्तरे जागृतिः, बहिः पालनमाभ्यन्तरे योगक्षेमयोर्निर्वाहः, वाह्ये शरीरस्य परिवर्तनमाभ्यन्तरे सर्वस्य विलय अर्थात् जीवोत्पत्तेः कारणानां लयस्तेन लयेन सहात्मस्वरूपं प्राप्तं करोति। एतत्सर्वं तस्य ब्रह्मणो लक्षणानि।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

तज्ज्ञेयं ब्रह्म ज्योतिषामपि ज्योतिः, तमसोऽतिदूरं समुच्यते। तत् पूर्ण-ज्ञानस्वरूपमस्ति, पूर्णज्ञाता, ज्ञातुं योग्यं ज्ञानद्वारेणैव च प्राप्तुमर्हमस्ति। साक्षात्कारेण सह लब्धुमर्हस्यावबोधस्य नाम ज्ञानमस्ति। एवं भूतावबोधेनैव तस्य ब्रह्मणः ज्ञानं सुसम्भवम्। तद् ब्रह्म सर्वेषां हृदये स्थितमस्ति। तस्य निवासस्थानं हृदयमस्ति, अन्यत्रान्वेषेण तन्न मिलति। अतः हृदये ध्यानेन तथा योगाचरणेन चैव तद् ब्रह्मणः प्राप्तेर्विधानमस्ति।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

अर्जुन! अलमेतदेव क्षेत्रं, ज्ञानं तथा ज्ञेयस्य परमात्मनः स्वरूपं संक्षेपतो वर्णितम्। एतद् ज्ञात्वा मम भक्तः मम साक्षात् स्वरूपं प्राप्नोति।

इदानीं यावत् श्रीकृष्णो यस्य नाम क्षेत्रमुक्तवानासीत् तदेव प्रकृतिः, यं क्षेत्रज्ञं कथितवानासीत् तमिदानीं पुरुषशब्देन सङ्केतयति–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।१९।।

इमां प्रकृतिञ्च पुरुषमुभयमनादिं विद्धि, इत्थं सर्वे विकाराः त्रिगुणमयी प्रकृतितः समुत्पन्नाः जाताः, इति जानीहि।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

कार्यं करणञ्च (यस्य द्वारा कार्याणि क्रियन्ते विवेकवैराग्यादिस्तथाऽशुभ कर्मसम्पादने कामक्रोधादयः करणानि सन्ति) तान्युत्पादयितुं हेतुः प्रकृतिरेव कथ्यते, तथा चायं पुरुषः सुखदुःखानि भोक्तुं कारणं समुच्यते। प्रश्न उदेति किं स भोगं भुञ्जान एव स्थास्यत्युद्वेतः कदाप्यवकाशोऽपि मेलिष्यति? यदा प्रकृतिः पुरुषश्चोभयमनादीस्तः तदा कोऽप्युभाभ्यां कथं मुक्तो भविष्यति? अत उपरि कथयति कृष्णः–

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

प्रकृतेर्तन्मध्ये संस्थितः पुरुष एव प्रकृतित उत्पन्नान् गुणानां कार्यरूप पदार्थान् भुनक्ति, एतेषां गुणानाञ्च सङ्ग एवास्य जीवात्मनः सदसद्योनिषु जन्मग्रहणस्य कारणमस्ति। अस्मिन् कारणे अर्थात् प्रकृतेर्गुणानां सङ्गे समाप्ते सत्येव जन्ममृत्योः मुक्तिर्मिलति। साम्प्रतं तस्मिन् पुरुषे प्रकाशं वितनोति यत् स पुरुषः केन प्रकारेण प्रकृतिस्थो वर्तते?–

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

स पुरुष उपद्रष्टा, हृदयदेशे नितान्तसमीपस्थः, पाणिपादं मनसि च भवतः यावान् समीपोऽस्ति, ततोप्यधिकः समीपस्थो द्रष्टुःरूपे संस्थितोऽस्ति। तस्य

प्रकाशे भवान् सत्करोतु, असत्करोतु तेन तस्य नास्ति प्रयोजनम्। स साक्षीरूपेण विद्यमानोऽस्ति। साधनाया यथार्थक्रमस्य यदा ग्रहणे समायाते तदा पथिकः किञ्चिदुपरि स्थितो भवति, परमात्मानभिलक्ष्याग्रेसरोऽभवत् तदा द्रष्टुः पुरुषस्य क्रमः परिवर्तितो भवति, स '**अनुमन्ता**'– अनुमति प्रदानं कर्त्तुं प्रारभते, अनुभवं दातुं लगति। साधनाद्वारेण समीपञ्च प्राप्ते सति स एव पुरुषः '**भर्त्ता**' भूत्वा भरण–पोषणं कर्त्तुं यतते, यस्मिन् भवतो योगक्षेमस्यापि व्यवस्थां निवर्तयति। साधनायां जातायां सूक्ष्मायां स एव 'भोक्ता' भवति। '**भोक्तारं यज्ञ तपसाम्**'– यज्ञः, तपः यत्किञ्चित् सम्भवति, सर्वं स पुरुषः गृह्णाति। यदा ग्रहणं कृत्वा निवर्तते, तस्य पश्चादागतायां स्थितौ '**महेश्वरः**'– महदीश्वररूपे परिणतो भवति। स प्रकृतेः स्वामित्वमादधाति, किन्त्वद्यापि प्रकृतिर्जीविताऽस्ति तस्मादेव तस्याः स्वामित्वं जीवति। अस्मादप्युन्नतावस्थायां स एव पुरुषः '**परमात्मेति चाप्युक्तो**'– यदा परमेणसंयुक्तो भवति तदा परमात्मा प्रोच्यते। अनेन प्रकारेण शरीरे विद्यमानोऽप्ययं पुरुष आत्मनः 'परः' बोद्धव्यः, सर्वथाऽयं पुरुषः प्रकृति परतो वर्त्तते। अन्तरमेतावदस्ति यदयं प्रारम्भे द्रष्टारूपेणासीत्, क्रमशः शनैः–शनैर्जाते समुत्थाने परमस्य स्पर्शं कृत्वा परमात्मरूपेण परिणतो भवति।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

अनेन प्रकारेण पुरुषं सगुणां प्रकृतिञ्च यो मनुष्यः साक्षात्कारेण सह विदितं करोति, सः सर्वप्रकारेण निर्वाहयन्नपि पुनर्जन्म न प्राप्नोति, अर्थात्तस्य पुनर्जन्म न भवतीयमेव मुक्तिरस्ति।

इदानीं यावत् योगेश्वरः श्रीकृष्णो ब्रह्मप्रकृत्योः प्रत्यक्ष ज्ञानेन सह प्राप्तव्यां परमगतिमर्थात् तस्य पुनर्जन्मनो निवृत्तेरुपरि प्रकाशं प्रासारयत् साम्प्रतञ्चासौ तत् योगोपरि बलं ददाति, यस्य प्रक्रियाऽस्त्याराधना। कुतोह्यस्यकर्मणः कार्यरूपमददानः कोऽपि न प्राप्नोति।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

अर्जुन! तम् '**आत्मानम्**'– परमात्मानं केचन मनुष्यास्तु '**आत्मना**'–

स्वान्तरचिन्तनस्य ध्यानस्यद्वारेण '**आत्मनि**'–हृदयदेशे पश्यन्ति। केचन सांख्य-योगद्वारेण (अर्थात् स्वशक्तिं बुद्‌ध्वा तस्मिन् कर्मणि प्रवर्तन्ते) अन्ये च बहवस्तमिष्टं निष्कामकर्मयोगेन पश्यन्ति। ससमर्पणं तस्मिन्नियतकर्मणि भवन्ति प्रवृत्ताः। प्रस्तुतश्लोके मुख्यसाधनमस्ति ध्यानम्। तस्मिन् ध्याने प्रवर्तितुं सांख्ययोगस्य निष्कामकर्मयोगस्य च धारायुगलमस्ति।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

परन्त्वपरे ये साधनाज्ञानवञ्चिताः सन्ति, त उक्तप्रकारेणाजानानोऽपि '**अन्येभ्यः**'–अपरे ये तत्त्वज्ञाः महापुरुषाः सन्ति तेषां सान्निध्यात् श्रुत्वैवोपासते। ते श्रवणपरायणा अपि पुरुषाः मृत्युरूपं संसार-सागरं निःसन्देहं तरन्ति। अतः कुत्रापि न मिलेत् सफलता तदा सत्सङ्गः करणीयः।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

अर्जुन! यावन्मात्राणि स्थावरजङ्गमाख्यानि वस्तून्युत्पद्यन्ते, तानि सर्वाणि त्वं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः सङ्गादुत्पन्नानि बुध्यस्व। कदा भवति प्राप्तिः? अत उपरि कथयति कृष्णः–

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

यः पुरुषो विशेषरूपेण विनाशं प्राप्नुवत्सु चराचरसर्वेषु जीवेषु नाश-रहितं परमेश्वरं समभावेन संस्थितं पश्यति स एव यथार्थमवलोकयति। अर्थात् तस्याः प्रकृतेः विशेषरूपेण जाते विनष्टे सत्यपि स परमात्मस्वरूपोऽस्ति, अतपूर्वं नहि। अस्मिन्नेव प्रकरणे पूर्वमष्टाध्यायेऽपि स उक्तवानासीत्, '**भूतभावोद्भव-करो विसर्गः कर्मसंज्ञितः**'–भूतानां ये सदसद्भावास्तैः कृता या संस्कार-संरचना, तस्याः निर्मूलनमेव कर्मणः पराकाष्ठा कथ्यते। तदा तु कर्म परिपूर्णमस्ति। तदेवात्र विस्फोरयन् ब्रवीति यश्चराचरभूतान् विनश्यतः परमेश्वरञ्च समभावेन स्थितं पश्यति, स एव यथार्थमवलोकयति।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

कुतोहि स पुरुषः सर्वत्रसमभावेन संस्थितं परमेश्वरं समानं (यथाऽस्ति तथैव समानमेव) समवलोकयन्नात्मना स्वं न नाशयति। कुतोहि यथासीत् तथैव स ददर्श, अतएव स परमगतिं प्राप्नोति। प्राप्तवतः पुरुषस्य लक्षणं समुच्यते–

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

यः पुरुषः सर्वाणि कर्माणि सर्वप्रकारेण प्रकृत्याक्रियमाणं पश्यति अर्थात् यावत् प्रकृतिर्वर्तते तावत्कर्मणां भवनं पश्यति तथात्मानमकर्त्तारूपेण निरीक्षते, स एव यथार्थमवलोकयति।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।३०।।

यस्मिन् काले मनुष्यो भूतानां चित्र-विचित्रभावेष्वेकं परमात्मानं प्रवाहितं स्थितञ्च पश्यति तथा तेन परमात्मना परिपूर्णं भूतानां विस्तारं च निरीक्षते, तस्मिन् समये स ब्रह्मप्राप्तिं करोति। यस्मिन् क्षणे आगतेयं स्थितिस्तस्मिन्नेव क्षणे प्राप्नोति परमपदम्। इदं लक्षणं स्थितप्रज्ञमहापुरुषस्यास्ति।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

कौन्तेय! अनादित्वात् गुणातीतत्वादयमविनाशी परमात्मा शरीरस्थितोऽपि वस्तुतो न किञ्चित् करोति न कर्मभिर्लिप्तो भवति। कथम्?–

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

येन प्रकारेण सर्वत्र परिव्याप्तं नभः सूक्ष्मतया न क्वचिल्लिप्तो भवति, तेनैव प्रकारेण सर्वत्रदेहेस्थितः सन्नपि आत्मा गुणातीतत्वाद् देहस्य गुणैर्न लिप्तो भवति। अग्रे वदति कृष्णः–

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

अर्जुन! येन प्रकारेणैक एव सूर्यः सकलं ब्रह्माण्डं प्रकाशयति तथैव एकैवात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रं द्योतयति। अन्ते निर्णयं ददाति–

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

अनेन प्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्भेदम् तथा विकारसहित प्रकृतेः मोचनस्योपायं ये ज्ञानरूपैर्नेत्रैः दृष्टिगतं कुर्वन्ति, ते महात्मजनाः परब्रह्मपरमात्मनि प्रविशन्ति। अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरवलोकनस्य नेत्रस्य नाम ज्ञानमस्ति, ज्ञानं च साक्षात्कारस्य पर्यायोऽस्ति।

निष्कर्षः–

गीतायाः प्रारम्भे धर्मक्षेत्रकुरुक्षेत्रयोर्नाम तु प्रथमं गृहीतं, किन्तु तत् क्षेत्रद्वयं वस्तुतः कुत्र वर्तते– तयोः क्षेत्रयोः मूलस्थानं वक्तुमवशिष्टमासीत् यत् स्थानं शास्त्रकारः प्रस्तुताऽध्याये स्वयं सुस्पष्टं कृतवान्, कौन्तेय! इदं शरीरमेकं क्षेत्रमस्ति। य इदं तथ्यं जानाति स क्षेत्रज्ञोऽस्ति। स अस्मिन् क्षेत्रे न निबद्धः प्रत्युत् निर्लेपोऽस्ति, अस्यसञ्चालकोऽस्ति। अर्जुन! सम्पूर्ण क्षेत्रेष्वहमपिक्षेत्रज्ञोऽस्मि। अन्यैः महापुरुषैः साकं स्वयमतोलयम् तेन। स्पष्टमस्ति यत् श्रीकृष्णोऽपि समासीदेको योगी। यतोहि, यो जानाति स क्षेत्रज्ञ, इति महापुरुषाणामुक्तिः। अहमपि क्षेत्रज्ञोऽस्मि अर्थातपरमहापुरुषतुल्योऽहमप्यस्मि।

तेन यादृशं क्षेत्रमस्ति, यावद्विकारसंयुक्तोऽस्ति, क्षेत्रज्ञो यावान् प्रभाववानस्ति तदुपरि प्रकाशं प्रस्तारितवान्। अहमेव कथयामि नैतत् पर्याप्तम्, महर्षिभिरप्येतदेव कथितम्। वेदानां छन्दःस्वपि तदेव विभज्य दर्शायितम्। ब्रह्मसूत्रेऽपि तदेव मिलति।

शरीरम् (यत्क्षेत्रमस्ति) किमियदेवास्ति यत् परिमितं दृश्यते? अस्योत्पत्तिमनु येषां महान् सहयोगोऽस्ति तान् गणयन् वदति यदष्टधामूलप्रकृतिः, अव्यक्त–प्रकृतिः, दशेन्द्रियाणि मनश्चैकम्, इन्द्रियाणां पञ्चविषयाः, आशा, तृष्णा, वासना

चानेन प्रकारेणैतेषामुक्तविकाराणां सामूहिकं मिश्रणमिदं शरीरमस्ति। यावदिमे विकाराः स्थास्यन्ति तावच्छरीरमपि येनापि केनरूपेण स्थास्यत्येव। एतदेव क्षेत्रमस्ति, यस्मिन्नुप्तं सदसद्बीजं संस्काररूपेणाङ्कुरति। यस्तथ्यमिदं जानाति स क्षेत्रज्ञोऽस्ति। क्षेत्रज्ञस्य स्वरूपं वर्णयन्, ईश्वरीयगुणधर्मेषु प्रकाशं दत्तवान् तेनोक्तञ्च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्य प्रकाशकोऽस्ति।

तेनोक्तं साधनायाः पूर्तिकाले परमतत्त्वपरमात्मनः प्रत्यक्षीकरणमेव ज्ञानमस्ति। ज्ञानस्यार्थः साक्षात्कारो बोध्यः। एतदतिरिक्तं सर्वमज्ञानमस्ति। ज्ञातुं योग्यं वस्तुपरात्परब्रह्मैवास्ति। तत् नासत् सच्च। इति द्वाभ्यां परमस्ति। तत् ज्ञातुं जनाः हृदये ध्यायन्ति, बहिः प्रतिमां संस्थाप्य नहि। बहवः जनाः सांख्य-माध्यमेन ध्यायन्ति तर्हि शेषनिष्कामकर्मयोगस्य, समर्पणेन सह तस्य प्राप्तेर्हेतोरुक्त निर्धारित कर्मण आराधनाया आचरणं कुर्वन्ति। ये तद्विधिं न जानन्ति, ते जनास्तत्त्वस्थितेभ्यो महापुरुषेभ्यः श्रुत्वाचरणं कुर्वन्ति। तेऽपि परमकल्याणं प्राप्ताः भवन्ति। अतो न किञ्चित् परमात्मतत्त्वं बुद्धौ समागच्छेत् तदा तेन महापुरुषस्य सत्सङ्गः करणीयः।

स्थितप्रज्ञमहापुरुषाणां लक्षणं वर्णयन् योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽगादीत् यत् यथाकाशं सर्वत्र समं वर्तमानं सदपि निर्लेपं वर्त्तते, यथा सूर्यः सर्वत्र प्रकाशं कुर्वन्नस्ति निर्लेपः, तेनैव प्रकारेण स्थितप्रज्ञः पुरुषः सर्वत्र समानभावेन स्थितमीश्वरं यथाऽस्ति तथैव द्रष्टुं सामर्थ्यवान् पुरुषः क्षेत्रादथवा प्रकृतितः सर्वथा निर्लेपोऽस्ति। अन्ततस्तेन निर्णयो दत्तः यत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानरूपनेत्रैः ज्ञानं कर्त्तुं सम्भवः। 'ज्ञान' यथा अतीतप्रसङ्गे वर्णितम्, तस्य परमात्मनः प्रत्यक्षदर्शनेन सहप्राप्तावबोधोऽस्ति। शास्त्राणि बहुरटित्वा पुनरावृत्तिर्नास्ति ज्ञानम्, प्रत्युत् स्वाध्यायात्तथा महापुरुषसकाशात् तत्कर्मबुद्ध्वा तस्मिन् कर्मणि प्रवृत्तो भूत्वा मनसासहितेन्द्रिय निरोधस्तस्य निरोधस्य चापि विलयकाले परमात्मनः दर्शनेन सहयानुभूतिर्भवति, तस्यानुभूतेर्नाम ज्ञानमस्ति। क्रियाऽनिवार्यास्ति। अस्मिन्नध्याये मुख्यतः क्षेत्रज्ञस्य विस्तरेण वर्णनमकारि। वस्तुतः क्षेत्रस्य स्वरूपं व्यापकमस्ति। शरीर इति कथनन्तु सरलमस्ति किन्तु शरीरस्य सम्बन्धः कियत् पर्यन्तमस्ति? तर्हि समस्त ब्रह्माण्डं मूलप्रकृतेः विस्तारमस्ति। अनन्तान्तरिक्षं यावत्

भवतच्छरीरस्य विस्तारमस्ति। तैरन्तरिक्षस्थ भूतिभिर्भवतो जीवनमूर्जस्वितमस्ति, तैर्विना भवान् क्षणमपि न जीवितुं शक्नोति। इदं दृश्यमानं भूमण्डलं, सकलं जगत्, देश-प्रदेशाः भवतश्चेदं दृश्यमानं शरीरं तस्याः प्रकृतेरेक अणुरपि नास्ति। अनेन प्रकारेण क्षेत्रस्यैवास्मिन्नध्याये सविस्तरं वर्णनमस्ति। अतः-

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नामत्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते 'यथार्थगीता' भाष्ये 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नामत्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अतीतानेकेष्वध्यायेषु योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन ज्ञानस्य स्वरूपं सरहस्यं सुस्पष्टमकारि। चतुर्थाध्यायस्योनविंशतितमेश्लोके (४/१९) तेनोदीरितम् यत् येन पुरुषेण ससम्पूर्णतातः कृतारम्भो नियतकर्मस्याचरणस्य क्रमशः शनैः-शनै-रुन्नयने प्राप्ते सति प्राज्यं सूक्ष्मत्वं प्रापितम्, येन कामनासङ्कल्पयोः सर्वथाऽभवदुपशमः, तदानीं स यज्ज्ञातुं कामयते तस्यानुभूतिः प्रत्यक्षायते, तस्यानुभूतेर्नामास्ति ज्ञानम्। त्रयोदशाध्याये ज्ञानस्य सविस्तरं परिभाषापल्लविता योगेश्वरेण "**अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**"-आत्मज्ञान-विधावेकरसा स्थितिः तत्त्वस्यार्थस्वरूपस्य च परमात्मनो दर्शनं प्रत्यक्षं ज्ञानं कथितं तेन। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः सरहस्यं भेदानुसन्धानमेव ज्ञानं समुच्यते। ज्ञानस्यार्थः शास्त्रार्थो नहि। शास्त्राणां कण्ठस्थीकरणमपि नाऽस्ति ज्ञानम्। अभ्यासस्य तामवस्थां ज्ञानं मन्यन्ते महापुरुषाः यत्र तत्तत्त्वं परिज्ञातं भवति। परमात्मनः साक्षात्कार-समकालं समासादितानुभूतिर्ज्ञानं कथ्यते, एतद्विपरीतं सर्वमज्ञानमस्ति।

एवं विधिना ज्ञानादि तत्त्वानामुपदेशे सम्यक् रूपेण कृते सत्यपि प्रस्तुत चतुर्दशाध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्णः प्रब्रवीति, अर्जुन! पूर्वोक्तेषु तेषु ज्ञानेषु सर्वोत्तमं यज्ज्ञानंतत्त्वां पुनः कथयिष्यामि। योगेश्वरः पूर्वोपदेशस्य पुनरावृत्तिं कर्त्तुमारभते, यतोहि "**शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय**"-सविधि हृदयङ्गमीकृतमपि शास्त्रं पुनर्पुनश्चिन्तनीयम्। इयदेव नहि, यथा-यथा भवान् साधनापथोपरि भविष्यत्यग्रेसरस्तथा-तथा नूतनानूतनाऽनुभूतयो ब्रह्मणा सम्प्राप्ताः सम्भविष्यन्ति। इदमवबोधनं सद्गुरुमहापुरुषा एव प्रयच्छन्ति। अतएव श्रीकृष्णः कथयति यदहं पुनः कथयिष्यामि।

सुरतिः (स्मृतिः) एतादृशं पटलमस्ति यदुपरि संस्काराणामङ्कनं निरन्तरं भवति। चेत् पथिकायेष्टे प्रवेशदायकमवबोधनं धूम्रायते, तदा तस्मिन् स्मृतिपटले प्रकृतिरङ्किंतायते याविनाशस्य प्रमुखं कारणमस्ति। अतएव पूर्तिपर्यन्तं साधकः स्वेष्टसम्बद्धं ज्ञानं पुनर्पुनरावृत्या सुसंरक्षेत्। अद्याऽस्ति स्मृतिः सजीवा, किन्त्वग्रिमावस्थासु मिलिते प्रवेशे नेयमवस्था स्थास्यति। एतदर्थमेव पूज्य 'महाराजाः' कथयन्ति स्म यद् ब्रह्मविद्यायाश्चिन्तनं प्रतिदिनं विधेहि, एकमालामवश्यमेव भ्रामय, या सचिन्तनं घूर्मायते, वाह्या माला नहि।

एतत्तु साधकायोपदेशः, किन्तु ये वास्तविकाः सद्गुरवो भवन्ति ते सततं तस्य पथिकस्य ससावधानं निरीक्षणं कुर्वन्ति, अन्तराले पथिकस्य आत्म जागरणेन तथा स्ववाह्यक्रियाकलापैः तमभिनवपरिस्थितितः सम्यक् ज्ञापयन्ति। योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽपि महापुरुष एवासीत्। अर्जुनः शिष्यस्थानीयः। अर्जुनः स्वरक्षार्थं कृष्णं प्रार्थयामास। अतएव योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथयति-ज्ञानेष्वप्युत्तमोत्तमं ज्ञानं पुनः त्वदर्थं कथयिष्यामि।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अर्जुन! ज्ञानेष्वपि उत्तमं ज्ञानं परमज्ञानं त्वामहं पुनः समुदीरयिष्यामि (यत् पूर्वं मया कथितम्), यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनिजनाः संसारादस्मान्मुक्ताः सन्तः परां सिद्धिं लभन्ते। (यदनु किमपि प्राप्तव्यं नावशिष्यते।)

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य-सन्निकटत आश्रयं नीत्वा, क्रियातः सम्प्रस्थाय सन्निकटं समुपाश्रित्य ममस्वरूपं प्राप्तकर्त्तारो जनाः सृष्ट्यादौ पुनर्जन्म न गृह्णन्ति। प्रलयकाले चार्थात् शरीरान्तावसरे न भवन्ति व्याकुलाः, कुतोहि महापुरुषस्यान्तस्तु तस्मिन्नेव दिने सम्पद्यते, यस्मिन् दिने स स्वरूपं प्राप्नोति। तदनन्तरं तस्य शरीरं निवासार्थमेकगृहसदृशं सम्भवति। पुनर्जन्मनः स्थानं कुत्र वर्त्तते, यत्र जनाः जन्म धारयन्ति? अत उपरि कृष्णः कथयति-

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

अर्जुन! मम '**महद् ब्रह्म**' अर्थादष्टधा मूलप्रकृतिः सर्वभूतानां योनिरस्ति तस्याञ्च अहं चेतनरूपं बीजं संस्थापयामि, उक्त जडचेतनयोः संयोगात् सर्वभूतोत्पत्तिर्भवति।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

कौन्तेय! सर्वासु योनिषु यावन्ति शरीराणि भवन्त्युत्पन्नानि, तेषां 'योनिः'–गर्भधारणकर्त्रीमाता अष्टभेदयुतामूलप्रकृतिरस्ति, अहमेव बीजस्थापनकर्त्ता पिताऽस्मि। नान्याः काश्चिन्माता न च पिता। यावज्जडचेतनयोः संयोगो भविष्यति जन्मानि सम्भवन्ति, सन्ति, स्थास्यन्ति। निमित्तं तु कोऽपि न कोऽपि भविष्यत्येव। चेतनात्मा जडाप्रकृतिश्च कथं संयुज्येते? अत उपरि ब्रूते कृष्णः–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

महाबाहो अर्जुन! सत्त्वरजोतमांसि त्रयो गुणाः प्रकृतितः समुत्पन्नाः सन्ति। त्रयो गुणा एवेदमविनाशिनं जीवात्मानं शरीरे निबध्नन्ति। केन प्रकारेण–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

निष्पापार्जुन! तेषु त्रिषु गुणेषु प्रकाशकर्त्ता निर्विकारः सत्त्वगुणस्तु ''**निर्मलत्वात्**''–निर्मलवृत्तिबलेन सुखज्ञानयोरासक्त्यात्मानं शरीरे संपोषयति। सत्त्वगुणोऽपि बन्धनमेवास्ति। अन्तरन्त्विदमेवास्ति यत् सुखमेकमात्र परमात्मनि विद्यते तथा च ज्ञानं साक्षात्कारस्य नामाऽस्ति। सत्त्वगुणवान् तावन्निबद्धोऽस्ति यावत् परमात्मनः साक्षात्कारो न भवति।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

अर्जुन! रागस्य जीवितं जागृतञ्च स्वरूपं रजोगुण एवास्ति। एनं त्वं "**कर्मसङ्गेन**"-कामनासक्तिभ्यां समुत्पन्नं जानीहि। अयं जीवात्मानं कर्मफलयोर्बन्धने बध्नाति। सः कर्मणि प्रवृत्तिं ददाति।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

अर्जुन! समस्तदेहधारिणां सम्मोहकं तमोगुणं त्वमज्ञानात् समुत्पन्नं विद्धि। सस्तमोगुण एनमात्मानं प्रमादेन-व्यर्थचेष्टयाऽलस्येन च (श्व इदं करिष्यामीति) निद्रया च बध्नाति। निद्रायाः नायमर्थः यत् तमोगुणी निरन्तरमत्यधिकं शेते। शरीरः शेते नैतत् तथ्यम् "**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी**"-जगदेवास्ति रात्रिः। तमोगुणयुक्तः व्यक्तिरेतज्जगद्रूपायां निशायां रात्रिन्दिवं व्यस्तो विद्यते, प्रकाशस्वरूपं न निरीक्षत अचेतनतया, इयमेव तमोगुणी निद्रा। य अस्मिन् पाशबद्धः शेते। साम्प्रतं गुणत्रयाणां बन्धनस्य सामूहिकं स्वरूपं वर्णयति-

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।९।।

अर्जुन! सत्त्वगुणः सुखे नियोजयति, शाश्वतपरमसुखस्य धारायां प्रवेशयति। रजोगुणः कर्मणि प्रवर्त्तयति, तमोगुणो ज्ञानं समाच्छाद्य प्रमादे अर्थादन्तःकरणस्य व्यर्थचेष्टासु प्रेरयति। यदा गुणा एकस्मिन् स्थाने तथैकस्मिन् हृदये स्थिताः सन्ति, तर्हि कथं पृथक्-पृथग् विभज्यन्ते? अत उपरि योगेश्वरः कृष्णः प्रकाशयति-

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

अर्जुन! रजोगुणं तमोगुणञ्च प्रबाध्य सत्त्वगुणः प्रवर्धते, तथैव सत्त्वगुणं तमोगुणञ्च प्रबाध्य रजोगुणो वर्धते, इत्थमेव रजोगुणं सत्त्वगुणञ्च प्रबाध्य तमो-गुणः समेधते। कथमेतस्य परिचयो भवेत् यतः कदा को गुणः कार्यं करोति?-

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

यस्मिन्नवसरे शरीरेऽस्मिन् तथान्तःकरणे सम्पूर्णेन्द्रियेषु चेश्वरीय प्रकाशो बोधशक्तिश्चोत्पद्येते, तस्मिन् समये बोधव्यं यत् साम्प्रतं सत्त्वगुणो विशेषवृद्धिं प्राप्तो वर्तते। तथा–

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

अर्जुन! रजोगुणस्य विशेषवृद्धौ जातायां लोभः, कार्येषु प्रवृत्तेश्चेष्टा, कर्मणामारम्भः, अशान्तिः अर्थात् मनसश्चाञ्चल्यम्, विषयभोगलालसा इमे सर्वे कुभावाः समुत्पद्यन्ते। इदानीं तमोगुण वृद्धौ किं भवति?–

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अर्जुन! तमोगुणस्य सम्वर्धनावसरे '**अप्रकाशः**'–(प्रकाशः परमात्मनो द्योतकोऽस्ति) ईश्वरीयप्रकाशोन्मुखं न गमनस्य स्वभावः, "**कार्यम् कर्म**"- यः कर्त्तुमर्हः प्रक्रियाविशेषस्तस्मिन्नप्रवृत्तिः, अन्तःकरणे व्यर्थचेष्टानां प्रवाहः, संसारे मुग्धकारिणाः प्रवृत्तयः एव एतं सर्वं जायन्ते। एतेषां गुणानां ज्ञानेन को लाभः?–

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

यदाऽयं जीवात्मा सत्त्वगुणस्य वृद्धिकाले शरीरं जहाति, शरीरं मृत्युं प्राप्नोति, तदाऽयं जीवात्मोत्तमकर्मकर्त्तृणां निर्मलं दिव्यं लोकं लभते, तथा–

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजोगुणस्य वृद्धौ जातायां मृत्युं प्रापकः कर्मणामासक्तिवतां मनुष्येषु जन्मगृह्णाति तथा तमोगुणस्य वृद्धौ मृत्युं प्राप्तकर्त्ता पुरुषो मूढयोनिषु जन्म लभते, येषु मूढयोनिषु कीटपतङ्गादीनां योनीनां विस्तारो वर्तते। अतो गुण–क्षेत्रान्तर्गत मनुष्येण सात्त्विकगुणयुक्तेन भवितव्यम्। प्रकृतेः सुरक्षागृहमिदं (बैंक)

भवतार्जितान् गुणान् मरणानन्तरमपि तान् गुणान् सुरक्षितरूपेण भवते पुनर्ददाति। साम्प्रतमस्यावलोकय परिणामः–

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

सात्त्विकगुणप्रेरितकर्मणः फलं सात्त्विकं भवति, तदेव निर्मलं सुखमयं वैराग्यादियुतं कथितमस्ति। राजसगुणस्य कर्मफलं दुःखम्, तामसगुणप्रेरितं कर्मफलमज्ञानमस्ति। तथा–

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्त्वगुणात्समुद्यते ज्ञानम् (ईश्वरीयानुभूतेर्नाम ज्ञानमस्ति), ईश्वरीयानुभूते–र्प्रवाहो वहति। रजोगुणेन निःसन्देहं लोभो वर्धते तथा तमोगुणतः प्रमादः, मोहः, आलस्यम् (अज्ञानञ्च) प्रादुर्भवति। इमे समुत्पन्नाः सन्तः कीदृशीं गतिं ददन्ते?–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

सत्त्वगुणे संस्थितः पुरुषः "**ऊर्ध्वमूलम्**"–तदूर्ध्वमूलपरमात्मा–भिमुखमग्रेसरो भवति, निर्मलंलोकं गच्छति। रजोगुणे संस्थितो राजसः पुरुषो मध्यमश्रेणीको मनुष्यो भवति, येषां सविधे न "सात्त्विकम् "–सत्त्वगुणप्रेरितं विवेकवैराग्यञ्च भवतः न च अधमकोटिककीटपतङ्गादि योनिष्वपि प्रविशन्ति, प्रत्युत् पुनर्जन्म प्राप्नुवन्ति। निन्दिततमोगुणान्वितास्तामसापुरुषाः "अधोगतिम्" अर्थात् पशुपक्षीकीटपतङ्गादि अधमयोनिमासादयन्ति। अनेन प्रकारेण त्रयोगुणाः येनापि केन प्रकारेण योनिप्राप्तेः कारणानि सन्ति। ये पुरुषा गुणानतिक्रमन्ते ते जन्म–मरणबन्धनादुन्मुक्ता जायन्ते, मम स्वरूपञ्च लभन्ते। अत उपरि कथयति कृष्णः–

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

यस्मिन् समये द्रष्टात्मा त्रिगुणातिरिक्तमपरं कमपि कर्त्तारं नावलोकयति तथा च गुणत्रयादत्यन्तं परतः परमतत्त्वं वेत्ति, तस्मिन् समये स पुरुषः मम स्वरूपं प्राप्नोति। इयं नास्ति बौद्धिकी मान्यता यत् गुणाः गुणेषु वर्त्तन्ते। साधनं साधयन्-साधयनायात्येकास्थितिः यस्यां स्थितौ तस्मात् परमादनुभूतिर्लभ्यते यद् गुणातिरिक्तं न कोऽपि कर्त्ता भवति दृग्गोचरः, तस्मिन् समये पुरुषो गुणत्रयातीतो जायते। नायमस्ति कल्पित मान्यता। अत उपरि कथयति योगेश्वरः-

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

पुरुष एतत् स्थूलशरीरणामुत्पत्तेः कारणभूतेभ्योऽगुणेभ्योऽतीतो भूत्वा जन्ममृत्युवृद्धावस्थास्तथा सर्वप्रकारक दुःखविशेषरूपेण मुक्तोभूत्वाऽमृततत्त्वस्य पानं करोति। अत्रार्जुनः प्रश्नं चकार-

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

प्रभो! एतेभ्यः गुणत्रयेभ्य अतीतः पुरुषः कैर्कैः लक्षणैर्युक्तो भवति तथा च केन प्रकारेणाचरणमाचरति तथा मनुष्यः केनोपायेनैतेभ्यस्त्रिगुणेभ्योऽतीतो भवति?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।

उपर्युक्तार्जुनस्य प्रश्नत्रयस्योत्तरं ददानो योगेश्वरः श्रीकृष्ण उक्तवान्- अर्जुन! यः पुरुषः सत्त्वगुणस्य कार्यरूपमीश्वरीय प्रकाशः, रजोगुणस्य कार्यरूपं प्रवृत्तिः, तमोगुणस्य च कार्यरूपे मोहे प्रवृत्तिं नानुचितं मन्यते न च निवृत्ते सति तेषां कामनामेव करोति। तथा-

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

यः पूर्वोक्त प्रकारेणोदासीनवत् त्रिगुणैर्विचालितो न कर्त्तुं शक्येत्, गुणाः गुणेषु वर्त्तन्ते, एवं यथार्थतो ज्ञानं लब्ध्वा तयास्थित्या न भवति चलायमानः, तदैव स गुणातीतो भवति।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

योऽनवरतं स्वस्मिन्नर्थात् आत्मभावे विद्यमानोऽस्ति, सुखे दुःखे च समभावो भवति; लोष्ठे, प्रस्तरे सुवर्णे च समानभावो वर्तते, धैर्यवानस्ति, यः प्रियमप्रियञ्च तुल्यं जानाति, स्वनिन्दास्तुतौ चापि समानभावो वर्तते, अपरञ्च–

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

यः मानापमाने च समः, मित्रे शत्रौ चापि समः, स सर्वारम्भात् विरहितः सन् गुणातीतपुरुषः कथ्यते।

द्वाविंशतितमश्लोकतः पञ्चविंशतितमश्लोकं यावद् गुणातीत पुरुषाणां लक्षणान्याचरणानि च वर्णितानि यदसौ पुरुषः चलायमानो न भवति, गुणैर्नविचाल्यतेस्थिरः संतिष्ठते। इदानीं गुणादतीतभवनस्य विधिः प्रस्तूयते–

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

यः पुरुषोऽव्यभिचारिण्या भक्त्याऽर्थादिष्टादरिक्तान्यसांसारिकस्मरणात् सर्वथा रहितो भूत्वा योगद्वारेणार्थादुक्तनियतकर्मद्वारा निरन्तरं मां भजति, स गुणत्रयं सम्यग् रूपेण उल्लंघ्य परब्रह्मणि सारूप्यं लब्धुमर्हो भवति, यस्यास्ति नाम कल्पः। ब्रह्मणासहैवैकाकीभाव भवनमेव वास्तविकः कल्पः समुच्यते। अनन्यभावेन नियतकर्मणामाचरणं विना कोऽपि गुणातीतो न भवति। अन्ततः योगेश्वरः ददाति निर्णयम्–

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

अर्जुन! तस्याविनाशिनो ब्रह्मणः (येन सह स कल्पं करोति, यस्मिन् गुणातीतः स एकीभावेन प्रविशति), तस्यामृतस्य, शाश्वतधर्मस्य उक्ताखण्डैक-रसानन्दस्याश्रयोऽहमस्मि अर्थात् परमात्मस्थितः सद्गुरुरेवैतेषामस्ति समाश्रयः। आसीत् कृष्णः योगेश्वर एकः। इदानीं चेत् भवतः कृते अव्यक्तस्य, अविनाशिनः, ब्रह्मणः, शाश्वतधर्मस्य, अखण्डस्य, एकरसानन्दस्य आवश्यकता वर्तते तर्हि कस्यचित् तत्त्वस्थितस्य अव्यक्तपुरुषस्य शरणमाश्रयणीयम्। तद्द्वारेणैव गुणातीतता सम्भवा परिलक्ष्यते।

निष्कर्षः-

अस्याध्यायस्यारम्भे योगेश्वरेण श्रीकृष्णेनोक्तं यदर्जुन! ज्ञानेष्वप्युत्युत्तमं परमंज्ञानं पुनस्त्वदर्थं वक्ष्यामि, यच्छ्रुत्वा मुनिजना उपासनाद्वारेण मम स्वरूपं लभन्ते, पुनः सृष्ट्यादौ ते जन्म न गृह्णन्ति, किन्तु शरीरस्य निधनं त्वनिवार्यम्। तस्मिन् समये ते न भवन्ति व्यथिताः। ते वस्तुतः शरीरं तस्मिन्नेव दिने परित्यजन्ति यस्मिन् दिने स्वरूपस्य प्राप्तिर्भवति। स्वरूपप्राप्तिस्तु चलति जीवन एव भवति, किन्तु शरीरान्तकालेऽपि ते न भवन्ति व्यथिताः।

प्रकृतितः जायमानाः रजःसत्त्वतमश्चेति त्रिगुणा एवेमं जीवात्मानं शरीरे निबध्नन्ति। गुणद्वयं प्रबाध्य तृतीयस्य गुणस्य सम्वर्धनं सम्भवमस्ति। गुणाः परिवर्तनशीलाः सन्ति। प्रकृतिः या अनादिरस्ति, नेयं नष्टा भवति प्रत्युत् गुणानां प्रभावो निवारयितुं सम्भवः। गुणाः मनसि प्रभावं कुर्वन्ति। यदा सत्त्वगुणस्य वृद्धिर्भवति तदा तदेश्वरीय प्रकाशः बोधशक्तिश्च वर्तते। रजोगुणो रागात्मकोऽस्ति। तस्मिन् समये कर्मणि जायते लोभः, विद्यते चासक्तिरन्तःकरणे च तमोगुणस्य प्रवृत्तेः कार्यरूपे आलस्यप्रमादौ समाच्छादयतः। सत्त्वस्य वृद्धौ मृत्युं प्राप्तः पुरुषः उपरिष्टात् निर्मललोके जन्मलभते। रजोगुणस्य वृद्धौ मनुष्यः मानव-योनौ एव पुनरावर्त्य समाव्रजति, तमोगुणस्य च वृद्धिकाले मनुष्यः शरीरं परित्यज्य पशुकीटपतङ्गादि अधमां योनिं प्राप्नोति। अतएव क्रमशः मनुष्यैः सात्त्विकं गुणाभिमुखं गन्तव्यम्। वस्तुस्त्रयोगुणाः यस्या अपि कस्याः योनेः कारणानि सन्ति। गुणा एवात्मानं शरीरे निबध्नन्ति, अतः गुणेभ्य अतीतेन भवितव्यम्।

ते पुरुषाः यतो भवन्ति मुक्ताः, तत्स्वरूपं वर्णयन् योगेश्वरेणोक्तं यदष्टदधा मूलप्रकृतिर्गर्भधारयित्री मातास्ति अहञ्च बीजरूपेण पिताऽस्मि। नान्या कश्चिन्माता, नान्यः कश्चित् पिता। यावदयं क्रमश्चलिष्यति तावत् चराचरे जगत्यस्मिन्निमित्तरूपेण कश्चिन्नकश्चित् माता–पितारूपेण भविष्यन्तौ स्तः; किन्तु यथार्थतो माता प्रकृतिः पिताचाहम्। अस्मिन् सन्दर्भे प्रश्नत्रयं प्रास्तौदर्जुनः– गुणातीतस्य पुरुषस्य किं लक्षणमाचरणञ्च किम्? केनोपायेन मनुष्यो गुणत्रयातीतो भवति? अनयारीत्या योगेश्वरः श्रीकृष्णो गुणातीत पुरुषस्यलक्षणमाचरणञ्च वर्णितवान्। अन्ततो गुणातीत विधौ साफल्यस्योपायं चाप्युक्तवान्, यः पुरुष अव्यभिचारिण्याभक्त्या योगेन च निरन्तरं मां भजते स त्रिगुणातीतो भवति। नान्यस्य कस्यापि चिन्तनमकुर्वन्, सततमिष्टस्य चिन्तनमस्ति अव्यभिचारिणी भक्तिः। यः संसारस्य संयोग–वियोगाभ्यां सर्वथारहितो भवति, तस्यैव नाम योगोऽस्ति। तयोः कार्यरूपे परिणमन प्रणाल्याः नाम कर्मास्ति। यज्ञः येन सम्पन्नो भवति स क्रियात्मकाचरणं कर्म समुच्यते। अव्यभिचारिण्या भक्त्या तन्नियतकर्माचरणेनैव पुरुषः गुणत्रयातीतो भवति, अतीतो भूत्वा च ब्रह्मणासहैकीभावं समुपलभ्य पूर्णकल्पं प्राप्तं कर्त्तुं योग्यो भवति। गुणाः यस्मिन् मनसि प्रभवन्ति तेषां विलयेषु ब्रह्मणासहैकीभावो निष्पद्यते, अयमेव वास्तविकः कल्पः। अतो भजनं विना न कोऽपि गुणातीतो भवितुं शक्नोति।

अन्ततो योगेश्वरः श्रीकृष्णो निर्णयं ददाति यत् स गुणातीतः पुरुषो येन ब्रह्मणासहैकीभावे स्थितो भवति तस्य ब्रह्मणः, अमृततत्त्वस्य, शाश्वतधर्मस्य, अखण्डैकरसानन्दस्य चाहमेवाश्रयोऽस्म्यर्थात् प्रधानकर्त्ताऽस्मि। साम्प्रतं तु कृष्णस्तत्याज भूलोकं तदाश्रयोऽपि जगाम। तदा तु महतः सन्देहस्य तथ्यमस्ति। स आश्रयः साम्प्रतं क्व प्राप्स्यति? किन्तु नहि, श्रीकृष्णः स्वपरिचयं दत्तवानस्ति। आसीदसावेको योगी स्वरूपस्थः महापुरुषश्च। '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' अर्जुनः कथितवानासीत्। अहं भवतः शिष्योऽस्मि, भवच्छरणागतोऽस्मि, मां सम्भालय। स्थले–स्थले भगवान् कृष्णः स्वपरिचयमप्यददात्। स्थितप्रज्ञस्य महापुरुषस्य लक्षणान्यवर्णयत् तैः सह स्वतुलनां कृतवान्। अतः स्पष्टमस्ति यत् श्रीकृष्ण एको महात्मा योगी चासीत्। इदानीं यदि भवान् अखण्डमेकर–

सानन्दं शाश्वतधर्मामृततत्त्वं च कांक्षति, तर्ह्येतस्य सर्वस्य प्राप्तेःस्रोतो मात्रैकसद्गुरुरेवास्ति। केवलं पुस्तकाध्ययनेन न कोऽपि लब्धुं शक्नोति। यदाऽसौ महापुरुषो स्वयमात्माऽभिन्नो भूत्वा रथं वाहयति तदा शनैःशनैरनुरागिणं सञ्चालयन् यस्मिन् स्वयं विद्यते तत्स्वरूपं यावत् प्रापयन्ति। मात्र स एवैको माध्यमोऽस्ति। अनेनप्रकारेण योगेश्वरः श्रीकृष्ण आत्मानं सर्वाश्रयं प्रतिपादयन् अस्य चतुर्दशाध्यायस्य समापनं चकार, यत्राध्याये गुणानां विस्तरेण वर्णनमस्ति, अतः—

ॐतत्सदितिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नामचतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते 'यथार्थगीता' भाष्ये 'गुणत्रयविभागयोगो' नामचतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

महापुरुषः संसारममुं विभिन्नैर्दृष्टान्तैः प्रबोधयितुं प्रयासमकुर्वन्। केनचिन्महापुरुषेण भवाटवी कथितोऽयं संसारः, तर्हि केनचित् संसारः सागर इति कथितः। अवस्थाभेदेनेनं भवनदी भवकूपश्च कथितौ केनचित्। कदाचिच्चास्य गोपदेन तुलनाकृता केनचिदर्थात् यावादीन्द्रियाणां विस्तारोऽस्ति तावानेव संसारोऽन्तेऽपि समायातावस्था यत् (नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं) नामग्रहणानन्तरं भवसिन्धुरपि शुष्कोजातः। किं संसारे पूर्वोक्ताः समुद्राः सन्ति? योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽपि संसारं समुद्रस्य वृक्षस्य च संज्ञां दत्तवान्। द्वादशाऽध्याये तेनोक्तम्– ये सन्ति ममानन्याः भक्ताः तेषां संसारसमुद्राादुद्धारः क्रियते मया। अत्र प्रस्तुताध्याये योगेश्वरः श्रीकृष्णो वदति यत् संसार एको वृक्षोस्ति, एनं छिन्दन्नेव योगिजनस्तत्परं पदं मार्गते। पश्यतु–

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अर्जुन! '**ऊर्ध्वमूलम्**'–उपरि भागे परमात्मैव यस्यास्ति मूलम्, '**अधःशाखम्**'–नीचैः प्रकृतिरेव यस्य शाखाः सन्ति, एतादृशं संसाररूपिणं पिप्पलस्य वृक्षमविनाशिनं कथयन्ति। (वृक्षस्तु 'अ–श्वः' अर्थादागामी दिनं यावदपि न स्थातुमर्हः, यदा भवदेच्छा तं छिन्देत् किन्त्वविनाशी) श्रीकृष्णानुसारेण द्वावविनाशिनौ वर्तेते, एकोऽविनाशी संसाररूपी वृक्षोऽस्ति, अपरस्तु ततः परः परमाविनाशी सनातनोऽस्ति। वेदाः अस्याविनाशिनः संसारपादपस्य पत्राणि

कथितानि सन्ति। यो पुरुष इमं संसाररूपिणं वृक्षं पश्यन् विदितं करोति, स वेदज्ञो मन्यते।

यस्तं संसारवृक्षं ज्ञातवान् स वेदमपि ज्ञातवान्, न तु ग्रन्थाध्येता। पुस्तकाध्ययनेन तु तदभिमुखमग्रेसर्तुं प्रेरणामात्रं मिलति। संसारवृक्षस्य पत्राणां स्थानोपरि वेदानां काऽऽवश्यकता? यथार्थतः पुरुषोऽटन् भ्रमन् यमन्तिमं किसलयवृन्तमर्थादन्तिमं जन्म गृह्णाति, तत एव वेदानां तानि छन्दांसि कल्याणस्य सर्जनं कुर्वन्ति, तत एव प्रेरणां यच्छन्ति, तत एव तेषामस्त्युपयोगः। तत एव भ्रमः समाप्यते। स स्वरूपोन्मुखं घूर्मयति तथा–

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

तत् संसारवृक्षस्य त्रिभिर्गुणैः संवर्धिता विषयभोगरूप नूतनपल्लवान्विताः शाखाः नीचैरुच्चैः सर्वत्र प्रसृताः सन्ति। नीचैरभिमुखं कीटपतङ्गं यावत्, उच्चैस्तु देवभावमादाय ब्रह्मपर्यन्तं विस्तृता वर्त्तन्ते तथा मनुष्ययोनिरेव कर्मानुसारतो बन्धनकारिकाः सन्ति। अपराः सर्वाः योनयः केवलं भोगाय सन्ति। मनुष्य-योनिरेव कर्मानुसारेण बन्धनं सूते।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

किन्त्वस्य संसारवृक्षस्य यादृशं स्वरूपं वर्णितं न तादृशमिह क्वचिल्लभ्यते। कुतोहि नास्त्यादिर्नान्तस्तथा सम्यक् प्रकारेणास्य स्थितिरपि न सुलभा। (कुतोहि अयमस्ति परिवर्तनशीलः) इमं सुदृढमूलं वृक्षं दृढेन ''**असङ्ग शस्त्रेण**'' अर्थात् वैराग्यरूपिणा शस्त्रेण छेदयित्वा (संसाररूपवृक्षस्य कर्त्तनमावश्यकः।

नैवं यत् पिप्पलस्य मूले परमात्मवासस्तथा पिप्पलस्य पत्राणि वेदाः सन्ति एवं मन्यमानो पिप्पलस्यार्तिक्यं कर्त्तुमारेभिरे।)

अस्य संसारवृक्षस्य मूलन्तु स्वयं परमात्मैव बीजरूपेण प्रसृतो विद्यते। किमसौ परमात्माऽपि छेत्स्यते? दृढ वैराग्यद्वारेणस्याः प्रकृतेः सम्बन्धविच्छेदो जायते, एतदेव कृन्तनम्। कर्त्तित्वा किं विधेयम्?–

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

दृढवैराग्यद्वारेण संसारवृक्षस्य कृन्तनानन्तरं तस्य परमपदपरमेश्वरस्य सम्यग् रूपेणान्वेषणं कर्त्तव्यम्। यस्मिन् सम्प्राप्ताः पुरुषाः पुनः संसारे नहि समायान्ति अर्थात् पूर्णनिवृत्तिं प्राप्तं कुर्वन्ति। किन्तु तस्य परमात्मन अन्वेषणं केन प्रकारेण सम्भवमस्ति? योगेश्वरःकथयति– एतदर्थं समर्पणं परमावश्यकमस्ति। यस्मात् परमेश्वरात् प्राचीनतमस्य संसारवृक्षस्य प्रवृत्तिः विस्तारोऽभवत्, तस्यादिपुरुषस्य परमात्मनः शरणागतोऽस्म्यहम् (तस्य शरणगमनंविना वृक्षो न छेत्स्यति)। इदानीं शरणागतो वैराग्ये संस्थितः पुरुषः कथं जानीयात् यत् वृक्षः कर्तितः? तस्य परिचितिः किमस्ति? अत उपरि कथयति कृष्णः–

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।।५।।

उपर्युक्तप्रकारेण समर्पणेन यस्य मोहमानौ नष्टावभवताम्, आसक्तिरूपः सङ्गदोषो येन जितः, '**अध्यात्मनित्या**'– परमात्मनः स्वरूपे यस्य निरन्तरं स्थितिर्वर्तते, यस्य कामनाः विशेषरूपेण निवृत्ता अभवन्, सुख-दुःख द्वन्द्वयोर्विमुक्तः ज्ञानीजनस्तदविनाशिनं परमपदं लभते। यावदियमवस्था नायाति

तावत् संसारवृक्षो न छिद्यते। इयत् यावत् वैराग्यस्यावश्यकता भवति। तस्य परमपदस्य स्वरूपं किमस्ति, यं प्राप्नुवन्ति साधकाः?—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

तत्परमपदं न सूर्यः न च चन्द्रमास्तथा नाग्निः प्रकाशयति। यत्परमपदं सम्प्राप्य मनुष्यः पूर्वोक्त संसारे न प्रविशति, एतदेव मदीयं परमधामास्ति अर्थात् तस्य पुनर्जन्म न भवति। अस्य परमपदस्य प्राप्तौ सर्वेषां समानोऽधिकारोऽस्ति। अत उपरि कथयति कृष्णः—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

'जीवलोके' अर्थादस्मिन् देहे (शरीरमेव लोकोऽस्ति) अयं जीवात्मा ममैव सनातनोंशोऽस्ति। स चोक्तत्रिगुणमयमायायां स्थितानि मनसासहितानि पञ्चेन्द्रियाणि आकर्षति। कथमित्थम्?—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

येन प्रकारेण वायुर्गन्धस्थानतः गन्धं गृहीत्वा प्रवहति तथैव देहस्य स्वामी जीवात्मा यत्पूर्वशरीरं त्यजति, ततः मनसासहितपञ्चज्ञानेन्द्रियस्य कार्यकलापं गृहीत्वा (आकर्षणं कृत्वा सहैव नीत्वा) पुनर्यत् शरीरं प्राप्तं भवति, तस्मिन् प्रविशति। (यदाऽग्रिमं शरीरं तत्कालं मिलतीति सुनिश्चितमस्ति तर्हि पिष्टान्नस्य पिण्डं विरच्य कस्मै प्रदीयते? कः गृह्णाति? अतएव श्रीकृष्णोऽर्जुनमुक्तवानासीत् यदिदमज्ञानं त्वयि कुतः प्रादुर्भूतं यत् पिण्डोदकक्रिया लुप्ता भविष्यति।) तत्र गत्वा किं करोति? मनसासहितानि कानि षडिन्द्रियाणि?

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

तस्मिन् शरीरे प्रविष्टो भूत्वाऽयं जीवात्मा कर्णाभ्याम्, नयनाभ्याम्, त्वचा,

जिह्वया, नासिकया, मनसा च संयुतो अर्थादेतेषां योगेन विषयाणां सेवनं करोति। किन्त्वेवं न दृष्टिगोचरायते, सर्वे तं द्रष्टुं न सक्षमाः। अत उपरि कथयति श्रीकृष्णः–

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

शरीरं विहाय गच्छन्तं, शरीरे स्थितं, विषयान् भुञ्जन्तमथवा त्रिगुणयुतं जीवात्मानं विशेषमूढा अज्ञानिनः न जानते। केवलं ज्ञानरूपीनेत्रयुता एव तं बुद्ध्यन्ते, पश्यन्ति, साधुएवमेवास्ति इति तेषां ज्ञानम्। इदानीं सा दृष्टिः कथं लभेत्? अग्रे पश्यतु–

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

योगिजनाः स्वहृदये चित्तं सर्वतः समाकृष्यैनमात्मानं यत्नेन प्रत्यक्षं निरीक्षन्ते किन्त्वकृतार्थात्मयुक्ताः अर्थात् मलिनान्तःकरणवन्तो मूढजनाः यत्नं कुर्वाणोऽपीमं न विदन्ति (कुतोहि तेषामन्तःकरणं वाह्यप्रवृत्तिषु सम्प्रति विकीर्णमस्ति)। चित्तं सर्वतः समाकृष्यान्तरात्मनि प्रयत्नशीलाः भावुकजना एव तं प्राप्तुमर्हा भवन्ति। अत अन्तःकरणेन स्मरणं सततं भवत्यावश्यकम्। इदानीं तेषां महापुरुषाणां स्वरूपे याः विभूतयो मिलन्ति (यत्पूर्वं वर्णितम्) तदुपरि प्रकाशं वितनोति–

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

यत्तेजः सूर्ये संस्थितं सन् सम्पूर्णं जगत् प्रकाशयति, यत्तेजः चन्द्रमसि विद्यमानो विद्यते, यत्तेजश्चाग्नौ दीप्यते, एतत् तेजः पुञ्जं त्वं ममेव विद्धि। साम्प्रतं तेन महात्मना विधीयमानं कार्यं वर्णयति–

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

अहमेव पृथिव्यां प्रविश्य स्वशक्त्या निखिलभूतमण्डलं दधामि, चन्द्रमसि च रसस्वरूपो भूत्वा सम्पूर्णं वनस्पतिसमूहं पुष्णामि।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अहमेव प्राणिनां शरीरे जठराग्निरूपेण स्थित्वा प्राणापानाभ्यां युक्तश्चतुष्टय प्रकारकमन्नं पचामि।

चतुर्थाध्याये स्वयं योगेश्वरेण कृष्णेन इन्द्रियाग्निः, संयमाग्निः, योगाग्निः, प्राणापानाग्निः, ब्रह्माग्निरित्यादि त्रयोदश-चतुर्दशाग्नि नामुल्लेखं कृतम्, येषु सर्वेषां परिणामो ज्ञानमस्ति। ज्ञानमेवाग्निरस्ति। कथयति श्रीकृष्णः, एवमग्निस्वरूपो भूत्वा प्राणापानाभ्यां युक्तश्चतुर्भिर्विधिभिः (जपः सदैव श्वास-प्रश्वासाभ्यां भवति, तस्य जपस्य चत्वारः सन्ति विधयः- बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, पराश्च- एभिर्चतुर्भिर्विधिभिः) समुत्पन्नमन्नमहमेव पाचयामि।

श्रीकृष्णमतानुसारेण ब्रह्मैवैकमात्रमन्नमस्ति, येनात्मा पूर्णरूपेण तृप्यते, पुनः कदापि न भवत्यतृप्तः। शरीरस्य पोषकं प्रचलितान्यन्नानि योगेश्वर आहारस्य संज्ञां दत्तवान् (युक्ताहारादिः)। वास्तविकमन्नं परमात्मास्ति। बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परायाश्च चतुर्भिर्विधिभिर्निःसृत्यैव तदन्नं परिपक्वं भवति। एतदेवानेके महापुरुषाः नामरूपलीलाधामेति कथितवन्तः। पूर्वं नाम्नः जपो भवति। क्रमशः हृदयदेशे इष्टस्य स्वरूपं प्रकटयितुं प्रारभते। तत्पश्चादिष्टस्य लीलायाः बोधो भवितुं लगति यत् स ईश्वरः केन प्रकारेण प्रतिकणं व्याप्तोऽस्ति? केन प्रकारेण स सर्वत्र कार्यं करोति? अनेन प्रकारेण हृदयदेशे क्रियाकलापानां दर्शनमेव लीलाऽस्ति। (बहिर्क्षेत्रे रामलीलारासलीलावत् लीला नहि) तस्य ईश्वरीयलीलायाश्च प्रत्यक्षमनुभूतिं कुर्वन् यदा मूललीलाधारिणः जायते संस्पर्शः तदा धाम्नः स्थितिः समायाति। तां ज्ञात्वा साधकस्तस्यामेव प्रतिष्ठितो भवति। तस्यां प्रतिष्ठापनं परावाण्याश्च परिपक्वावस्थायां परब्रह्मणः स्पर्शं कृत्वा तत्र सुस्थिरीभवनमुभौ सहैव भवतः।

अनेन प्रकारेण प्राणापानयोरर्थात् श्वासप्रश्वासाभ्यां युक्तो भूत्वा चतुर्भिर्विधिभिरर्थात् बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परायाश्च क्रमशः जात उत्थाने परायाः पूर्तिकाले 'तदन्नं'-ब्रह्म परिपक्वं भवति, मिलत्यपि,पचत्यपि, पात्राण्यपि परिपक्वानि भवन्ति।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

अहमेव सर्वेषां प्राणिनां हृदयेऽन्तर्यामीस्वरूपेण स्थितोऽस्मि। ममद्वारैव स्वरूपस्य स्मृतिः (सुरतिः या तत्त्वभूतं परमात्मानं विस्मारयति तस्य स्मरणं जागरणं) भवति (प्राप्तिकालस्य चित्रणमिदम्)। स्मृत्या सहैव ज्ञानम् (साक्षात्कारः) अपोहनञ्च– अर्थात् बाधानां शमनं ममेष्टस्वरूपेणैव भवति। सर्ववेदैः वेदितव्योऽस्मि। वेदान्तस्य कर्त्ताऽर्थात् 'वेदस्य अन्तः स वेदान्तः' (पृथगासीत्तदैवाभवद् बोधः, यदा जानन् सन्नेव तस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठितो जातः, तदा कः कं विजानीयात्) वेदस्यान्तिमायाः स्थितेः कर्त्ताहमेवास्मि, वेदविच्चापि अहमेवास्मि, अर्थादहं वेदज्ञः। अध्यायस्यारम्भे तेनोक्तं यत् संसारः वृक्षोस्ति। उपरि परमात्मनः मूलमधश्च प्रकृतिपर्यन्तशाखाः सन्ति। यः पुरुष अस्मात् मूलात् प्रकृतेर्विभाजनं कृत्वा जानाति, स मूलतो जानाति, स वेदविदस्ति। अत्र कथयति कृष्णो यदहं वेदविदस्मि। तं यः जानाति, श्रीकृष्ण आत्मानं तेषां तुलनायां समस्थापयत्। कुतोहि स वेदविदहमपि वेदवित् तदा तुलना समीचीना। श्रीकृष्ण एकस्तत्त्वज्ञः महापुरुषो योगिनामप्यासीत् परमयोगी। अत्र प्रश्नः जातः समाहितः। अथ कथयति यत् संसारे पुरुषस्य रूपद्वयमस्ति–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अर्जुन! अस्मिन् संसारे '**क्षरम्**'–क्षयशीलाः, परिवर्तनशीलाः, '**अक्षरम्**'– अक्षयाः, इत्थं परिवर्तनशीलाः अपरिवर्तनशीलाश्च द्विधाः पुरुषाः वर्तन्ते। तेषु सम्पूर्णभूतप्राणिनां शरीरं क्षरं नाशवच्चास्ति, क्षरपुरुषोऽस्ति। अद्य त्वस्तित्वं श्वो नास्ति। अयं कूटस्थपुरुषोऽविनाशी कथ्यते। साधनेन मनसासहितेन्द्रियस्य निरोधोऽर्थात् यस्येन्द्रियसमूहकूटस्थोऽस्ति स एवाक्षर उच्यते, किन्त्वयमपि पुरुषस्यावस्था विशेष एवास्ति। यदि शरीरं शरीरजन्मकारणात् संसारक्रमश्चलति तदा भवान् क्षरपुरुषोऽस्ति। उभाभ्यां भिन्नोऽपि एक अन्यः पुरुषोऽप्यास्ति–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

तयोः क्षराक्षरयोर्द्वयोरत्युत्तमः पुरुषस्त्वन्य एवास्ति, यस्त्रिषु लोकेषु संप्रविश्य सर्वस्य धारणं पोषणञ्च करोत्यविनाशी, परमात्मा, चेश्वरः एवं वर्णितोऽस्ति। परमात्मा–अव्यक्त–अविनाशी–पुरुषोत्तमेत्यादयस्तस्य परिचायकाः शब्दाः सन्ति, वस्तुत अयमन्यैवास्ति अर्थात् अनिर्वचनीयोऽस्ति। अयं क्षराक्षरयोः परे, परा महापुरुषस्यान्तिमावस्थास्ति, यत् परमात्मेत्यादिभिः शब्दैः सङ्केतितः कुतो विद्यते, किन्तु तदन्य अर्थादनिर्वचनीयो वर्त्तते। तस्यां स्थितावेव योगेश्वरः श्रीकृष्णः निजपरिचयं ददाति। यथा–

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

अहमुपर्युक्त नाशवतः, परिवर्तनशीलक्षेत्रतः सर्वथाऽतीतोऽस्मि, अक्षरादविनाशिनः कूटस्थात् पुरुषाच्चाहमुत्तमोऽस्म्यतएव लोके वेदे चाहं पुरुषोत्तमनाम्ना विख्यातोऽस्मि।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

भारत! यथा पूर्वं सविस्तारं वर्णितं यदेवं प्रकारेण ज्ञानीपुरुषः पुरुषोत्तमं मां साक्षात् जानाति, अयं सर्वज्ञः पुरुषः सर्वप्रकारेण मां परमात्मानमेव भजति। स मत्तः नास्ति पृथक्।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

निष्पापार्जुन! अनेन प्रकारेणेदमतिगोपनीयं शास्त्रं मया विवेचितम्। इदं तत्त्वेन ज्ञात्वा मनुष्यः पूर्णज्ञः कृतार्थश्च भवति। अतः योगेश्वरश्रीकृष्णस्येयं वाणी स्वस्यां पूर्णं शास्त्रमस्ति।

श्रीकृष्णस्येदं रहस्यमतीव गोपनीयमासीत्। स केवलमनुरागी वर्गं

प्रत्युक्तवान्। इदं रहस्यमधिकारिणां कृत आसीत्, न सर्वेभ्यः, किन्त्वेदं रहस्यं शास्त्रोल्लेखे समायाति, सर्वेषां पुरतः पुस्तकं भवति अतएव लगति श्रीकृष्णः सर्वानि प्रत्येवोक्तवान्, किन्तु वस्तुत इदमधिकारिभ्य एवास्ति। श्रीकृष्णस्येदं स्वरूपं सर्वेभ्यो नासीत्। कश्चित् कृष्णं राजारूपेण, कश्चिद् दूतरूपेण, कश्चिद् यादवरूपेण मन्यते स्म, किन्त्वधिकारिणमर्जुनं प्रति नासौ किमपि तिरोधानं कृतवान्। अर्जुनोऽपि ज्ञातवान् यदयं परमपुरुषः पुरुषोत्तमः। कृते सति गोपने तस्य कल्याणं न भवितुं शक्यः।

इयमेव विशेषता परमात्मपदं प्राप्तस्य प्रत्येकं महापुरुषस्यान्तराले प्राप्ता दृश्यते। रामकृष्णपरमहंसदेव एकदा बहुप्रसन्नासीत्। भक्ताः पप्रच्छुः- "अद्य तु भवानतिप्रमुदितोऽस्ति।" सोऽब्रवीत्, "अद्याहं सपरमहंसो जातः।" तस्य समकालीनः कश्चिदासीत् महापुरुषः परमहंसः, तं प्रति सङ्केतमकरोत्। किञ्चित् कालानन्तरं स मनसा, कर्मणा, वचसा च विरक्तिं सम्पोष्य स्वानुयायिनः भक्तानगादीत्-"पश्यत, इदानीं यूयं सन्देहं न कुरुत। अहं स एव रामोऽस्मि यस्त्रेतायामभवत्, स एव कृष्णोऽस्मि यः द्वापरे आसीत्। अहं तस्यैव पवित्रात्माऽस्मि, तदेव स्वरूपोऽस्मि। यदि प्राप्तिर्लक्ष्यमस्ति तर्हि मां पश्यत।"

साध्वनेन प्रकारेण 'पूज्य गुरु महाराजाः' अपि कथयन्ति स्म- हो, अहमपि भगवतो दूतोऽस्मि। ये सच्चामुचं साधवः सन्ति, ते परमात्मनः दूताः कथ्यन्ते। ममद्वारैव परमात्मनः सन्देशो मिलति।

ईसामसीहेनोक्तम्- "अहं भगवतः पुत्रोऽस्मि, ममान्तिकमागच्छत एतदर्थं यत् यूयमीश्वरस्य पुत्राः कथयिध्वेः।" अतः सर्वे ईश्वरस्य पुत्राः भवितुं शक्नुवन्ति। आम्- इदं तथ्यं पृथगस्ति यदान्तिकागमनस्य तात्पर्यं तत्प्राप्तिसाधना, साधनक्रमेऽग्रेसरो भवन् सन् तत्पूरणीयम्। मुहम्मद साहबेनोक्तम्- "अहमल्लाहस्य रसूलोऽस्मि, सन्देशवाहकोऽस्मि।" "पूज्य महाराजाः" सर्वानेतदुपदिशन्ति स्म- न कस्यापि विचारस्य खण्डनं न च मण्डनम्, किन्तु ये वैराग्यसाधनायां सपरिकरस्तत्परा आसन् तान् कथयन्ति स्म- "केवलं मम स्वरूपमवलोकयत, यदि तस्य परमतत्त्वस्य कामनाऽस्ति तदा मां पश्यत,

सन्देहं मा कुरुत।" बहुभिः सन्देहः कृतः तर्हि अनुभवे तान् प्रकाश्य कठोरशब्द-प्रयोगं कृत्वा तान् वाह्यविचारेभ्यः परिवर्त्य, यस्मिन् योगेश्वरः श्रीकृष्णस्यानुसारेण (अध्याय २/४०-४३) अनन्ताः पूजा-पद्धतयः सन्ति, स्वस्वरूपे नियोजितवान्। तेऽद्यावधौ महापुरुषरूपेण संस्थिताः सन्ति। अनेन प्रकारेण श्रीकृष्णस्य स्वकीया स्थितिः गोपनीया त्वासीत् किन्तु स्वानन्यभक्तं पूर्णाधिकारिणं अनुरागिणमर्जुनं प्रति च प्रकाशितवान्। प्रत्येकं भक्तस्य कृते सम्भवोऽयं पन्थाः, महापुरुषाः लक्ष्याधिकान् जनान् तस्मिन् मार्गे चालयन्ति।

निष्कर्षः-

अस्याध्यायस्यारम्भे योगेश्वरेण श्रीकृष्णेनोक्तं यदयं संसार एको वृक्षोऽस्ति-पिप्पलसदृशः वृक्षोऽयम्। पिप्पलः मात्रैकमुदाहरणमस्ति। उपरि, पिप्पलस्यास्य मूलं परमात्मा विद्यते, नीचैश्च प्रकृतिपर्यन्तमस्य शाखाप्रशाखाः प्रसृताः सन्ति। यो वृक्षमिमं समूलं वेत्ति, स वेदज्ञोऽस्ति। अस्य संसारवृक्षस्य शाखाः उच्चैः-नीचैश्च सर्वत्र सन्ति व्याप्ताः, 'मूलानि'-तस्य मूलजालमपि नीचैरुपरि च सर्वत्र व्याप्तमस्ति, कुतोहि तन्मूलमेवास्तीश्वरः स च बीजरूपेण प्रत्येकं जीवहृदये निवसति।

पौराणिकमाख्यानमस्ति यदेकदा कमलोपरि समासीनः ब्रह्मा विचारितवान् यन्ममोत्पत्तिः कुतः? यतः कमलात्स प्रादुर्भूतः, तस्मिन् कमलनाले प्रवेशं कुर्वन् चलितुमारेभे। अनवरत गत्या चलन्नेवासीत् किन्तु उद्गमस्थलं स न द्रष्टुं शशाक तदा हताशो भूत्वा तस्मिन् कमलासने स उपविष्टः। चित्तस्य निरोध-क्रियायां बभूव संलग्नः, ध्यानेन च स ब्रह्मा स्वमूलोद्गमं लेभे, परमतत्त्वस्य साक्षात्कारमचीकरत्, प्रार्थयामास च। परमस्वरूपत एव आदेशो मिलितः यत् अहं तु सर्वत्रास्मि, किन्तु मम प्राप्तिस्थानं मात्र हृदयमस्ति। हृदयदेशे यः ध्यायति, स मां लभते।

ब्रह्मा एकः प्रतीकोऽस्ति। योगसाधनायाः परिपक्वावस्थायामेवास्याः स्थितेः जागृतिर्भवति। ईश्वरोन्मुखी ब्रह्मविद्यासंयुक्ता बुद्धिरेव ब्रह्मा समुच्यते। कमलं

सलिले समधिवसन्नपि निर्मलं निर्लेपञ्च प्रतिष्ठते। बुद्धिर्यावदितस्ततोऽन्वेषयति तावन्नासादयति, यदा च सैव बुद्धिः निर्मलताया आसने समासीना मनसासहितेन इन्द्रियसमूहं संयोज्य हृदयदेशे निरुणद्धि तन्निरोधस्यापि विलीनीकरणस्यावस्थायां स्वहृदयान्तर्गतमेव परमात्मानं प्राप्नोति।

अत्रापि योगेश्वरश्रीकृष्णस्य मतानुसारेण संसारो वृक्षोऽस्ति, यस्य मूलं सर्वत्र शाखा अपि सर्वत्र वर्त्तन्ते। 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'– कर्मणामनुसारेण केवलं मनुष्ययोनावेव बन्धनं सन्नद्धायते, बध्नाति च। अपराः योनयस्त्वेतेषां कर्मणामनुसारेण भोगं भुञ्जन्ति। अतः दृढवैराग्यरूपिणा शस्त्रेणेनं संसाररूप-पिप्पलवृक्षं त्वं कृन्तयः तच्च परमपदमन्वेषय, यस्मिन् गताः महर्षयः पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्ति।

कथं ज्ञायेत् यदयं संसारवृक्षश्छेदितः? योगेश्वरः समुदीरयति यत् यः मानमोहाभ्यां सर्वतो विरहितोऽस्ति, यः सङ्गदोषं जितवान्, यस्य कामनाः निवृत्ताः, यश्च द्वन्द्वमुक्तः स पुरुषः परमतत्त्वं प्राप्नोति। तत् परमपदं न च सूर्यः, न च चन्द्रमाः, न चाग्निः प्रकाशयितुं पारयति, स स्वयं प्रकाशस्वरूपोऽस्ति। यत्र गत्वा पुनरावृत्य नेहायान्ति, तन्मे परमंधाम, यस्य प्राप्तेरधिकारः समान-रूपेण सर्वस्याऽस्ति, कुतोहि स जीवात्मा ममैव शुद्धांशः।

शरीरस्य त्यागं कुर्वन् सन् जीवात्मा मनसासहित पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां कार्यकलापं नीत्वा नूतनं शरीरं दधाति। संस्कारः सात्त्विकोऽस्ति चेत्तर्हि सात्त्विकं स्तरं प्राप्नोति, संस्कारः राजसोऽस्ति चेत्तर्हि मध्यमं स्थानम्, तामसश्चेत् संस्कारः तर्हि जघन्ययोनिषु प्रविशति, तथेन्द्रियाणामधिष्ठातुः मनसो माध्यमेन विषयात् पश्यति, भुनक्ति च। नैतत् दृष्टिपथायते, एतस्य दर्शनस्य दृष्टिः ज्ञानमस्ति। किञ्चित् स्मरणस्य नाम ज्ञानं नास्ति। योगिजनाः हृदये चित्तं समाकृष्य सप्रयत्नं तद् द्रष्टुं शक्नुवन्ति, अतो ज्ञानं साधनगम्यमस्ति। आम्, अध्ययनेन तत्प्रत्यभिरु-चिरुत्पद्यते। संशययुक्तो, अकृतार्थात्माजनः प्रयत्ने कृतेऽपि त न प्राप्तुमर्हति।

अत्र प्राप्तिवतः स्थानस्य चित्रणमस्ति। अतस्तस्या अवस्थाया विभूतीनां

प्रवाहः स्वाभाविकोऽस्ति। तदुपरि प्रकाशं विकरन् योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथयति यत् सूर्ये चन्द्रमसि च प्रकाशोऽहमस्मि, अग्नौ तेजोऽहमस्मि। अहमेव प्रचण्डाग्नि-रूपे च चतुर्भिर्विधिभिः परिपचनीयमन्नं पचामि। श्रीकृष्णस्य शब्देष्वन्नमस्ति एकमात्रं ब्रह्म। ('अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' यस्या उपनिषदः श्रीकृष्णः प्रसङ्गममुत्था-पितवान् तस्या निर्णयोऽयमेवास्ति) यं प्राप्त्वात्माऽयं तृप्तो भवति। बैखरीतः परापर्यन्तमन्नं पूर्णपरिपक्वं भूत्वा पच्यते, तत्पात्रमपि विलीयते। इदमन्नमहमेव पाचयामि अर्थात् सद्गुरुः यावत् सारथ्यं न विदधीत् तावदियमुपलब्धिर्न भवति।

अत उपरि बलं ददानेन योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन बावद्यते यत् सर्वेषां प्राणिनामन्तर्देशे स्थितो भूत्वा अहमेव स्मृतिं दापयामि। यत्स्वरूपं विस्मृतमासीत् तस्य स्मरणमहमेव कारयामि। स्मरणेन सह प्राप्तव्यं ज्ञानमप्यहमेवास्मि। तत्र सम्भावितानां बाधानां निराकरणमपि मत्तो भवति। अहमेव वेद्योऽस्मि विदिते सति च बोधस्यान्तकर्त्ताप्यहमस्मि। कः कं विजानीयात्? अहं वेदविदस्मि। अध्यायस्यारम्भे कथितमासीत्, यः संसारवृक्षं मूलसहितं जानाति, स वेद-विदस्ति, किन्तु तस्य छेदक एव जानाति। अत्र कथयति, अहमपि वेदविदस्मि। तेषु वेदवित्सु स्वकीयामपि गणनां करोति। अतः श्रीकृष्णोप्यत्र वेदवित् पुरुषोत्तमोऽस्ति, यं प्राप्तुमधिकारः मानवमात्रस्यास्ति।

अन्ते तेनोक्तं, लोके त्रिप्रकारकाः पुरुषाः सन्ति। भूतादिकानां सम्पूर्णं शरीरं क्षरमस्ति, मनसः कूटावस्थायां पुरुषोऽयमक्षरः, किन्त्वस्ति द्वन्द्वात्मकः इतोऽपि परतो यो स परमात्मापरमेश्वरः, अव्यक्त अविनाशी च समुच्यते, सो वस्तुतोऽन्योऽस्ति। इयं क्षराक्षराभ्यां परावस्थाऽस्ति, इयमेव परमस्थितिः। इमं सुसङ्गतं कुर्वन् कथयति कृष्णः यदहमपि क्षराक्षराभ्यां परतः स एवास्मि। एतस्मात् जनाः मां पुरुषोत्तमं कथयन्ति। अनेन प्रकारेणोत्तमं पुरुषं ये जानन्ति, ते ज्ञानिनो भक्तजनाः सदैव सर्वतो मामेव भजन्ते। तेषामवबोधे नास्त्यन्तरम्। अर्जुन! इदमत्यन्तं गोपनीयं रहस्यमहं त्वां प्रति कथितवान्। प्राप्तिकर्त्तारः सर्वेषां पुरतो न कथयन्ति, किन्त्वधिकारी भक्ततः गोपनमपि न विदधाति। गोपनं करिष्यन्ति चेत्तर्हि भक्तः कथं प्राप्स्यति?

अस्मिन्नध्याये आत्मनस्तिसृणां स्थितीनां चित्रणं क्षराक्षरयोरपि विवेचनम्, तथा बहूत्तमपुरुषस्यरूपेण स्पष्टं कृतम्, यथेतः पूर्वस्मिन् कस्मिन्नपि अध्याये नास्ति। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।।ॐ श्री परमात्मने नमः।।

अथ षोडशोऽध्यायः

योगेश्वरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रश्नानां प्रस्तुतीकरणस्य स्वकीयैका विशिष्टा शैली वर्तते। पूर्वं तु ते प्रकरणस्य विशेषताया उल्लेखं कुर्वन्ति येन पुरुषः प्रश्नाभिमुखं भवेदाकर्षितः, तदनन्तरं स तत्प्रकरणं सुस्पष्टयति। उदाहरणार्थं कर्म गृह्यताम्। स द्वितीयाध्याये प्रेरणामदात्, यदर्जुन! कर्म कुरु। तृतीयाध्याये तेन सङ्केतितं यन्निर्धारितं कर्म कुरु। निर्धारितं कर्मास्ति किम्? तदोक्तं यज्ञस्य प्रक्रियैव कर्मास्ति। पुनस्तेन यज्ञस्य स्वरूपं अनुक्त्वा पूर्वं यज्ञः कुत आयातो ददाति च किम्? इति वर्णितम्। चतुर्थाध्याये त्रयोदश-चतुर्दश विधिभिः यज्ञस्य स्वरूपं स्पष्टं कृतम्, यस्य विधानं कर्म समुच्यते। अत्र कर्म स्पष्टं भवति, यस्य शुद्धार्थोऽस्ति-योगः चिन्तनम्, आराधना, यो समनसेन्द्रियाणाञ्च क्रियया सम्पन्नो भवति।

अनेनैव प्रकारेण तेन नवमाध्याये दैवासुरी च सम्पदोर्नाम गृहीतम्। उभयोः सम्पदोपरि बलं ददौ यदर्जुन! आसुरीस्वभावयुक्ताः मां तुच्छं मत्वा सम्बोधयन्ति। अहमपि मानवशरीरमेवाधारीकृत्य विराजे, कुतोहि इयं स्थितिः मह्यं मानवशरीरेव एव समुपलब्धा। किन्त्वासुरीस्वभाववन्तः, मूढस्वभाववन्तश्च मां नोपासते। यदा तु दैवीसम्पद्युक्ताः भक्तजना अनन्यश्रद्धया मामुपासते, किन्त्वेतासां सम्पदां स्वरूपं गठनञ्चेदानीं यावत् न वर्णितं तेन। इदानीं षोडशाध्याये योगेश्वरस्तासां स्वरूपं सुस्पष्टयितुं संलग्नो भवति, यासु प्रथमं दैवीसम्पदः लक्षणानि सन्ति प्रस्तुतानि-

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

भयस्य सर्वथाऽभावः, अन्तःकरणस्य शुद्धता, तत्त्वज्ञानार्थं ध्याने दृढा-स्थितिरथवा अचल ध्यानम्, सर्वस्वस्य समर्पणम्, इन्द्रियाणां सम्यक् प्रकारेण दमनम्, यज्ञस्याचरणम् (यथा श्रीकृष्णेन चतुर्थाध्याये स्वयं विवेचितम्- संयमाग्नौ हवनम्, इन्द्रियाग्नौ हवनम्, प्राणापानयोर्हवनमन्ते ज्ञानाग्नौ हवनमर्थात् आराधनायाः प्रक्रिया, या केवलं मनस इन्द्रियाणाञ्चान्तर्क्रियया सम्पद्यते। तिलयववेद्यादिभिः सामग्रीभिः सम्पद्यमानस्य यज्ञस्य गीतोक्त यज्ञेन नास्ति कोऽपि सम्बन्धः। श्रीकृष्ण एतादृशं किमपि कर्मकाण्डं यज्ञं न मेने), स्वाध्याय अर्थात् स्वरूपाभिमुखमग्रेसरकारकमध्ययनम्, तपोऽर्थात् मनसासहितमिन्द्रियगण-मिष्टानुरूपं वर्तनं तथार्जवम्, शरीरेन्द्रियसहितान्तःकरणस्य सरलता-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा अर्थादात्मोद्धारः (आत्मानमधोगतौ प्रापणमेव हिंसा कथ्यते। श्रीकृष्णो ब्रवीति- यद्यहं ससावधानं कर्म न करवाणि, तदास्याः सम्पूर्णायाः प्रजायाः हननकर्त्ता वर्णसङ्करस्य च निर्माता भवानि। आत्मनः शुद्धः वर्णोऽस्ति परमात्मा, तस्यात्मनः प्रकृतौ भ्रमणं वर्णसङ्करः कथ्यते। आत्मनः प्रकृतौ भ्रमणमेव हिंसा, तथात्मोद्धार एवाहिंसाऽस्ति), सत्यम् (सत्यस्यार्थः यथार्थप्रियभाषणञ्च नास्ति। भवान् कथयति, इदं वस्त्रं मामकमस्ति, तर्हि किं भवान् सत्यं वदति? इतोऽधिकमलीकमपरं किं भविष्यति? यदा शरीरमेव भवतो नास्ति, नश्वर-मस्ति, तदाऽस्यावरकं वस्त्रं कथं भवतः? वस्तुतः सत्यस्य स्वरूपं योगेश्वरः स्वयं वर्णितवान्, यदर्जुन! सत्यवस्तुनः कालत्रयेऽपि न कदाऽपि भवत्यभावः। अयमात्मैव सत्यमस्ति, परमं सत्यमस्ति-अस्मिन् सत्ये दृष्टिं सन्धानय), क्रोधस्यानाविर्भावः, सर्वस्वस्य समर्पणं, शुभाशुभकर्मफलानां त्यागः, चित्तस्य चञ्चलतायाः सर्वथाऽभावः, लक्ष्यस्य प्रतिकूलं निन्दितकार्यस्याविधानम्, सम्पूर्ण प्राणिषु दयाभावः, इन्द्रियाणां विषयेषु जाते संयोगेऽपि तेष्वासक्तेरभावः, कोमलता, स्वलक्ष्यात् विमुखे सति लज्जा, व्यर्थचेष्टानां सर्वथाऽभावः तथा-

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

तेजः (यदेकमात्रेश्वरे चकास्ति, तस्य तेजसा जगतः कार्यं चलति। महात्मनः बुद्धस्य दृष्टिपातानन्तरमेवाङ्गुलिमालस्य विचारेजातं परिवर्तनम्। एतत् तत्तेजस एवासीत् परिणामः, येन तेजसा कल्याणं सृज्यते, यदासीन्महात्माबुद्धे), क्षमा, धैर्यम्, शुद्धिः, कस्मिन्नपि शत्रुभावाभावः, स्वस्मिन् पूज्यतायाभावस्य सर्वथाऽभावः– अर्जुन! एतत्यदुक्तं लक्षणं तत्दैवीसम्पदं प्राप्तस्य पुरुषस्यास्ति। अनेन प्रकारेण षड्विंशति लक्षणानि वर्णितानि, यानि सर्वाणि साधनायां परिपक्वावस्थायुते पुरुषे मिलन्ति। आंशिकरूपतश्च भवत्यपि सुनिश्चितानि। आसुरीसम्पदाप्लावितस्य मनुष्यस्यापीमे गुणाः वर्त्तन्ते, किन्तु प्रसुप्ताः भवन्ति, तस्मादेव जघन्यपापाचारिणः कृतेऽपि कल्याणस्याधिकारो वर्त्तते। इदानीमासुरी सम्पदः प्रमुखानि लक्षणानि प्रवदति श्रीकृष्णः–

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

पार्थ! पाखण्डः, गर्वः, अभिमानः, क्रोधः, कटुवचनम्, अज्ञानञ्चेमानि पूर्वोक्तानि लक्षणान्यासुरीसम्पदोयुक्तस्य पुरुषस्य सन्ति। उभयोः सम्पदोः कार्यं किमस्ति?–

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

उक्तोभयोः सम्पदोः दैवीसम्पत्तु '**विमोक्षाय**'– विशेषमोक्षार्थमस्ति, आसुरीसम्पच्च बन्धनाय मान्यतां प्राप्तवती। अर्जुन ! त्वं मा शुचः, कुतोहि प्राप्तदैवीसम्पदोऽसि। विशेषां मुक्तिं प्राप्स्यसि अर्थात् मां प्राप्स्यसि। ताः सम्पदः क्व तिष्ठन्ति?–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

अर्जुन! अस्मिन् संसारे जीवानां स्वभावो द्विविधो भवति– देवानामिव तथाऽसुराणामिव। यदा हृदये दैवीसम्पत् कार्यरूपं धारयति तदा मानवो देवता समुच्यते, यदाऽऽसुरीसम्पदो भवति बाहुल्यं तदा मनुष्योऽसुरायते। सृष्टाविमे द्वे जाती विद्येते। उक्तजातिद्वयान्तर्गतो मानवः कामं अरबदेशे प्रादुर्भूतो भवेत्, कुद्वा आस्ट्रेलियायाम्, कुत्रापि गृहीत जन्माभवेत्, वस्तुतः जातिद्वयान्तर्गतमेव तस्य जन्म। इदानीं यावत् देवानां स्वभावः सविस्तारं वर्णितः। सम्प्रति असुराणां स्वभावं मत्तो विस्तारपूर्वकमाकर्णय–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

अर्जुन! असुरगणाः 'कार्यं कर्म' प्रवर्तितुं तथा अकर्त्तव्यकार्यात् निवर्तितुमपि न जानन्ति। अतएव तेषु न वर्तते शुद्धता न चाचरणम्, न सत्यं समुपलभ्यते। तेषां पुरुषाणां विचाराः कीदृशा भवन्ति?–

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

आसुरीप्रकृतिशीलाः ते मनुष्याः कथयन्ति यज्जगदाश्रयरहितमस्ति, सर्वथाऽलीकमस्ति, ईश्वरं विना च स्वयमेव स्त्री पुरुषयोः संयोगादुत्पन्नमस्ति अतएव केवलं भोगानां भोगायैवास्ति इदं जगत्, अतो व्यतिरिक्तमपरं किमस्ति?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

अस्य मिथ्यादृष्टिकोणस्यावलम्बेन येषां स्वभावः प्रनष्टो जातो वर्तते, ते मन्दबुद्धयः, अपकारिणः, क्रूरकर्माणः मनुष्याः केवलं जगतः विनाशायैवोत्पद्यन्ते।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

ते मनुष्याः दम्भमानमदादियुक्ताः सन्तः। केनापि प्रकारेण न पूरयितुमर्हाणां कामनानामाश्रयं गृहीत्वा, ज्ञानेन मिथ्यासिद्धान्तान् गृहीत्वा, अशुभ तथा

भ्रष्टव्रतादिभिर्युक्ता भवन्तः संसारे प्रवर्तन्ते। ते व्रतमपि कुर्वन्ति किन्तु सन्ति पथभ्रष्टाः।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

तेऽन्तिमश्वासं यावत् नानाचिन्तां धारयन्तो जीवन्ति, विषयाणामुपभोगे तत्परास्ते 'अलमेतावदानन्द' इति मन्यन्ते। तेषां मान्यता भवति यत् यावद्भवेत्सम्भवो भोगस्य सङ्ग्रहश्चयनीयः, नातः परं किमप्यस्ति।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

आशारूपीसु शताधिकशूलीषु (एकया शूल्या जनाः म्रीयन्ते, अत्र तु शताधिक शूल्यः) तत्र सन्ति निबद्धाः, कामक्रोधे परायणाः विषयभोगानां पूर्त्तये तेऽन्यायपूर्वकं धनादिकं बहुपदार्थ जातं चेतुं चेष्टां कुर्वन्ति। अतो धनार्जनाय ते रात्रिं-दिवमसामाजिकं पदमुत्थापयन्ति। अग्रे कथयति-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

ते विचारयन्ति यन्मया अद्यैतदुपलब्धममुं मनोरथं प्राप्स्यामि, मम सविधे एतावद्धनमस्ति, पुनः कदाचिदियद्धनं भविष्यति।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

स शत्रुर्मया व्यापादितः, अपरानपि शत्रून् व्यापादयिष्यामि। अहमेवेश्वरस्य ऐश्वर्यस्य च भोक्तास्मि। अहं सिद्धियुक्तः बलवान्सुखी चास्मि।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

अहमतीव धनी, महत् कुटुम्बवानस्मि। न मम सदृशः कोप्यपरः। अहं

यज्ञं करिष्यामि, दानं दास्यामि, हर्षं लप्स्ये एतत् प्रकारकाज्ञानेन विमोहिता भवन्ति। किं यज्ञः दानञ्चाप्यज्ञानमस्ति? अत उपरि सप्तदशतमे श्लोके स्पष्टं कृतमस्ति। एवं जातेऽपि ते नहि विरमन्ति, प्रत्युदनेकभ्रान्तीनां मृगया जायन्ते। अत उपरि कथयति–

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

नाना प्रकारेण भ्रान्तचित्ताः, मोहजाले निबद्धाः, विषयभोगेष्वत्यन्त–मासक्तास्ते दुष्टासुरीस्वभावयुक्ताः मनुष्या अपवित्र नरके पतन्ति। अग्रे चलित्वा कृष्णः स्वयं वक्ष्यति किमस्ति नरकः?

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

आत्मानं श्रेष्ठं मन्यमानाः, धनमानमदयुक्ताभूत्वा ते सगर्वा मनुष्या शास्त्रविधिरहितं केवलं नाममात्रैः यज्ञैः सपाखण्डं यजनं कुर्वन्ति। किं तदेव यज्ञं कुर्वन्ति, यथा कृष्णेनोक्तम्?

नहि, तं विधिं परित्यज्य यजन्ते, कुतोहि विधिः योगेश्वरेण स्वयं वर्णितः। (अध्याय ४/२४–३३ तथा अध्याय ६/१०–१७)

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

ते परनिन्दाकर्त्तारो, अहङ्कारे, बले, गर्वे, कामनायां, क्रोधे च परायणाः पुरुषाः स्वस्य परस्य च शरीरे च स्थितं मामन्तर्यामिनं परमात्मानं द्वेषबुद्ध्या पश्यन्ति। शास्त्रविधिना परमात्मनः स्मरणमस्त्येको यज्ञः। त इमं विधिं विहाय नाममात्रस्य यज्ञं कुर्वन्ति, यज्ञस्य नाम्ना किञ्चित् न किञ्चित् कुर्वन्तः सन्ति, ते स्वस्मिन् शरीरे तथा परस्य शरीरे स्थितं मां परमात्मानं निन्दन्ति। जनाः द्वेषं कुर्वन्ति, सुरक्षिताश्च भवन्ति, किमेतेऽपि भविष्यन्ति सुरक्षिताः? अत उपरि कथयति–नहि,

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

मत्तो द्वेषकर्तॄन् पापाचारिणः, क्रूरकर्माणः नराधमानहं संसारे निरन्तरमासुरी योनिषु पातयामि। ये शास्त्रविधिं परित्यज्य यजन्ते ते पापयोनयः मनुष्येष्वधमाः कथ्यन्ते, इमे क्रूरकर्माणः कथिताः सन्ति। नान्येकेऽपि सन्त्यधमाः। पूर्वमुक्त-मासीत्, एतादृशानधमानहं नरके पातयामि। तदेवात्रापि कथयति यत् तानजस्त्रमासुरी योनिषु पातयामि। एष एव नरकोऽस्ति। साधारणकारागारयातनाऽपि भवति भयङ्करी, इहानवरतमासुरी योनिषु पतनस्य क्रमः कियान् दुःखदोऽस्ति? अतः दैवीसम्पदि प्रयत्नशीलेन भवितव्यम्।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

कौन्तेय! मूर्खाः मनुष्याः जन्म-जन्मान्तरं यावदासुरीं योनिं प्राप्ताः सन्तः मां न लब्ध्वा पूर्वतोऽप्यतिनीचां गतिं लभन्ते, यस्यास्ति नाम नरकः। पश्यन्तु, कुतः नरकस्याविर्भावः?

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

कामक्रोधलोभाश्च त्रय इमे नरकस्य मूलद्वाराणि सन्ति। इमे आत्मनो नाशका सन्ति, तमधोगतिं प्रापकाः सन्ति। अत एतेषां त्रयाणां त्यागः कर्त्तव्यः। एतेषां त्रयाणामुपर्यासुरीसम्पद् स्थिता वर्त्तते। एतत् त्यागेन लाभः?-

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

कौन्तेय! नरकस्यैतत् द्वारत्रयेण मुक्तः पुरुष एव परमकल्याणायाचरणं कर्त्तुं सक्षमो भवति, येन स परमगतिमर्थात् मां लभते। एतेषां कामादि विकार त्रयाणां त्यागे सत्येव मनुष्यो नियतं कर्म करोति, यस्य परिणामः परमश्रेयोऽस्ति।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

यः पुरुष उपर्युक्त शास्त्रविधिं विहाय (अर्थात् तच्छास्त्रं न किमप्यन्यं शास्त्रम् 'इति गुह्यतमं शास्त्रम्'– १५–२०, गीता स्वयं पूर्णशास्त्रमस्ति, यच्छास्त्रं श्रीकृष्णेन स्वयमेव प्रत्यपादि, तं विधिं विहाय) स्वेच्छया व्यवहरति, न स सिद्धिं लभते न च परमगतिं सुखञ्च।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

अतएवार्जुन! त्वदर्थमनयोः कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः व्यवस्थायामहं किं करवाणि किञ्च न करवाणि?– अस्यां व्यवस्थायां शास्त्रमेवैकं प्रमाणमस्ति। एवं ज्ञात्वा शास्त्रविधिर्प्रतिपादिताः नियतकर्मैव त्वया कर्त्तुं योग्यमस्ति।

तृतीयाध्यायेऽपि योगेश्वरः श्रीकृष्णः 'नियतं कर्म कुरु' इति नियतकर्मोपरि बलं दत्तवानुक्तवान् च यज्ञस्य प्रक्रियैव तन्नियतं कर्मास्ति। तच्च यज्ञाराधनायाः विधिविशेषस्य चित्रणमस्ति यं मनसः सर्वथा निरोधं कृत्वा शाश्वते ब्रह्मणि प्रवेशं दापयति। अत्रोक्तं तेन यत् कामक्रोधलोभाश्च नरकस्य त्रीणि प्रमुख द्वाराणि सन्ति, एतेषां त्रयाणां त्यागे सति तत्कर्मणः (नियतकर्मणः) आरम्भो भवति। यस्य वर्णनं भूयोभूयो मया कृतम्। यः परमश्रेयसः परमकल्याणस्य च प्रदायकमाचरणमस्ति। बहिः सांसारिककार्येषु यो यावान् व्यस्तोऽस्ति, तावानेवाधिकाः कामक्रोधलोभाश्च तस्य पार्श्वे सुसज्जिता विराजन्ते। कर्म कीदृशमेवं वस्त्वस्ति यत् कामक्रोधानां त्यागोत्तरमेव तस्मिन् प्रवेशो मिलति। कर्मणस्तदाचरणे जायते सन्निवेशः। यः शास्त्रविधिं परित्यज्य स्वेच्छयाचरणं करोति, तस्यकृते सुखसिद्धिः परमगतिश्च न सुलभा। इदानीं कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः व्यवस्थायां शास्त्रमेवैकमात्रप्रमाणमस्ति। अतः शास्त्रविध्यनुसारेण कर्माचरणं त्वदर्थं समीचीनमस्ति। तच्छास्त्रं गीतैवास्ति।

निष्कर्षः–

अस्याध्यायस्य प्रारम्भे योगेश्वरेण कृष्णेन सविस्तरं दैवीसम्पदः वर्णनं कृतम्। यस्यां ध्याने सुस्थितिः, सर्वस्वस्य समर्पणम्, अन्तःकरणस्य शुद्धिः, इन्द्रियाणां दमनम्, मनसः शमनम्, स्वरूपस्य स्मरणदायकमध्ययनम्, यज्ञार्थं

प्रयत्नः, मनसासहितमिन्द्रियाणां तापनम्, अक्रोधः, चित्तस्य शान्तौ प्रवाहित भवनमित्यादि षड्विंशति लक्षणान्युक्तानि यानि लक्षणानीष्टस्यान्तिकं प्राप्तौ योगसाधनायां प्रवृत्ते कस्मिन् साधके सम्भवानि सन्ति। आंशिकरूपेण सर्वेषु वर्त्तन्ते।

तदनन्तरं तेनासुरीसम्पदः प्रधानरूपेण पञ्चषा विकाराणां नामवर्णितम्। यथा-अभिमानः, दम्भः, कठोरता, अज्ञानं, कटुभाषणमित्यादि, अन्ते च निर्णयमदात् यदर्जुन! दैवीसम्पदस्तु 'विमोक्षाय' पूर्णरूपेण निवृत्यर्थं सन्ति, परमपदस्य प्राप्तेः कारणानि, आसुरीसम्पदश्च बन्धनार्थमधोगतिप्रदानाय च सन्ति। अर्जुन! शोकं मा विधेहि, कुतोहि त्वं प्राप्तदैवीसम्पदोऽसि।

इमाः सम्पदः क्व भवन्ति? तेनोक्तमस्मिन् संसारे मनुष्याणां स्वभावो द्विविधो भवति- देवानामिवासुराणामिव च। यदा दैवीसम्पदः बाहुल्यं भवति तदा मनुष्यो देववज्जायते, यदा चासुरीसम्पदः बाहुल्यं भवति तदा मनुष्यो-ऽसुरवज्जायते। सृष्टौ केवलं मनुष्याणामेव जातियुगलम्, कामं स कुत्रापि प्रादुर्भवेत्, किमपि सम्बोधनं लभेत्?

तदनन्तरं तेनासुरीस्वभाववतां मनुष्याणां लक्षणं सविस्तरं वर्णितम्। आसुरीसम्पद्वान् पुरुषः कर्त्तव्यकर्मणि प्रवर्तितुं जानात्येव नहि, अकर्त्तव्य कर्मणो निवर्तितुमपि न जानाति। यदासौ कर्मणि प्रवृत्त एव नाभवत् तदा तु तस्मिन् न सत्यं भवति, न शुद्धिः, न चाचरणम्। तस्य विचारे जगन्निराश्रयम्, ईश्वरं विनापि स्वयं स्त्री-पुरुषयोः संयोगात् समुत्पन्नं बभूव। अतः केवलं भोग-भोगाय जगदिदम्। अतः परं किमस्ति? अयं विचारः कृष्णस्यापि काले चलति स्म, पूर्वमप्यासीत्। केवलं चार्वाकेनैव विचारोऽयं प्रचारितो नैतत्तथ्यम्। यावज्जनमानसे दैव्या-आसुर्याश्चसम्पदः पतनोत्थानमस्ति तावत्स्थास्यति। श्रीकृष्णो वदति-ते मन्दबुद्धयः, क्रूरकर्माणः पुरुषाः सर्वेषामहिताय (कल्याणस्य नाशाय) संसारे प्रादुर्भवन्ति। ते कथयन्ति, ममद्वारेण शत्रुरयं हतः अपरञ्च हनिष्यामि। अनेन प्रकारेण, अर्जुन! कामक्रोधवशीभूतास्ते पुरुषाः शत्रून् नघ्नन्ति, प्रत्युत् स्वशरीरे तथा परस्य शरीरे स्थितं मां परमात्मानं प्रति द्रोहं कुर्वन्ति। तर्हि किमर्जुनः प्रणं कृत्वा जयद्रथादीन् हतवान्? यदि हन्ति तर्हि आसुरीसम्पद्युक्तोऽर्जुनः परमात्मना सह द्वेषकर्त्तास्ति, यदात्वर्जुनं सुस्पष्टमुक्तवान्

श्रीकृष्णः-त्वं दैवीसम्पदं प्राप्तवानसि, चिन्तां मा कुरु। अत्रापि स्पष्टमभवत् यदीश्वरस्य निवासः सर्वेषां हृदयदेशे वर्त्तते। स्मरणीयमेतत् यत्त्वां कश्चित् सततं निरीक्षमाणो विराजते। अतः सदैव शास्त्रनिर्दिष्टायाः क्रियायाः कर्त्तव्यमाचरणमन्यथा दण्डः प्रस्तुतोऽस्ति।

योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन पुनरुदीरितं यत् आसुरीसम्पद्युताः क्रूराः मनुष्याः मया भूयोभूयो नरके पात्यन्ते। नरकस्य स्वरूपं किमस्ति? तदोक्तवान्- भूयोभूयः नीचाधमयोनिषु पतनं परस्परं पर्यायौ स्तः। एतदेव नरकस्य स्वरूपम्। कामक्रोधलोभाश्च नरकस्य त्रीणि प्रमुख द्वाराणि सन्ति। एतेषु द्वारत्रयेषु आसुरी-सम्पदः सन्ति समाश्रिताः। एतेषां त्रयाणां त्यागोत्तरं तस्य कर्मण आरम्भो भवति यस्य मया वारं-वारं चर्चा कृता। सिद्धमभवत् यत् कर्मैतादृशं किमपि वस्त्वस्ति, यस्यारम्भः कामक्रोधलोभानाञ्च त्यागानन्तरमेव भवति।

सांसारिक कार्येषु समर्यादं सामाजिकव्यवस्थानिर्वाहस्य चिन्तने ये सन्ति व्यस्ताः, कामक्रोधलोभादयस्तेषां समीपमतिसुसज्जिताः समायान्ति। वस्तुत एतेषां त्यागेन परमात्मनि प्रवेशदायके निर्धारित कर्मणि प्रवेशो मिलति। अतो अहं किं करोमि किन्न करोमि?- एतत् कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः शास्त्रमेव प्रमाणमस्ति। तच्च शास्त्रं किम्? इयमेव गीता शास्त्रम्, 'किमन्यै शास्त्रविस्तरैः'। अतएव एतच्छास्त्रनिर्धारितंकर्म विशेषम् (यथार्थं कर्म) त्वं विधेहि।

अस्मिन्नध्याये योगेश्वरेण कृष्णेन दैव्यासुरी सम्पदोः सविस्तरं वर्णनं विहितम्। तयोः स्थानं हृदयमादिदेश मानवस्य, तस्य फलं चाब्रवीत्। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽ-ध्यायः।।१६।।

इतिश्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्यशिष्यस्वामीअड़गड़ानन्दकृते'यथार्थ गीता'भाष्ये'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो'नामषोडशोऽध्यायः।।१६।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

षोडशाध्यायस्यावसाने योगेश्वरेण कृष्णेन सुस्पष्टमुदीरतं यत् कामक्रोध-लोभानां त्यागोत्तरं भवति कर्मारम्भः, यन्मया भूयोभूयः प्रतिपादितम्। यस्य नियतकर्मणः विधानं विना न सुखम्, न सिद्धिः, न च परमगतिर्लभ्यते। अतएव साम्प्रतं त्वदर्थं कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः व्यवस्थायां किं कार्यं किञ्च न कार्यमस्मिन् सम्बन्धे शास्त्रमेव प्रमाणमस्ति। नान्यच्छास्त्रमपि प्रमाणम्, किन्त्वस्मिन् गीताशास्त्रोपरि दृष्टिं देहि, नापरं शास्त्रमन्वेष्टव्यम्। अन्यत्रान्वेषणे कृते सतीयं क्रमबद्धता न मेलिष्यति, अतो भ्रान्तिरेव भविष्यति। अत उपरि अर्जुनः प्रश्नं कृतवान् यद् भगवन्! ये जनाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य पूर्णश्रद्धायुक्ताः सन्तः '**यजन्ते**'- यजनं कुर्वन्ति, तेषां का गतिः- सात्विकी, राजसी, तामसी वा? कुतोहि पूर्वमर्जुनेन श्रुतमासीत् यत् सात्विकराजसतामसगुणाः यावत् विद्यन्ते, तावत् यस्याः कस्याः योनेः कारणानि भवन्ति। अतएव प्रस्तुताध्याये आरभत एवार्जुनः प्रश्नं कृतवान् –

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

कृष्ण! यो मनुष्यः शास्त्रविधिं परित्यज्य सश्रद्धो यजते तस्य का गतिर्भवति? सात्विकी गतिः राजसी गतिस्तामसी गतिर्वा? यजने देवतायक्षभूतादयः सर्वे समायान्ति।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

द्वितीयाध्याये योगेश्वरणोपदिष्टमासीत् यदर्जुन! अस्मिन् योगे निर्धारिता क्रियैका एवास्ति। अविवेकिनां बुद्धिरनन्तशाखायुता भवति, अतएव तेऽनन्त-क्रियाणां विस्तारं कुर्वन्ति, प्रदर्शनार्थं शोभायुक्तायां वाण्यां तां व्यक्तमपि कुर्वन्ति। तेषां वचसां प्रभावो येषां चित्ते प्रभवति, अर्जुन! तेषामपि बुद्धिर्विनष्टा भवति, न तु किमपि ते लभन्ते। विधिवदस्य भावस्य अत्रापि पुनरावृत्तिर्वर्त्तते यत् '**ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य**'-शास्त्रविधिं त्यक्त्वा भजन्ते, तेषां श्रद्धापि त्रिधा भवति।

अत उपरि श्रीकृष्णेनोक्तम्- मनुष्यस्वभावतः समुत्पन्ना सा श्रद्धा सात्विकी, राजसी, तामसी एवं त्रिधा भवति, तां त्वं मत्तः शृणु। मनुष्यस्य हृदये श्रद्धेय-मविरला अस्ति।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

भारत! सर्वेषां मनुष्याणां श्रद्धा तेषां चित्तवृत्यनुरूपा भवति। पुरुषोऽयं श्रद्धामयः। अतएव यः पुरुषो यथा श्रद्धावानस्ति, स स्वयमपि तदेवास्ति। प्रायः जनाः पृच्छन्ति-अहं कोऽस्मि? कश्चित् कथयति, 'अहम् आत्माऽस्मि।' किन्तु नहि, अत्र योगेश्वरः कृष्णः भणति यत् यादृशी श्रद्धा, यथा वृत्तिः, तथैव पुरुषो भवति।

गीता योगदर्शनमस्ति। महर्षि पतञ्जलिरप्यासीत् योगी। तस्य योगदर्शनमस्ति। योगः किमस्ति? तेनोक्तम्, '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**'- चित्तवृत्तिनां सर्वथा विरामो योगः कथ्यते। केनचित् पुरुषेण परिश्रमं कृत्वा चित्तावरोधः कृतस्तर्हि को लाभः? ''**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**'' तस्मिन् समये द्रष्टाऽयं जीवात्मा स्वशाश्वतस्वरूपे स्थितो भवति। किं स्वरूपस्थितेः पूर्वं स मलिन आसीत्? अत्र कथयति पतञ्जलिः, ''**वृत्तिसारूप्यमितरत्र।**'' अपरस्मिन् समये यथा वृत्तेः रूपं भवति, तथैव स जीवात्मा द्रष्टा वा। अत्र योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथयति- अयं पुरुषः श्रद्धामयोऽस्ति, श्रद्धया परिव्याप्तः, क्वचिन्न क्वचित् श्रद्धावश्यं भवति। यादृश श्रद्धावानस्ति सोऽपि तथैव। यथा वृत्तिस्तथा पुरुषः। तं प्रति तिसृणां श्रद्धानां विभाजनं करोति कृष्णः-

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

तेषु सात्विकपुरुषाः देवान् पूजयन्ति, राजसपुरुषाः यक्षराक्षसांश्च पूजयन्ति तथान्ये तामसपुरुषाः प्रेतभूतान् पूजयन्ति। ते पूजनेऽविरामपरिश्रममपि कुर्वन्ति–

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

ते मनुष्याः शास्त्रविधिरहितं घोरं कल्पितं (कल्पितक्रियां विरच्य) तपस्–कुर्वन्ति। दम्भाहङ्काराभ्यां युक्ता, कामनासक्त्योश्च बलेन च निबद्धाः–

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

ते शरीररूपे भूतसमुदायमन्तःकरणे च स्थितं मामन्तर्यामिनमपि कृशं कुर्वन्ति अर्थात् निर्बलं कुर्वन्ति। आत्मा प्रकृतेर्विवरेषु सम्प्राप्य विकारैः दुर्बलायते, यज्ञसाधनैश्च सबलायते। तानज्ञानीजनान् (अचेतान्) त्वं निश्चय- रूपेणासुरं जानीहि–अर्थात् ते सर्वे असुराः सन्ति। प्रश्नः पूर्णतामगात्।

शास्त्रविधिं विहाय भजनकर्त्तारः सात्विकपुरुषाः देवान्, राजसपुरुषाः यक्षान्, तामसपुरुषाश्च भूतप्रेतानर्चन्ति। केवलं पूजयन्त्येव नहि घोरं तपस्तपन्ति किन्तु अर्जुन! शरीरधारी भूतेष्वन्तर्यामीरूपेण स्थितं मां परमात्मानं कृशयन्ति, मत्तः व्यवधानं जनयन्ति न तु भजन्ते। तान्स्त्वमसुरं जानीहि अर्थात् देवानां पूजका अपि सन्त्यसुराः। इत अधिकं कश्चित् किं वक्ष्यति? अत इमे यस्य सर्वे अंशमात्रं सन्ति, तस्य मूलभूतस्यैकस्य परमात्मनो भजनं कर्त्तव्यम्। अस्योपरि परमयोगेश्वरः श्रीकृष्णः भूयो-भूयः बलं दत्तवान्।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

अर्जुन! यथा श्रद्धा त्रिधा भवति तथा सर्वेभ्यः स्व-स्व प्रकृत्यनुसारेण भोजनमपि त्रिधा रोचते तथैव यज्ञः, तपः, दानञ्च अपि त्रित्रिप्रकारका भवन्ति। तेषां भेदान् त्वं मत्तः शृणु। पूर्वं प्रस्तुतोऽस्त्याहारः–

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

आयुः, बुद्धिः, बलम्, आरोग्यं, सुखं, प्रीतिश्च सम्बर्द्धकाः, रसयुक्ताः, पेशलाः स्थिराश्च स्वभावतः हृदयाय प्रिया भोज्यपदार्थाः सात्विकपुरुषेभ्यः रोचन्ते।

योगेश्वरश्रीकृष्णानुसारेण सहजरूपेण हृदयस्य प्रियाः, बलारोग्य बुद्धिरायूंषि च परिपोषकाः भोज्यपदार्थाः सात्विकाः सन्ति। ये भोज्यपदार्थाः सात्विका सन्ति त एव सात्विकमनुष्येभ्य रोचन्ते। तेन स्पष्टं भवति यत् किमपि खाद्यं वस्तु सात्विकं, राजसं तामसञ्च न भवति, तस्य प्रयोगः सात्विकः, राजसस्तामसश्च भवति। न दुग्धं सात्विकमस्ति, न पलाण्डुः राजसमस्ति, न च रसोनः तामसमस्ति।

यत्र यावत् बलाय, बुद्ध्यै, आरोग्याय, हृदयाय प्रिय लग्नस्य प्रश्नोऽस्ति तर्हि संसारे मनुष्येभ्यः स्व-स्वप्रकृति, वातावरण, परिस्थितेश्चानुकूलतया विभिन्न खाद्यसामग्र्यः प्रियाः भवन्ति। यथा-बङ्गीयेभ्यः माद्रेभ्यस्तण्डुलाः प्रिया भवन्ति, पञ्चनददेशीयेभ्यः करपट्टिका प्रिया भवति। एकतस्तु अरबदेशीयेभ्यः पललाविः (दुम्बा भेड़ा), चीनदेशीयेभ्यः मण्डूकाः, अपर ध्रुव प्रदेशस्य मानवेभ्यः मांसं विना नास्ति निर्वाहः। रूसस्य मङ्गोलियायाश्चादिवासिनां खाद्यमश्वोऽस्ति, यूरोपवासिनः गां सूकरं चोभयं खादन्ति। पुनरपि विद्यायां बुद्धिविकासे तथा समुन्नतौ अमेरीकिनाः यूरोपवासिनश्च प्रथमश्रेण्यां गण्यन्ते।

गीतानुसारेण रसयुक्ताः, स्निग्धाः, स्थिराः भोज्यपदार्थाः सात्विकाः सन्ति। दीर्घायुष्करम्, स्वास्थ्यानुकूलम्, बलबुद्धिवर्धकम्, आरोग्यकरञ्च पदार्थ जातं सात्विकमस्ति। स्वभावतः रुचिकरः भोज्य पदार्थः हृदयाय सात्विकोऽस्ति। अत्र कुत्रापि कस्यापि खाद्यपदार्थस्य परिवर्तनं नोचितम्। परिस्थिति, परिवेश, देशकालानुसारेण यद् भोज्यं वस्तु सहजभावेन प्रियं लगेत्, जीवनीशक्तिञ्च वितरेत् तदेव सात्विकः भोज्यपदार्थः। वस्तु सात्विकं, राजसं, तामसं न भवति, तस्य प्रयोगः सात्विकः, राजसः तामसश्च भवति।

इत्युक्त सन्तुलनाय यो व्यक्तिः गृहं परिवारं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधने

लिप्तोऽस्ति, संन्यासाश्रमे विद्यते, तेषां कृते मांसः मदिरा च वर्ज्यास्ति, कुतोहि अनुभवेन परीक्षितमस्ति यत् ये पदार्था आध्यात्मिक मार्गस्य विपरीतं मनोभावं रचयन्ति, अत एभिर्पदार्थैः साधनपथात् पतनस्याधिका सम्भावना भवति। ये एकान्तदेशं सेवनकर्त्तारः सन्ति विरक्ताः, तेषां कृते योगेश्वरः श्रीकृष्णः षष्ठाध्याये आहारस्य कृते एको नियमो निर्दिष्टः यत् 'युक्ताहारविहारस्य' इमं नियमं ध्याने निधायाचरणीयम्। यो नियमो भजने सहायकोऽस्ति तावानेवाहारः ग्रहणीयः।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

कटुरसान्वितम्, अम्लरसयुतम्, अत्यधिकलवणमिश्रितम्, अत्यन्तोष्णम्, तीक्ष्णं, शुष्कं, दाहकारकं, दुःखचिन्तारोगवर्धकञ्च खाद्यं राजसपुरुषेभ्यः रोचते।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

यदशनं प्रहरात् (होरात्रयम्) पूर्वत एव निर्मितं स्यात् '**गतरसम्**'-एवं रसरहितं, सदुर्गन्धं, पर्युषितम्, उच्छिष्टम्, अपवित्रमप्यस्ति स आहारः तामस पुरुषेभ्यो रोचते। प्रश्नः पूर्णतां गतः। इदानीं प्रस्तुतोऽस्ति यज्ञः–

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

यो यज्ञः '**विधिदृष्टः**'-शास्त्रविधिना निर्धारितः कृतो वर्तते (यथा तृतीयाध्याये यज्ञस्य नाम गृहीतम्, चतुर्थाध्याये यज्ञस्य स्वरूपो वर्णितः यद् बहवः योगिजनाः प्राणमपाने, अपानं प्राणे जुह्वति। प्राणापानयोर्गतिं निरुध्य प्राणानां गतिं स्थिरयन्ति, संयमाग्नौ हवनं कुर्वन्ति। अनेन प्रकारेण यज्ञस्य चतुर्दश सोपानानि वर्णितानि, यानि सर्वाणि ब्रह्मप्राप्ति यावत् मार्गस्य दूरीं निवर्तयन्ति, तान्येकस्या एव क्रियाया उच्चावचाऽवस्थाः सन्ति। संक्षेपतः यज्ञ चिन्तन-विशेषस्य प्रक्रियायाः चित्रणमस्ति। यस्य परिणामः सनातनब्रह्मणि प्रवेशो बोध्यः। यस्य विधानमस्मिन् शास्त्रे कृतमस्ति।

तच्छास्त्रविधानोपरि भूयोभूयो बलं ददाति कृष्णः, अर्जुन! शास्त्रविधिना नियताः कृताः, येषां विधानं कर्त्तव्यमस्ति तथा यो मनसः निरोधकारकोऽस्ति, यो निष्कामेन पुरुषेण विधीयते, सः यज्ञः सात्विकोऽस्ति।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

अर्जुन! यो यज्ञः केवलं दम्भाचरणाय भवेदुद्वाफलमुद्दिश्य विधीयते, तं यज्ञं राजसं विद्धि। अयं यज्ञकर्त्ता यज्ञस्य विधिं जानाति किन्तु दम्भाचरणात् तथा फलं लक्ष्यीकृत्य करोति यदमुक वस्तु प्राप्स्यति तथा जनाः पश्यन्तु यदयं यज्ञं करोति, पश्चात् प्रशंसां करिष्यन्ति एवं यज्ञकर्त्ता वस्तुतः राजसोऽस्ति। इदानीं तामस यज्ञस्य स्वरूपं वर्णयति–

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

यो यज्ञः शास्त्रविधिरहितोऽस्ति, यदन्नम् (परमात्मनः) सृष्टिविधाने असमर्थमस्ति, मनसोऽन्तराले निरोधनक्षमतारहितोऽस्ति, दक्षिणाऽर्थात् सर्वस्व समर्पणरहितोऽस्ति तथा श्रद्धाविहीनोऽस्ति, एतादृशो यज्ञः तामस यज्ञः समुच्यते। एवं तामसः पुरुषः वास्तविकयज्ञं जानात्येव नहि। साम्प्रतं तपः प्रस्तूयते–

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

परमदेव परमात्मा, द्वैतोपरि जयप्राप्तकर्त्तुः द्विजस्य, सद्गुरोः ज्ञानीजनस्य च पूजनं, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्यं तथाहिंसा शारीरं तपः समुच्यते। शरीरं सदा वासनाभिमुखं परिभ्रमति, इदं शरीरमन्तःकरणस्योपर्युक्त वृत्यनुरूपं तापनं शारीरिकं तपः कथ्यते।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

उद्वेगस्यानुत्पादकम्, मधुरम्, हितावहम्, सत्यभाषणञ्च तथा परमात्मनि

प्रवेशप्रदानसमर्थशास्त्रचिन्तनस्याभ्यासः, नामजपश्चेदं वाचसं तपः समुच्यते। वाणीविषयोन्मुखान् विचारानपि व्यनक्ति। इमां वाणीं विषयाभिव्यञ्जनात् समाकृष्य परमसत्यपरमात्मनो दिशि नियोजनं वाचनिकं तपः कथ्यते। साम्प्रतं मानसं तपो वर्ण्यते—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

सर्वथा मनः प्रमुदितं स्यात्, सौम्यभावस्य स्थितिः, मौनावलम्बनम् अर्थादिष्टातिरिक्तमपरस्य विषयस्य स्मरणमपि न भवेत्, मनसः निरोधः, अन्तःकरणस्य सर्वथा निर्मलतेदं मनः सम्बद्धं तप उच्यते। उपर्युक्त त्रयाणां (शरीर, वाणी, मनसाम्) तप एकीकृत्य सात्विक तपो वर्णितम्।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

फलं नेच्छता निष्कामकर्मयुतेन पुरुषेण परमश्रद्धया कृतान्युपर्युक्त त्रीणि तपांसि संयोज्य सात्विकं तपः कथ्यते। साम्प्रतं राजसं तपः वर्ण्यते—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

यत् तपः सत्काराय, सम्मानाय, पूजार्थं केवलं पाखण्डवृत्या क्रियते, तदनुचितं चञ्चलं फलयुतं तपः राजसमुक्तम्।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

यत्तपः मूर्खतापूर्वकं हठेन, मनः, वाणीं, शरीरं पीडितं कृत्वा कस्यापि अन्यस्यानिष्टाय प्रतिशोधभावनया सम्पाद्यते तत्तपः तामसं बोध्यम्।

अनेन प्रकारेण सात्विक तपसि शरीरं, मनः, वाणीं चेष्टानुरूपं वर्तनं भवति। राजस तपसि तपसः क्रिया सैवास्ति किन्तु दम्भेच्छया, मानेच्छया च तपन्ति। प्रायः महात्मानः गृहं परिवारञ्च त्यागानन्तरमप्युक्तविकाराणां भवन्ति

समाश्रयाः, तृतीयं तामसं तपश्च विधिविहीनं भवति, अपरेभ्यः पीडाप्रदानस्य दृष्टिकोणेन क्रियते। इदानीं दानविधानं प्रस्तुतम् –

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

दानं प्रशस्तं कर्त्तव्यमस्तीति भावनया यः देशम्, कालम्, सत्पात्रं समयानुकूलं प्राप्ते प्रत्युपकारस्य भावनां त्यक्त्वा दीयते तद्दानं सात्विकं समुच्यते।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

यद्दानं क्लेशेन तथा प्रत्युपकारभावनया 'इदं दानं करिष्यामि, तत्प्रतिफल–रूपेणेदं प्राप्स्यामि' एवं फलमुद्दिश्य दत्तं दान राजसं कथितमस्ति।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

यद्दानं सत्कारं विनैव तिरस्कारपूर्वकं सक्रोधम्, अयोग्यायाऽनधिकारिणे दीयते तद्दानं तामसमुक्तम्। 'पूज्य महाराजाः' कथयन्ति स्म– ''हो, कुपात्राय दान प्रदानेन दाता विनश्यति।'' साध्वनेन प्रकारेण श्रीकृष्णस्य कथनमस्ति यत् दानं कर्त्तव्यमस्ति। देशकालपात्रेषु च प्राप्तेषु दानस्य विनिमये, उपकारस्य कामनारहित भावनयोदारतया दत्तं दानं सात्विकमस्ति। काठिन्येन देयं प्रतिफल–भावनया देयं दानं राजसमुच्यते, विना सत्कारं चाप्रसन्नतया विपरीतदेशकाले कुपात्राय दत्तं दानं तामसमस्ति, किन्तु दानं तु दानमेव। यत्तु देहगेहादीनां सर्वेषां ममत्वं विहायैकमात्रमिष्टोपर्येवास्ति निर्भरः, तदर्थं दानविधानं सर्वश्रेष्ठमस्ति, तच्चास्ति सर्वस्वस्य समर्पणम्, सम्पूर्णाभिर्वासनाभिः निर्वत्य मनसः समर्पणम्, यथा श्रीकृष्ण उक्तवान् '**मय्येव मनः आधत्स्व**'। अतः दानं नितान्तमावश्यकम्। साम्प्रतं प्रस्तुतमस्ति ॐ तत्सतोः स्वरूपम् –

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

अर्जुन! ओम्, तत्, सत् च एवंभूतं त्रिप्रकारकं नाम '**ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः**' ब्रह्मनिर्देशं करोति, स्मृतिं दापयति, सङ्केतं करोति, ब्रह्मणः परिचायकश्चास्ति। तेनैव 'पुरा'–पूर्वस्मिन्काले (आरम्भे) ब्राह्मणवेदयज्ञादयश्च विरचिताः। अर्थात् ब्राह्मणः, यज्ञः वेदश्च ॐइति ब्रह्मपरिचायक शब्दत एवं जायन्ते। 'ओम्' इति योगजन्यम्। 'ओम्' इत्यस्य सतत् चिन्तनेनोक्त ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः, नान्यः कश्चिदुपायश्च।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

अतएव ब्रह्मविवेचकानां पुरुषाणां शास्त्रविधिना नियताः यज्ञदानतपसाञ्च क्रियाः निरन्तरं 'ओम्' इति नामोच्चारणानन्तरमेव क्रियन्ते येन तस्य ब्रह्मणः स्मरणं भवेत्। सम्प्रति 'तत्' शब्दस्य प्रयोगो निर्दिश्यते–

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

तत् अर्थात् स (परमात्मा) एव सर्वत्रास्ति, अनेन भावेन फलमनिच्छन् शास्त्रद्वारा निर्दिष्ट–नानाप्रकाराणां यज्ञानां, तपसां दानानाञ्च क्रियाः परमकल्याणस्येच्छुकैः पुरुषैः क्रियन्ते। 'तत्' शब्दः परमात्मानं प्रति समर्पण–सूचकमस्ति। अर्थात् जपस्तु 'ओम्' इत्यस्य करणीयः। यज्ञदानतपसां क्रियाकलापाः तदुपरि निर्भरोभूत्वा कर्त्तव्यम्। इदानीं 'सत्' शब्दस्य प्रयोगो विविच्यते–

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

सत् च, योगेश्वरेणोक्तमस्ति यत् किमस्ति सत्? गीतायाः प्रारम्भ एवार्जुनः प्रश्नं कृतवानासीत् यत् कुलधर्म एव शाश्वतोऽस्ति, सत्यमस्ति, तदा श्रीकृष्णः कथितवान्– अर्जुन! इदमज्ञानं त्वयि कुतः समागतम्। सत् वस्तुनः कालत्रयेऽपि न भवत्यभावः, तं निर्मूलयितुं न शक्यते, असद् वस्तुनस्तु त्रिकाले नास्तित्वं वर्त्तते, तत् नावरोद्धुं शक्यते। वस्तुतः तत् किमस्ति वस्तु यस्य कालत्रयेऽपि न

भवत्यभावः? तच्च किमसद् वस्तु यस्य कालत्रये नास्त्यस्तित्वम्? उक्तवान् श्रीकृष्णः– अयमात्मैव सत्यमस्ति, भूतादिकानाञ्च समस्तं शरीरं नश्वरमस्ति, आत्मास्ति सनातनः, अव्यक्तः, शाश्वतामृतस्वरूपश्च। इदमेव परमसत्यम्।

अत्र कथयति कृष्णः 'सत्' इदं परमात्मनः नाम 'सद्भावे'–सत्यं प्रति भावे साधुभावे च प्रयुज्यते। पार्थ! यदा नियतं कर्म साङ्गोपाङ्गरूपेण, सम्यक् प्रकारेण भवितुमर्हेत् तदा 'सत्' शब्दस्य प्रयोगः क्रियते। सदित्यस्य नायमर्थ यदिदं वस्तु मामकम्। यदा शरीरमेव नास्ति मदीयं तदा शरीरद्वारेणोपभोक्तव्यानि वस्तूनि कथं मम? नेदम्, 'सत्' शब्दस्य प्रयोग एकस्मिन् दिशि क्रियते– सद्भावे, परमसत्यमात्मैव। इदं सत्यं प्रति भावो भवेत्, तं साधयितुं साधुभावः स्यात्, तस्य च प्राप्तिकारकं कर्म प्रशस्तरूपेण सम्भवेत्, तत्रैव 'सत्' शब्दस्य प्रयोगः। अत उपरि कथयति श्रीकृष्णः–

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

यज्ञस्य, तपसः, दानस्य च विधाने या स्थितिर्मिलति, तदपि 'सत्' इत्थं कथ्यते। '**तदर्थीयम्**'–तस्य परमात्मनः प्राप्त्यर्थं कृतं कर्मैव सत्–इत्थं कथ्यते। अर्थात् तस्य परमात्मनः प्रापकं कर्मैव सत्, यज्ञदानतपांसि त्वस्य कर्मणः पूरकानि सन्ति। अन्ते निर्णयं ददानः कथयति कृष्णः यदेतेषां कृते श्रद्धाऽनिवार्या।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

पार्थ! श्रद्धाविहीनं कृतं हवनम्, दत्तं दानम्, तप्तं तपः, अपरञ्चापि कृतं कर्म तत्सर्वमसज्जायते–इत्थं समुच्यते। तत् नास्मिन् लोके न च परलोके लाभदायकमस्ति। अतः समर्पणेन सह श्रद्धा नितान्तमनिवार्या।

निष्कर्षः–

अध्यायस्यारम्भ एवापृच्छदर्जुनः यद् भगवन् ! ये शास्त्रविधिं त्यक्त्वा श्रद्धायुतो भूत्वा यजन्ते (जनाः सततं भूतान् भवानींश्च पूजयन्ति) तर्हि तेषां श्रद्धा कीदृशी? सात्विकी, राजसी तामसी वा? अत उपरि योगेश्वरः श्रीकृष्णः प्रोवाच– अर्जुन! अयं पुरुषः श्रद्धायाः पुत्तलमस्ति, क्वचिन्नक्वचित् तस्य

श्रद्धा स्थास्यत्येव। यथा श्रद्धा तथा पुरुषः, यादृशी वृत्तिस्तथैव पुरुषः। तेषां सा श्रद्धा सात्विकराजसतामसभेदेन त्रिधा भवति। सात्विक श्रद्धावन्तो देवान्, राजस श्रद्धायुक्ताः यक्षान् (यो यशः, शौर्यान् प्रयच्छेत्), राक्षसान् (यः सुरक्षां दातुं शक्नुयात्), तामसश्रद्धायुताश्च भूतप्रेतान् पूजयन्ति। शास्त्रविधि-रहितैर्पूर्वोक्तैरर्चनैः त्रिप्रकारकाः श्रद्धालवः शरीरे स्थितं भूतसमुदायमर्थात् स्वसङ्कल्पद्वारेण हृदयदेशस्थितं मामन्तर्यामिनं निर्बलं कुर्वन्ति न तु पूजयन्ति। तान् सर्वान् त्वं निश्चयरूपेणासुरं जानीहि, अर्थात् भूतप्रेतयक्षरक्षसां तथा देवानामर्चका असुराः सन्ति।

देवप्रसङ्गं श्रीकृष्ण अत्र तृतीयं वारं प्रस्तुतं कृतवान्। सप्तमाध्याये तेनोक्तं यत्- अर्जुन ! कामनाभिर्येषां ज्ञानमपहृतं ते मूढबुद्धयोऽपरान् देवानर्चन्ति। नवमाध्याये तेनोक्तं यत् श्रद्धायुक्ता ये भक्ताः अन्यान्यदेवान् पूजयन्ति तेऽपि मामेवार्चन्ति, किन्तु तेषां तत् पूजनमविधिपूर्वकम्- अर्थात् शास्त्रनिर्धारित विधि-भिन्नमस्ति, अतः स प्रणश्यति। अस्मिन् सप्तदशेऽध्याये कृष्णः तानासुरी-स्वभावयुक्तानिति सम्बोधितवान्। श्रीकृष्णस्य शब्देष्वेकस्य परमात्मनः पूजाविधानमस्ति।

तदनन्तरं योगेश्वरः श्रीकृष्णः प्रश्नचतुष्टमुत्थापितवान्- आहारस्य, यज्ञस्य, तपसः, दानस्य च विषयकम्। आहारास्त्रिप्रकारकाः भवन्ति। सात्विकपुरुषेभ्यस्तु आरोग्यप्रदानकारकाः स्वभावतः प्रियाः स्निग्धा आहाराः रोचन्ते। राजसपुरुषेभ्यः तिक्ततीक्ष्णोष्णवर्णयुक्तरोगवर्द्धका आहारा रोचन्ते। तामसपुरुषेभ्य उच्छिष्टं पर्युषितमपवित्रञ्चाहाराः प्रिया लगन्ति।

शास्त्रविधिना निर्दिष्टो यज्ञः (या आराधनाया अन्तःक्रियाः सन्ति) यः मनसः निरोधं करोति, फलाकांक्षारहितः यज्ञः सात्विकः समुच्यते। दम्भ-प्रदर्शननाय तथा फलप्राप्तये क्रियमाणः यज्ञः राजसः कथ्यते। शास्त्रविधि-रहितः श्रद्धासहितोऽपि दानादिविहीनः यज्ञस्तामस उच्यते।

परमदेवे परमात्मनि प्रवेशं प्रदापयितुं सम्पूर्णाः योग्यताः यस्मिन् वर्त्तते तस्य प्राज्ञस्य सद्गुरोः सेवार्चनयान्तःकरणेनाहिंसा, ब्रह्मचर्यं पवित्रतानुरूपञ्च शरीरस्य तापनं शारीरं तपः कथ्यते। सत्यं प्रियं हितकरञ्च भाषणं वाचनिकं तपः समुच्यते। मनः कर्मणि प्रवृत्तकरणमिष्टातिरिक्तविषयाणां न चिन्तनम्,

मौनधारणं मानसं तपः कथ्यते। मनः, वाणीं शरीरञ्च समाहृत्येष्टाभिमुखं तपः सात्विकं तपः कथ्यते। राजसतपसि तपः सकामं क्रियते, यदा तु तामसं तपः शास्त्रविधिरहितं स्वेच्छाचारः मन्यते।

कर्त्तव्यं परिकल्प्य देशकालयोः पात्रस्यापि च विचारं कृत्वा सश्रद्धं प्रदत्तं दानं सात्विकं समुच्यते। कस्यापि लाभस्य लोभार्थं क्लेशेन दत्तं दानं राजसं कथ्यते, संक्रुद्धो भूत्वा कुपात्राय दत्तं दानं तामसं दानं कथ्यते।

'ओम्, तत्, सत्' शब्दत्रयस्वरूपं वर्णयन् योगेश्वरः श्रीकृष्णः प्रोवाच यदिमानि नामानि परमात्मनः स्मृतिदापयन्ति। शास्त्रविधिना निर्धारितानां तपसः, दानस्य, यज्ञस्य चारम्भे 'ओम्' इत्यस्य प्रयोगः क्रियते तथा चेष्टप्राप्तेरनन्तरमेव 'ओम्' इति शब्दः पिण्डं त्यजति। 'तत्' शब्दस्यास्त्यर्थः स परमात्मा, तं प्रति समर्पितो भूत्वा तत् कर्म भवति। यदा धारावाहीरूपेण कर्म भवितुमारभेत्, तदा 'सत्' शब्दस्य प्रयोगो भवति। भजनमेव सदस्ति। सद्भावे साधुभावे च 'सत्' शब्दस्य प्रयोगो भवति। परमात्मनः प्राप्तौ सहायकस्य कर्मणः यज्ञस्य, दानस्य, तपसश्च परिणामोऽपि सदित्यस्य प्रयोगो भवति। परमात्मनि प्रवेशदायकं कर्म निश्चयपूर्वकं सदस्ति, किन्त्वेभिः साकं श्रद्धाऽपरिहार्या। श्रद्धारहितो भूत्वा कृतं कर्म, दत्तं दानम्, तप्तं तपः नास्मिन् जन्मनि लाभकरं न चाग्रिमे जन्मन्येव। श्रद्धा सदा समाश्रयणीया।

सम्पूर्णाध्याये श्रद्धोपरि प्रकाशः प्रसारितस्तथान्ते 'ओम्, तत्, सत्' इति त्रिपदस्य विशद् व्याख्यानं प्रस्तुतम्, यद् व्याख्यानं गीताश्लोकेषु प्रथम वारं समायातम्। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते 'यथार्थगीता' भाष्ये 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ अष्टादशोऽध्यायः

अयं गीताया अन्तिमोऽध्यायः, यस्य पूर्वार्द्धे योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन प्रस्तुतानामनेकेषां प्रश्नानां समाधानं कृतं तथोत्तरार्द्धे गीताया उपसंहारोऽस्ति यद् गीतया को लाभः? सप्तदशमेऽध्याये आहारस्य, तपसः, यज्ञस्य, दानस्य तथा विभागसहितं श्रद्धायाः स्वरूपं वर्णितम्, तस्मिन् सन्दर्भे त्यागस्य प्रकारोऽवशेषोऽस्ति। मनुष्यः यत्किञ्चित् करोति, तत्र को हेतुः? कः कारयति? भगवान् कारयति प्रकृतिर्वा? अयं प्रश्नः पूर्वत आसीत् प्रारम्भः, यदुपरि सप्तदशाऽध्याये पुनः प्रकाशः कृतः। अनेन प्रकारेणैव वर्णव्यवस्थाया अपि चर्चा परिपूर्णा जाता। सृष्टौ तस्य स्वरूपस्य विश्लेषणमस्मिन्नध्याये वर्त्तते प्रस्तुतम्। अन्ते गीतातः प्राप्तव्य विभूतीनामुपरि प्रकाशः प्रसारितः।

गतेष्वध्यायेषु नानाप्रकाराणानां विभाजनं श्रुत्वार्जुनः स्वयमेकं प्रश्नं प्रास्तौत् यत् त्यागसंन्यासौ सविभागं वर्णयतु–

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुन जगाद– हे महाबाहो! हे हृदयसर्वस्व! हे केशिनिषूदन! अहं त्यागसंन्यासयोर्यथार्थस्वरूपं सभेदं ज्ञातुमिच्छामि। पूर्णत्यागस्य नाम संन्यासोऽस्ति, यत्र सङ्कल्पसंस्कारयोरपि समापनं जायते, ततश्च प्राक् साधनस्य परिपूर्त्तये चलित्वोत्तरोत्तरमासक्तेः त्यागस्य नाम त्यागोऽस्ति। अत्र तु द्वौ प्रश्नौ,

प्रथमः संन्यासतत्त्वावबोधनम्, द्वितीयस्त्यागस्य सरहस्यं ज्ञानम्- उक्त संन्यास–त्यागयोस्तत्त्वं ज्ञातुं कामये। अत उपरि योगेश्वरः श्रीकृष्णः कथयति–

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अर्जुन! केचन पण्डितजनाः काम्यकर्म त्यागमेव संन्यासं ब्रुवन्ति, केचन च विचारशीलाः पुरुषाः सर्वेषां कर्मणां फलत्यागं त्यागं मन्यन्ते।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

केचन विद्वांस इत्थं कथयन्ति यत् सर्वाणि कर्माणि सदूषणानि सन्ति, अतस्त्यक्तुमर्हाणि, अपरे च सुधिय इत्थं वदन्ति यत् यज्ञस्य दानस्य तपसश्च त्यागो नोचितः। इत्थमनेकानि मतानि प्रस्तूय योगेश्वरः स्वमतमुपस्थापयति–

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

अर्जुन! त्यागस्य विषये सुनिश्चितं मम मतं शृणु। हे पुरुषश्रेष्ठ! तत् त्यागः त्रिधोक्तः।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञदानतपांसीति त्रीणि कर्माणि न त्यक्तुमर्हाणि, इति त्रीणि तु कर्त्तव्यान्येव, कुतोहि यज्ञदानतपांसि त्रीणीमानि पुरुषं पावयन्ति।

श्रीकृष्णः प्रचलितमतचतुष्टयस्य चर्चां कृतवान्–प्रथमं काम्यकर्मणां त्यागः, द्वितीयं सम्पूर्ण कर्मफलत्यागः, तृतीयं दोषयुक्तत्वात् सर्वकर्मत्यागः, चतुर्थं मतमासीत्- यज्ञदानतपांसि त्यक्तुं योग्यानि न सन्ति। तेष्वेकस्मिन् मते स्वमतं प्रकटयनुक्तवान्, यदर्जुन! ममाऽपि सुनिश्चित मतमिदमस्ति यत् यज्ञदानतपांसि न त्यक्तुं योग्यानि। एतेन सिद्ध्यति यत् कृष्णकालेऽपि नैकानि मतानि चलन्ति

स्म, येष्वेकं मतं यथार्थमासीत्। तदाप्यासन्नैकानि मतानि साम्प्रतमपि। महापुरुषो यदायाति संसारे तर्हि मतमतान्तरेभ्यः कल्याणकारकं मतं निःसार्य समाजस्य समक्षं प्रतिष्ठापयति। सर्वैर्महापुरुषैरेवमेव कृतम्, श्रीकृष्णोऽपि तथैव कृतवान्। स न किमपि नूतनं मार्गं मार्गयामास प्रत्युत् प्रचलितानेकमार्गेभ्यः सत्यस्य समर्थनं विधाय तस्य स्पष्टीकरणं चकार।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

योगेश्वरः श्रीकृष्णः सबलं कथयति– पार्थ! आसक्तिं फलत्यागञ्च विधाय यज्ञदानतपांसीति कर्माणि कर्त्तव्यानि सदाऽनिवार्यरूपेण। इदमुत्तमं मतं मम सुनिश्चितम्। इदानीमर्जुनस्य प्रश्नानुसारेण त्यागस्य विश्लेषणं करोति–

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

अर्जुन! नियतकर्म (श्रीकृष्णस्य शब्देषु नियतं कर्मैकैवास्ति, यज्ञस्य प्रक्रिया। योगेश्वरो नियतशब्दस्याष्टौ–दशवारं प्रयोगं विहितवान्। अत उपरि भूयोभूयः बलमददत् यत् क्वचित् साधकः भ्रान्तः सन् अपरं कार्यं न कर्त्तुमारभेत्, अनेन शास्त्रविधिना निर्धारितस्य कर्मणस्त्यागो नोचितः। मोहात्तस्य त्यजनं तामसस्त्यागः कथितः। सांसारिक विषयवस्तूनामासक्तौ निबद्धः कार्यंकर्मस्य (कार्यं कर्म, नियतकर्म परस्परं पूरकौ स्तः।) त्यागस्तामसस्त्यागः कथ्यते। ईदृशः पुरुषः '**अधोगतिं गच्छति**'– कीटपतङ्गपर्यन्ताधमयोनिषु याति, कुतोहि स भजनस्य प्रवृत्तीनां त्यागमकरोत्। इदानीं राजसस्त्यागो वर्ण्यते–

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

कर्माणि दुःखमयानीति ज्ञात्वा शारीरिक क्लेशभयात् तेषां त्यागकर्त्ता व्यक्तिः राजसं त्यागं कृत्वापि त्यागस्य फलं न लभते। येन भजनं न पूरयेत् '**कायक्लेशभयात्**'– अनेन भयेन कर्म त्यजेत् यत् शरीरे कष्टं भविष्यति,

तस्य मनुष्यस्य त्यागः राजसोऽस्ति, स त्यागफलरूपेण परमशान्तिं न प्राप्नोति। तथा–

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

अर्जुन! 'कार्य करणं कर्त्तव्यमस्ति–एवं ज्ञात्वा यः 'नियतम्'– शास्त्रविधिना निर्धारितं कर्म सङ्गदोषं फलं च त्यक्त्वा सम्पाद्यते तदेव सात्त्विकस्त्यागोऽस्ति। अतः नियतकर्म करणीयं तदतिरिक्तं कर्म त्याज्यम् । इदं नियतकर्म किमनवरतं क्रियमाणमेव भविष्यत्युद्वा अस्यापि कदापि त्यागो भविष्यति? अतः परं कथयति, (अन्तिम त्यागस्य रूपमवलोकनीयम्)–

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अर्जुन! यः पुरुषः 'अकुशलं कर्म' अर्थादकल्याणकरकर्मेभ्यः (शास्त्रनियत कर्मैव कल्याणकरमस्ति, तद्विपरीतं सर्वं कर्मास्य लोकस्य बन्धनमस्ति, अतएवाकल्याणकारकं यत् कर्म तेभ्यः) द्वेषं नहि करोति, कल्याणकरे कर्मण्यासक्तो न भवति, यत् करणीयमासीत् सोऽपि नावशिष्टः– एवं सत्वसंयुक्तः पुरुषः संशयरहितः ज्ञानवान् त्यागी चास्ति। तेन सर्वं त्यक्तं किन्तु प्राप्त्या सह सम्पूर्णत्याग एव संन्यासः कथ्यते। अन्योऽपि कश्चित् सरलोपायः सम्भवेत्? अतः उपरि कथयति– नहि, पश्यतु–

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

देहधारीपुरुषाणांद्वारा (केवलं शरीरमेव नहि, यद् भवान् पश्यति। श्रीकृष्ण मतानुसारेण प्रकृतिजानि सत्त्वरजस्तमांसीति त्रयोगुणा अमुं जीवात्मानं शरीरेषु निबध्नन्ति। यावदिमे गुणाः जीविताः सन्ति तावदेव जीवधारी। येनापि केन रूपेण शरीरपरिवर्तनं कुर्वन् स्थास्यति। देहहेतोर्यावज्जीवति) सम्पूर्णतया सर्वकर्मत्यागः सम्भवो नास्त्यतएव यः पुरुषः कर्मफलस्य त्यागकर्त्तास्ति स एव त्यागी कथ्यते। अतः यावच्छरीरकारणानि जीवन्ति तावत् नियतकर्म विदधीत्।

तस्य फलं नेच्छेत्। प्रतिफलरूपेण कापि कामना न भवेत्। सामान्यतया सकामीपुरुषाणामपि कर्मणः फलं भवति–

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।।१२।।

सकाम पुरुषाणां कर्मणां श्रेष्ठमधमं मिश्रितं चैवं त्रिधा फलं मरणानन्तरमपि मिलति, जन्म-जन्मान्तरं यावत् मिलति किन्तु **'संन्यासिनाम्'**-सर्वस्वस्य न्यासं (अन्तः) कर्त्तृणां पूर्णत्यागीनां पुरुषाणां कर्मफलं कस्मिंश्चिदपि काले न भवति। एष एव शुद्ध संन्यासः परमोत्कृष्टा स्थितिः कथ्यते। उत्तमाधमकर्मणां फलस्य तथा पूर्णन्यासकाले तस्यान्तस्य प्रश्नः पूर्णो जातः। साम्प्रतं पुरुषद्वारा शुभकर्मविधाने तथाऽशुभकर्मविधाने कारणं किमस्ति? अत उपरि पश्यन्तु–

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मणां संसिध्यर्थं पञ्चकारणानि सांख्यसिद्धान्ते सन्त्युल्लिखितानि, तानि त्वं मत्तः सम्यगवगतं कुरु।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

अस्मिन् विषये कर्त्ता (इदं मनः), पृथक्-पृथग् करणानि (येषां माध्यमेन कार्यं सम्पद्यते, यदि शुभं कार्यं पूरयेत्तदा विवेकः, वैराग्यम्, शमः, दमः, त्यागः, अनवरत चिन्तनप्रवृत्तयः करणानि भविष्यन्ति। यद्यशुभं कर्म सिध्यति तदा कामक्रोधरागद्वेषलिप्सादयः करणानि भविष्यन्ति।) एतेषां प्रेरणाया सबलता नाना प्रकारिकाः नाना चेष्टाः (अनन्तेच्छाः), आधारः (अर्थात् साधनम्, यदीच्छया सह साधनममिलत् सैवेच्छा पूर्णतां याति), पञ्चमो हेतुर्दैवमर्थात् संस्कारः। तदेव पुष्णाति–

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

मनुष्यो मनोवाण्या तथा शरीरेण शास्त्रानुसारेण तथा तद्विपरीतं यद्यत् कर्मारभते, तेषां कर्मणामिमानि पञ्चकारणानि सन्ति। परन्त्वेवं सत्यपि–

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

यः पुरुषो दुष्टबुद्धेः कारणेन तस्मिन् विषये कैवल्यस्वरूपात्मानं कर्त्तारूपेण पश्यति, स दुर्बुद्धिर्यथार्थं नावलोकयति अर्थात् भगवान् न करोति।

अस्मिन् प्रश्ने कृष्णो द्वितीय वारं ददौ बलम्। पञ्चमाध्याये तेनोक्तं यत् प्रभुर्नकारयति न च करोति, न च क्रियासंयोगं युनक्ति। तर्हि जनाः कथयन्ति कथम्? मोहावृत्तानां जनानां बुद्धिराक्रान्ता एतेन किमपि वक्तुं शक्नुवन्ति। अत्राप्यस्ति वर्णनम्, कर्मसिद्धौ सन्ति पञ्चकारणानि। तद्विधावपि कैवल्यस्वरूपं परमात्मानं कर्त्तारूपेण पश्यति, स मूढबुद्धिः यथार्थं न पश्यति अर्थात् न करोति भगवान्, यदा तु अर्जुनस्य हेतवे स जघनतालध्वनिर्भवति समुद्यतः। ''निमित्तमात्रं भव'' यत् कर्त्ता–धर्त्ता त्वहमस्मि त्वं निमित्तो भूत्वा सन्नद्धो भव। अन्ततः स महापुरुषः किं वक्तुमिच्छति?

वस्तुतो भगवतः प्रकृतेश्चान्तराले वर्त्तते समाकर्षणस्यैका रेखा। यावत् साधकः प्रकृतेः सीमाक्षेत्रे वर्त्तते, भगवान् न किमपि करोति। अत्यन्तिकं स्थित्वापि द्रष्टारूपेणैव वर्त्तते। अनन्यभावेनेष्टं संगृहीते सति स हृदयदेशे सञ्चालको भवति। साधकः प्रकृतेराकर्षण सीम्नो बहिर्भूय तस्य क्षेत्रे समायाति। एवंदृशस्यानुरागिणः कृतेऽसौ सर्वदा स जघनतालध्वनिः सदैव समुपस्थितो विराजते। केवलं तदर्थमेव भगवान् करोति। अतः चिन्तनीयम्। प्रश्नः पूर्णः। अग्रे निरीक्षणीयम्–

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

यस्य पुरुषस्यान्तःकरणे 'अहं कर्त्तास्मि', एतादृशो भावो न वर्त्तते तथा यस्य बुद्धिः लिम्पायमाना नास्ति, स पुरुषः समस्तं लोकं हत्वापि वस्तुतो न मारयति न च निबध्यते। लोकसम्बद्धानां संस्काराणां विलयएव लोकसंहारोऽस्ति। साम्प्रतं तस्य नियतकर्मणः प्रेरणा कथं भवति? अत उपरि निरीक्ष्यम्–

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः।।१८।।

अर्जुन! परिज्ञाता अर्थात् पूर्णज्ञ महापुरुषेभ्यः '**ज्ञानम्**'-तस्यावबोधस्य विधिना च '**ज्ञेयम्**'-ज्ञातुं योग्यं वस्तु (श्रीकृष्णेन पूर्वमुक्तम् अहमेव ज्ञेयोऽस्मि) इति ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञातृभिर्कर्मसम्पादनस्य प्रेरणा मिलति। प्रथमं तु पूर्णज्ञाता कश्चिन्महापुरुषो भवेत् तद्द्वारेणोक्त ज्ञानस्यावबोधस्य विधिर्लभेत्, लक्ष्ये-ज्ञेये दृष्टिः स्यात्, तदैव कर्मणः प्रेरणा मिलति। कर्त्तुः (मनसः संलग्नता), करणम् (विवेकः, वैराग्यं, शमः, दम इत्यादयः) तथा कर्मणः ज्ञानेन कर्मसंग्रहो भवति, कर्मैकत्रितं भवितुं प्रारभते। पूर्वमुक्तं यत् प्राप्तेरनन्तरं तस्य पुरुषस्य कर्मणा न भवति किमपि प्रयोजनम्, कर्मत्यागेनाऽपि न काचिद्धानिः, पुनरपि लोकसंग्रहाय अर्थात् पृष्ठानुवर्तिनां हृदये कल्याणकारकानां साधनानां सङ्ग्रहाय स कर्म करोति। कर्त्ता, कर्म करणैश्चैतेषां सङ्ग्रहो भवति। ज्ञानस्य, कर्मणः कर्त्तुश्च त्रयस्त्रयोः भेदाः भवन्ति-

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

ज्ञानं, कर्म तथा कर्त्तापि गुणानां भेदेन सांख्यशास्त्रानुसारतस्त्रिधा-त्रिधा वर्णिताः, त्वमपि तान् भेदान् यथावत् शृणु। प्रथमं ज्ञानस्य भेदः प्रस्तुतं विद्यते-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अर्जुन! येन ज्ञानेन मनुष्यः पृथक्-पृथग् सर्वभूतेष्वेकमविनाशिनं परमात्मानमिति भावमखण्डमेकरसं पश्यति तज्ज्ञानं त्वं सात्विकं जानीहि। ज्ञानं प्रत्यक्षानुभूतिरस्ति, येन सहैव गुणानामन्तमावश्यकम्। इयं ज्ञानस्य परिपक्वावस्था। इदानीं राजस ज्ञानं पश्य-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

यद् ज्ञानं सम्पूर्ण भूतेषु भिन्न-भिन्न प्रकारेण नाना भावान् पृथक् कृत्वा जानाति यद इदमुत्तममिदमधमम्, तज्ज्ञानं त्वं राजसं जानीहि। एतादृशी स्थित्यस्ति, तर्हि तव ज्ञानं राजसस्तरे वर्त्तते। सम्प्रति तामसज्ञानमवलोकनीयम्-

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

यत् ज्ञानमेकमात्र शरीरान्तर्गतमेव सम्पूर्णतायाः सदृशमासक्तमस्ति, यदनु न कापि क्रिया यत् युक्तिरहितम्, तत्त्वस्यार्थस्वरूपस्य परमात्मनो बोधात् पृथक् कारकं तुच्छञ्चास्ति तज्ज्ञानं तामसं कथ्यते। कर्मणस्त्रयो भेदास्तदग्रे वर्णिताः-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

यत् नियतं कर्मशास्त्रविधिभिर्निधारितमस्ति, (अन्यं नहि) सङ्गदोषयुतेन फलेच्छारहितेन पुरुषेण च रागद्वेषाभावेन क्रियते तत्कर्म सात्विकम्। नियत-कर्म (आराधना) चिन्तनमस्ति, यः परमे प्रवेशं दापयति।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

यत् कर्म महता परिश्रमेण युक्तोऽस्ति, फलेच्छुना साहङ्कारेण च पुरुषेण क्रियते तत् राजसं कर्म कथ्यते। अयं पुरुषोऽपि तदेव नियतं कर्म करोति किन्त्वन्तरं त्वेतन्मात्रमस्ति यत् फलेच्छायुतं अहङ्कारयुतं च भवति, अतएव तद्द्वारा कार्यं कर्म राजसं कथ्यते। तामसं कर्म बोध्यम्-

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

यत् कर्मान्ततो नष्टं भवति, यत्कर्म हिंसामनवलोक्य केवलं मोहवशेन प्रारभ्यते, यत् कर्म नश्वरञ्चास्ति तत्कर्म तामसं वदन्ति सुधियः। स्पष्टमस्ति इदं कर्म शास्त्रस्य नियतं कर्म नास्ति, तद् स्थाने वर्त्तते भ्रान्तिः। कर्त्तुः लक्षणं ज्ञेयम्-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

यः कर्त्ता सङ्गदोष विनिर्मुक्तो भूत्वा, अहंकाररहितः प्रियंवदः धैर्येणोत्साहेन च युक्तो भूत्वा कार्यस्य सिद्धावसिद्धौ हर्षशोकविकाररहितो भूत्वा कर्मणि प्रवर्तते स कर्त्ता सात्विकः कर्त्ता समुच्यते। इदमेवोत्तम साधकस्य लक्षणमस्ति। कर्म तदेवास्ति नियतकर्म।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

आसक्तियुक्तः, कर्मफलाभिलाषुकः, लोलुपः, आत्मानं कष्टदः, अपवित्रः, हर्षशोकपरिव्याप्तः स कर्त्ता राजस उच्यते।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

यश्चञ्चलचित्तः, असभ्यः, गर्वोन्मत्तः, धूर्त्तः, परकार्य बाधाकरः, सालस्यः दीर्घसूत्री चास्ति तर्कयति तत्कार्यं पुनः करिष्यामि, स कर्त्ता तामस उच्यते। अयं दीर्घसूत्रताद्यकर्त्तव्यं कर्म श्व उपरि लम्बयति। सम्प्रति योगेश्वरः श्रीकृष्णो नवीनं प्रश्नमुत्थापयति– बुद्धेः, धारणायाः, सुखस्य च कानि लक्षणानि?–

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

धनञ्जय! बुद्धिधारणाशक्त्योरपि गुणानुसारेण भेदत्रयं मत्तः शृणु–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

पार्थ! प्रवृत्तिं निवृत्तिञ्च, कर्त्तव्यमकर्त्तव्यञ्च, भयमभयञ्च, बन्धनं मोक्षञ्च या बुद्धिर्यथार्थरूपेण जानाति सा बुद्धिः सात्त्विका ज्ञेया। अर्थात् परमात्मपथि यातायातस्य सम्यक् ज्ञानं सात्त्विकीबुद्धिरस्ति। यथा–

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

पार्थ! यया बुद्ध्या मनुष्यो धर्माधर्मौ तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यावपि यथावत् न जानाति, सा बुद्धिः राजसी प्रोक्ता। तामसीमवलोकय–

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

पार्थ! तमोगुणाच्छादिता बुद्धिः अधर्मं धर्मरूपेण मन्यते, सम्पूर्णं हितं विपरीतं पश्यति सा बुद्धिस्तामसी कथिता।

अत्र त्रिंशत् श्लोकतः द्वात्रिंशत् श्लोकं यावत् बुद्धेस्त्रयोभेदाः वर्णिताः। प्रथमा बुद्धिः विवेचयति यत् कस्मात् कार्यात् निवृत्तिः कस्मिन् च प्रवृत्तिः, किं कर्त्तव्यं किं न कर्त्तव्यमित्यस्य ज्ञानं धारयति सा बुद्धिः सात्त्विकी कथ्यते। या बुद्धिः कर्त्तव्याकर्त्तव्यौ शिथिलरूपेण बोधयति, यथार्थं न जानाति सा राजसी बुद्धिस्तथा च या बुद्धिरधर्मं धर्मम्, नश्वरं शाश्वतम्, हितमहितं चेत्थं विपरीत बोधकारिका बुद्धिः तामसी कथ्यते। बुद्धेर्भेदाः समाप्ताः। द्वितीयः प्रश्नः प्रस्तुतः का धृतिः?–

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

‘**योगेन**’– यौगिक प्रक्रियाद्वारा ‘**अव्यभिचारिणी**’– योगचिन्तना-तिरिक्तमपरस्य कस्यापि स्फुरणं व्यभिचारोऽस्ति, चित्तस्य भ्रान्ता स्थितिः व्यभिचारः कथ्यते। अतएवमव्यभिचारिण्या धारणया मनुष्यः मनः, प्राणानिन्द्रियाणि क्रियाश्च यो धारयति सा धारणा सात्त्विकी अर्थात् मनः, प्राणानिन्द्रियाणीष्टाभिमुखं प्रेरणं सात्त्विकी धारणा कथ्यते।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

पार्थ! फलेच्छावान् मनुष्योऽत्यासक्तियुतो यया धारणया धर्मार्थकामान्

धारयति (मोक्षं नहि) सा धारणा राजसी कथिता। अस्यां धारणायामपि लक्ष्यं तदेवान्तरं तु केवलं कामनाधिक्यस्य। यत्किञ्चित् करोति तस्य प्रतिफलं कामयते। तामसीं धारणामवलोकय–

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

पार्थ! दुष्टबुद्धियुतो मनुष्यो यया धारणया निद्रा, भय, चिन्ता, दुःखाभिमानं चापि (नैतान् त्यजति) धारणं करोति, सा धारणा तामसी कथ्यते। प्रश्नोऽयं पूर्णः। सुखं प्रस्तूयते–

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

अर्जुन! इदानीं सुखस्यापि भेदत्रयं मत्तः शृणु, तेषु यस्मिन् सुखे साधकोऽभ्यासेन रमतेऽर्थात् चित्तं संयोज्येष्टे रमणं करोति, दुःखस्य योऽन्तं करोति तथा–

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

उपर्युक्त सुखं साधनाया आरम्भकाले यद्यपि विषसदृशः प्रतीयते (प्रह्लादः शूलीमारूढितः, मीरायै विषं दत्तम्। कबीरः कथयति, ‘‘**सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे। दुखिया दास कबीर है जागै और रोवे।।**’’ अत आरम्भे विषवद् भासते) परन्तु परिणामे सुधातुल्यमस्ति, अमृत तत्त्वस्यदायकोऽस्ति। अत आत्मविषयकः बुद्धिप्रसादतः समुत्पन्नं सुखं सात्त्विकमस्ति। तथा–

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

यत्सुखं विषयेन्द्रियसंयोगाात् लभ्यते, तत्भोगकाले यद्यपि अमृतवत् प्रतीयते किन्तु परिणामे विषोपमम्, कुतोहि तत्सुखं जन्ममरणयोः कारणमस्ति, अतस्तत् सुखं राजसं कथ्यते।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

यत्सुखं भोगकाले, परिणामकालेऽप्यात्मानं मोहगर्ते पातयति, निद्रा "**या निशा सर्वभूतानाम्**"-जगतो निशायां निश्चेष्टं कारकमालस्येन निरर्थकचेष्टाभिरुत्पन्नं तत्सुखं तामसं कथ्यते। इदानीं योगेश्वरः गुणतथ्यं वर्णयति, ये गुणाः सर्वमनुसरन्ति–

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

अर्जुन! पृथिव्यां, स्वर्गे, देवगणेषु च न कोप्येतादृशः प्राणी यः प्रकृतिजैस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तो भवेत्। अर्थात् ब्रह्मण आरभ्य कीटपतङ्गं यावन्मात्रं जगत् क्षणभङ्गुरं मरणधर्मा चास्ति, सर्वे त्रिगुणान्तर्गताः सन्ति। अर्थात् देवा अपि त्रिगुणानां सन्ति विकारास्तेन तेषां नश्वरत्वं सिद्धम्।

एतानत्र वाह्य देवान् योगेश्वरश्चतुर्थवारं गृहीतवान्। सप्तमाध्याये, नवमाध्याये, सप्तदशाध्यायेऽष्टदशाध्याये च। एतेषामुक्ताध्यायानामेतत् विषयकोऽर्थ एक एव यत् देवास्त्रिगुणान्तरवर्तिनः सन्ति। एतान् ये भजन्ति, ते नश्वरमर्चन्ति।

श्रीमद्भागवतस्य द्वितीयस्कन्धे महर्षिशुकदेवस्य परीक्षितस्य चाख्यानं प्रसिद्धमस्ति, यस्मिन्नुपदेशं ददानास्ते कथयन्ति यत् स्त्री–पुरुषयोः प्रेमवर्द्धनाय शङ्करपार्वत्योः, आरोग्यवर्द्धनायाश्विनीकुमारयोः, विजयवर्द्धनायेन्द्रस्य तथा धनवर्द्धनाय कुबेरस्य पूजा कर्त्तव्या। अनेन प्रकारेण विविधाः कामनाः वर्णयित्वा निर्णयं ददन्ते यत् सम्पूर्णानां कामनानां पूर्त्तये मोक्षाय चैकमात्रं नारायणस्य पूजा करणीया। "तुलसी मूलहिं सीचिये, फूलइ फलइ अघाइ।" अस्तु सर्वव्यापकस्य प्रभोः स्मरणं कार्यम्, यस्य पूर्त्तये सद्गुरोः शरणं निष्कपट भावेन प्रश्नविधानं सेवाचैकमात्रमुपायः।

आसुरी दैवी च सम्पदान्तःकरणस्य द्वे वृत्ति वर्त्तेते ययोर्दैवीसम्पद् परमदेवस्य परमात्मनः दिग्दर्शनं कारयति, अतएव सा दैवीसम्पद् कथ्यते, किन्त्वियमपि गुणत्रयान्तर्गता। गुणशान्त्यनन्तरमस्यापि शान्तिः भवति। तदनन्तरं तस्यात्मतृप्तस्य योगिनो न किमपि कर्त्तव्यमवशिष्टं वर्तते।

इदानीं प्रस्तुतमस्ति पूर्वमारम्भभूतः वर्णव्यवस्थायाः प्रश्नः। वर्णः जन्म-प्रधानोऽस्ति अथवा कर्मणां माध्यमेन प्राप्तव्यान्तःकरणस्य योग्यतायाः नामास्ति। अत्र प्रेक्षणीयम्–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

परन्तप! ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः कर्म स्वभावतः समुत्पन्नगुणानां माध्यमेन विभक्ताः सन्ति। स्वभावे सात्त्विकगुणस्य विद्यमानत्वे भवति निर्मलता भविष्यति, ध्यान-समाध्योः क्षमता भविष्यति। तामसी गुणस्य विद्यमानत्वे आलस्यं, निद्राप्रमादाश्च स्थास्यन्ति, तेनैव स्तरेण भवता कर्म करिष्यते। यो गुणः वर्तमानकाले कार्यरतो भवति तदेव भवतः वर्णस्वरूपश्चास्ति। अनेन प्रकारेणार्द्ध सात्त्विकेन तथार्द्धं राजसेन क्षत्रियाणामेको वर्णोः जायते, अर्द्धतो न्यूनेन तामसेन विशेष राजसेन जायते द्वितीयः वर्गः वैश्यस्यास्ति।

इमं प्रश्नं योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽत्र चतुर्थं वारमुत्थापितवान्। द्वितीयाध्याये एषु चतुर्षु वर्णेष्वेकस्य क्षत्रियस्य नाम गृहीतं कृष्णेन यत् क्षत्रियस्य कृते युद्धोत्तमं श्रेयस्करं न किमपि मार्गमस्ति। तृतीयाध्याये तेनोक्तं यत् दुर्बल गुणवतां मनुष्याणां कृतेऽपि तस्य स्वभावतउत्पन्नयोग्यतानुसारेण धर्मे प्रवर्तनम्, तस्मिन् धर्मे मरणमपि परमश्रेयस्करं भवति, अपरेषामनुकरणं भयङ्करं भवति। चतुर्थाध्याये तेन प्रतिपादितं यत् चतुर्णां वर्णानां सृष्टिः मया कृता। किं तावत् मानवानां चतसृषु जातिषु विभाजनं कृतम्? तदत्रोच्यते– नहि, '**गुणकर्म विभागशः**'– गुणानां योग्यतानुसारेण कर्माणि चतुर्षु सोपानेष्वस्ति विभाजितम्। अत्र गुण एकः मापदण्डोऽस्ति। तद्द्वारेण मापनं कृत्वा कर्मविधानं चतुर्षु भागेषु विभक्तम्। श्रीकृष्णस्य शब्देषु अव्यक्तपुरुषस्य प्राप्तेरस्ति प्रक्रिया कर्मैकमात्रम्। ईश्वरप्राप्तेराचरणमाराधना समुच्यते, यस्यारम्भः ममैकेष्टे श्रद्धया भवति। चिन्तनस्य विधिविशेषोऽस्ति, यस्य वर्णनं पूर्वं कृतम्, एतस्य यज्ञस्यार्थस्य कृते कर्माणि भागचतुष्टयेषु व्यभज्यत्। कथमवगच्छेयं यन् मयि सन्ति के गुणाः कस्याः श्रेण्याश्च? अत उपरि कथयति–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

मनसः शमनम्, इन्द्रियदमनम्, पूर्ण पवित्रता, मन, वाणीं, शरीरं चेष्टानुरूपं तापनम्, क्षमाभावः, मनस इन्द्रियाणां शरीरस्य च सर्वथा सारल्यम्, आस्तिक बुद्धिरर्थात् एकस्मिन्निष्टे दृढाऽऽस्था, ज्ञानमर्थात् परमात्मनः ज्ञानस्य सञ्चारः, विज्ञानमर्थात् परमात्मनः प्राप्तव्यनिर्देशस्य जागृतिरेवं तदनुसारेणाचरणस्य क्षमता एते सर्वे स्वभावजाः ब्राह्मणस्य सन्ति कर्माणि अर्थात् यदा स्वभावत इमाः योग्यताः प्राप्ताः भवेयुः, कर्माणि धारावाहीरूपेण भूत्वा स्वभावे सन्निविष्टानि स्युः, तदा सः ब्राह्मणश्रेणीकः कर्त्तास्ति तथा–

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

शौर्यं वीरत्वञ्च, ईश्वरीयतेजसः समुपस्थितिः, धैर्यम्, चिन्तने दाक्षिण्यम् अर्थात् '**कर्मसु कौशलम्**'–कर्मविधाने चातुर्यम्, प्रकृतेः संघर्षात् पलायनाभावस्य स्वभावः, दानम् अर्थात् सर्वस्वस्य समर्पणम्, सर्वभावोपरि स्वामित्वमर्थात् ईश्वरभाव एतत् सर्वं क्षत्रियस्य स्वभावजानि, स्वभावादुत्पन्नानि कर्माणि सन्ति। एताः सर्वाः योग्यताः स्वभावे मिलन्ति, तदा तु सः कर्त्ता क्षत्रियोऽस्ति।

इदानीं वैश्य–शूद्रयोः स्वरूपं प्रस्तूयते–

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

कृषिः, गोरक्षाव्यवसायश्च वैश्यस्य स्वभावजन्यानि सन्ति। गोपालनमेव कथम्? महिषीः मारयेयुः? अजाः न पालयेयुः? नैतत् किमपि। पुरातन वैदिक–वाङ्मये गो शब्दः अन्तःकरणस्येन्द्रियस्य च कृते प्रचलित आसीत्। गोरक्षाया अर्थोऽस्ति इन्द्रियरक्षा। विवेकवैराग्यशमादमादिभिरिन्द्रियाणि सुरक्षितानि भवन्ति। कामक्रोधलोभमोहादिभिश्च विभक्ता भवन्ति, क्षीणायन्ते। आत्मिकसम्पत्तिरेव स्थिरा सम्पत्तिरस्ति। इदं स्वकीयं निजं धनमस्ति यद् वारमेकं मिलिते सति

सदैव सान्निध्ये भवति। प्रकृतेर्द्वन्द्वेषु तेषां शनैः-शनैः सङ्ग्रहकरणं व्यवसायोऽस्ति ('विद्या धनं सर्वधन प्रधानम्'-विद्याया अर्जनं वाणिज्यमस्ति) कृषिः? शरीरमेव एकं क्षेत्रमस्ति। अस्यान्तराले सम्यगुप्तं बीजं संस्काररूपेणोत्तममधमञ्चाङ्कुरायते। अर्जुन! अस्मिन् निष्कामकर्मणि 'बीजं' अर्थात् आरम्भस्य नाशो न भवति। (तेषु कर्मण अस्यां तृतीयश्रेण्यां कर्म अर्थात् इष्ट चिन्तनस्य नियतकर्म) परमतत्त्व चिन्तनस्य यद् बीजमस्मिन् क्षेत्रे उप्यते, तत्सुरक्षितं कुर्वन् सन्नस्मिन् आगन्तव्यानां विजातीयाविकाराणां निराकरणविधानं कृषिरस्ति।

कृषि निरावहिं चतुर किसाना।

जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।। (मानस, ४।१४।८)

अनेन प्रकारेण इन्द्रियाणां सुरक्षा तथा प्रकृतेर्द्वन्द्वादात्मिकसम्पत्तेः सङ्ग्रहणम् तथाऽस्मिन् क्षेत्रे परमतत्त्व सम्बद्ध चिन्तनस्य सम्बर्द्धनम्-एतत् वैश्यश्रेणीकः कर्म समुच्यते।

श्रीकृष्णानुसारेण "यज्ञशिष्टाशिनः"-पूर्तिकाले यज्ञो यद्ददाति, तदस्ति परात्पर ब्रह्म, तस्य रसपानकर्त्तारः सन्तजनाः सम्पूर्णेभ्यः पापेभ्यो मुच्यन्ते तस्य च शनैः-शनैः चिन्तनक्रियया बीजारोपणं भवति। तस्य सुरक्षा कृषिरस्ति। वैदिक शास्त्रेष्वन्नस्यार्थोऽस्ति परमात्मा। असौ परमात्मैवेकमात्रमशनमन्नमस्ति। चिन्तनस्य पूर्तिकाले अयमात्मा पूर्णतस्तृप्यते, पुनर्कदापि न भवत्यतृप्तः न च जन्ममरणं भवति। इदं बीजमुत्तरोत्तरमङ्कुरयन् वर्धनं कृषिरस्ति।

स्वावस्थात उन्नतावस्थावतां गुरुजनानां सेवाकरणं शूद्रस्य स्वभावजं कर्माऽस्ति। शूद्रस्यार्थो नीचो नहि अपितु अल्पज्ञः। निम्नश्रेणीकः साधक एव शूद्रोऽस्ति। प्रवेशिका श्रेण्याः साधकोऽसौ परिचर्यात एव प्रारम्भं कुर्यात्। शनैः-शनैः सेवया तस्य हृदये तेषां संस्काराणां सर्जनं भविष्यति, क्रमशश्च चलित्वा स वैश्यक्षत्रियब्राह्मणाधिष्ठानार्हो भवति। तदुत्तरं ब्रह्मणि प्रवेशं प्राप्स्यति। स्वभावः परिवर्तनशीलोऽस्ति। स्वभावपरिवर्तनेन सह वर्णपरिवर्तनं भवति। वस्तुत इमे वर्णा अत्युत्तमः, उत्तमः, मध्यमः, निकृष्टश्चेति अवस्थाचतुष्टयमव-

लम्बते, कर्मपथे गतिशीलानां साधकानामुच्चावचानि चत्वारि सोपानानि सन्ति, कुतोहि कर्मैकैवास्ति, नियतं कर्म। श्रीकृष्णः कथयति यत् परमसिद्धिर्प्राप्तेरयमेकैव पन्थाः यत् स्वभावे यादृशी योग्यतास्ति तत एव संलगेत्। अग्रे द्रष्टव्यम्-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

स्व-स्वभावे सन्निहितयोग्यतानुसारेण कर्मणि संलग्नः मनुष्यः '**संसिद्धिम्**'-भगवत्प्राप्तिरूपिणीं परमसिद्धिं प्राप्नोति। पूर्वमप्युक्तम्-इदं कर्म कृत्वा त्वं परमसिद्धिं प्राप्स्यसि। कीदृशं कर्म कृत्वा? अर्जुन! त्वं शास्त्रविधिना निर्धारितं कर्म, यज्ञार्थं कर्म कुरु। इदानीं स्वकर्मविधानक्षमतानुसारेण संलग्नो मनुष्यः परमसिद्धिं कथं प्राप्नोति? तं विधिं त्वं मत्तः शृणु। ध्यानं देयम्-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

यस्मात् परमात्मनः सर्वाणि भूतानि उत्पन्नान्यभवन्, येनेदं सम्पूर्णं जगद् व्याप्तमस्ति, तं परमेश्वरं '**स्वकर्मणा**'-स्वभावादुत्पन्नकर्मद्वारार्चयित्वा मानवः परमसिद्धिं प्राप्नोति। अतः परमात्मनो भावना, परमात्मनः सर्वाङ्गीणमर्चनं क्रमश्चाग्रसरत्वमावश्यकमस्ति। यथा कश्चिदुच्चैःकक्षायां प्रविशेत्, तर्हि लघुकक्षामपि निरर्थकं करिष्यति, उच्चकक्षातु प्राप्स्यति नहि, अतोऽस्मिन् कर्मपथे सोपानक्रमेण गमनस्य विधानमस्ति (यथा अष्टादशाध्यायस्य षष्ठे श्लोके)। अत्रैव पुनः बलं ददानः कथयति कृष्णः- यदि भवानस्त्यल्पज्ञस्तदापि तत एव आरभताम्। स विधिरस्ति परमात्मनि समर्पणम्।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

सम्यक् प्रकारेणानुष्ठितस्य परधर्मापेक्षया गुणरहितोऽपि स्वधर्मः परमहितकरोऽस्ति। '**स्वभावनियतम्**'-स्वभावेन निर्धारित कृतं कर्म कुर्वाणो मनुष्यः पापमर्थात् जन्ममरणं न प्राप्नोति। प्रायः साधकानां मानसे उच्चाटनं भवितुं लगति यदहं सेवामेवाजीवनं करिष्यामि, असौ तु ध्यानस्थोऽस्ति। सद्

गुणानां कारणात् तस्य सम्मानमस्ति। त्वरितं तेऽनुकरणं कर्त्तुं प्रारभन्ते। श्रीकृष्णानुसारेणानुकरणेन ईर्ष्यया वा न किमपि मेलिष्यति। स्व-स्वभावतः कर्मसम्पादनस्य क्षमतानुसारेण कर्म कृत्वैव कश्चित् परमसिद्धिं प्राप्नोति, त्यक्त्वा नहि।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

कौन्तेय! दोषयुक्तः (अल्पज्ञावस्थावानस्ति तदा सिद्धमस्ति यत् साम्प्रतं दोषबाहुल्यं वर्तते एवं दोषयुक्तोऽपि) '**सहजं कर्म**'-स्वभावोत्पन्नं सहजं कर्म न त्यक्तव्यं, कुतोहि यथा धूमादग्निर्दोषयुक्तः प्रतीयते, तथैव सर्वाणि कर्माणि येनापि केनापि दोषेण दूषितानि सन्ति। ब्राह्मणमेव कल्पयतु, कर्म तु करणीयं भवति। स्थितिर्नामिलत् तावद् दोषोऽस्ति विद्यमानप्रकृतेरावरणं विद्यमानमस्ति। दोषाणामवसानं तत्र भविष्यति, यत्र ब्राह्मणश्रेणीकं कर्मापि ब्रह्मणि विलीयते। तस्य प्राप्तिवतः किं लक्षणम्, यत्र कर्मणां प्रयोजनमेव न भवति?-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

सर्वत्रासक्तिविहीनो बुद्धियुतः, सर्वथेच्छारहितः, जितान्तःकरणः पुरुषः '**संन्यासिनाम्**'- सर्वस्वस्य त्यागावस्थायां परमनैष्कर्म्यस्य सिद्धिं प्राप्नोति। अत्र संन्यासः परमनैष्कर्म्य सिद्धिरिति पदद्वयं परस्परं पर्यायौ स्तः। अत्र सांख्ययोगी तत्रैव प्राप्नोति यत्र तु निष्कामकर्मयोगी। इयमुपलब्धिरुभयोः पान्थयोः समाना। साम्प्रतं परमनैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तः पुरुषः यथा ब्रह्म प्राप्नोति, तस्य संक्षेपतः चित्रणं क्रियते-

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

कौन्तेय! ज्ञानस्य या परानिष्ठाऽस्ति, पराकाष्ठाऽस्ति तां परमसिद्धिं प्राप्तः पुरुषः कथं प्राप्नोति परमं पदम्, तद्विधिं संक्षेपतस्त्वं मम द्वारा विद्धि। अग्रिमे श्लोके तमेव विधिं वर्णयति, ध्यानं देयम्-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

अर्जुन! विशेषरूपेण शुद्धबुद्धियुक्त एकान्तस्य पवित्रदेशस्य च सेवनकर्त्ता, साधनायां यत्परिमाणमन्नं सहायकं भवेत् तावदेवाहारकर्त्ता, मनसः वाण्याः शरीरस्य च विजेता, सम्यग् रूपेण दृढवैराग्यं प्राप्तः पुरुषो निरन्तरं ध्यानयोगे परायणः धारणायुक्तः, वशीकृतान्तःकरणः, शब्दादिकः पञ्चविषयं विहाय राग-द्वेषमुन्मूल्य तथा-

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अहङ्कारं, बलं, गर्वं, कामं, क्रोधं, वाह्यवस्तूनामान्तरिकचिन्तनं सन्त्यज्य, ममतारहितः, शान्तान्तःकरणः पुरुषः परब्रह्मणा सहैकीभावं प्राप्तुं भवति योग्यः। अग्रे द्रष्टव्यम्-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्मणासहैकीभावभवनस्य योग्यतावान् स प्रसन्नचित्तः पुरुषः न तु कस्मैचिद् वस्तुने शोचति न च कस्यापि वस्तुनः आकांक्षां करोति। समस्तजीवेषु प्राप्तसमभावः स भक्तेः पराकाष्ठायां वर्त्तते। भक्तिः स्वपरिणामस्य प्रदानस्य स्थितौ वर्तते, यत्र ब्रह्मणि प्रवेशो मिलति। इदानीम्-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

तत्पराभक्त्या स मां तत्त्वतः सम्यक् जानाति। तत्तत्वं किमस्ति? अहं यादृक् प्रभावयुक्तोऽस्मि, अजरः, अमरः, शाश्वतश्चास्मि यदलौकिक-गुणधर्मवानस्मि तज्जानाति, मां च तत्त्वतः ज्ञात्वा त्वरितं मयि प्रवेशं प्राप्नोति।

प्राप्तिकाले तु भगवान् पुरतः सन्नद्धः दृष्टिपथायते प्राप्तैः क्षणानन्तरं स स्वात्मस्वरूपमीश्वरीय गुणधर्मयुक्तं प्राप्नोति यदा आत्मैवाजरः, अमरः, शाश्वतः, अव्यक्तः, सनातनश्चास्ति।

द्वितीयाध्याये योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन कथितम्– आत्मैव सत्यमस्ति। सनातनः, अव्यक्त, अमृतस्वरूपश्चास्ति, किन्त्वेतत् विभूतियुक्त आत्मा केवलं तत्त्वदर्शिभिर्दृष्टः। इदानीं तत्र प्रश्नः स्वाभाविक आसीत् यत् तत्त्वदर्शितास्ति का? बहवः जनाः पञ्चविंशति तत्त्वतस्य बौद्धिकगणनां कर्त्तुं तत्परायन्ते, किन्तु विषयेऽस्मिन् श्रीकृष्णेन अष्टादशाध्याये निर्णयो दत्तः यत् परमतत्त्वमस्ति परमात्मा, यस्तं जानाति स एव तत्त्वदर्शी। इदानीं चेत् भवेत् तत्त्वस्य कामना, परमात्मतत्त्वस्य च कामना वर्त्तते, तर्हि भजनं चिन्तनमपरिहार्यम्।

अत्रैकोनपञ्चाशत् श्लोकतः पञ्चपञ्चाशत् श्लोकं यावत् कृष्णेन चित्रितं यत् संन्यासमार्गेऽपि कर्म करणीयम्। तेनोक्तम्, 'संन्यासेन'– संन्यासस्य माध्यमेन (अर्थात् ज्ञानयोगद्वारेण) कर्म भूयोभूयः कुर्वन्निच्छारहितः, आसक्तिरहितस्तथा जितशुद्धान्तःकरणवान् पुरुषो येन प्रकारेण नैष्कर्म्यस्य परमसिद्धिं लभते, तत् संक्षेपतः वक्ष्यामि। अहङ्कारः, बलम्, दर्पः, कामः, क्रोधः, मदः, मोह इत्यादयः प्रकृतौ पतनकराः विकाराः यदा सर्वथा शान्ताः भवन्ति, विवेकवैराग्यौ, शमदमौ, एकान्त सेवनम्, ध्यानमित्यादयः ब्रह्मणि प्रवेशदायकाः योग्यता यदा पूर्णतया परिपक्वायन्ते तस्मिन् समये स ब्रह्मज्ञातुं योग्यो भवति। तस्याः योग्यतायाः नाम पराभक्तिरस्ति। अनया योग्यतया स तत्त्वं बुध्यते। तत्त्वं च किमस्ति? मां जानाति? भगवानस्ति, याभिर्विभूतिभिर्युक्तोऽस्ति तं जानाति मां च ज्ञात्वा तत्क्षणं मयि स्थितो भवत्यर्थात् ब्रह्म, तत्त्वम्, ईश्वरः, परमात्मा, आत्मा च परस्परं पर्यायवाचिनः सन्ति। एकस्यावबोधेन सर्वेषां बोधो भवति। इयमेव परमसिद्धिः, परमगतिः, परमधामापीदमेव।

अतः गीतायाः दृढो निश्चयोऽस्ति यत् संन्यासः निष्कामकर्मयोगश्चोभयोः परिस्थित्योः परमनैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तुं नियतकर्म (चिन्तनम्) अनिवार्यमस्ति।

इदानीं यावत्तु संन्यासिने भजनचिन्तनोपरि प्रेरणा प्रदत्ता, इदानीं समर्पणमुक्त्वा तां वार्तां निष्कामकर्मयोगिनेऽपि कथयति–

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

मयि विशेषरूपेण समाश्रिताः पुरुषः सकलानि कर्माणि सदा कुर्वन् लेशमात्रमपि त्रुटिं न कृत्वा कर्म कुर्वन् मम कृपाप्रसादेन शाश्वतमविनाशिनं परमं पदं प्राप्नोति। कर्म तदेवास्ति- नियतं कर्म, यज्ञस्य प्रक्रिया। पूर्णयोगेश्वरं सद्गुरुं समाश्रित्य साधकस्तस्य कृपाप्रसादेन झटिति प्राप्नोति। अतस्तस्मै तत् प्राप्तये समर्पणमावश्यकमस्ति।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

अतः पार्थ! सम्पूर्णानि कर्माणि (यावन्ति त्वया क्रियन्ते) मनसा मह्यं समर्प्य, स्वबलेन नहि प्रत्युत् समर्पणं कृत्वा, मयि परायणो भूत्वा बुद्धियोगमर्थात् योगबुद्धेरवलम्बनं कृत्वा निरन्तरं मयि चित्तं सन्निवेशय। योग एकैवास्ति, यः सर्वथा दुःखानामन्तकः परमतत्त्वे च परमात्मनि प्रवेशं दापयिताऽस्ति। तस्य योगस्य क्रियाऽप्येकैव यज्ञस्य प्रक्रिया, या मनसासहितेन्द्रियसंयमे, श्वासे-प्रश्वासे ध्यानादौ च निर्भरास्ति। यस्य परिणामोऽप्येकैव- "यान्ति ब्रह्म सनातनम्।" अत उपरि अग्रे कथयति-

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

अनेनोक्तप्रकारेण मयि निरन्तरं चित्तसमर्पको भूत्वा त्वं मम कृपया मनस इन्द्रियाणाञ्च सकलं दुःसाध्यं दुर्गमनायासेन तरिष्यसि। "**इन्द्रिन्ह द्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना।। आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी।।**" इमानि दुर्जयानि दुर्गाणि सन्ति। मम कृपया त्वमेतासां बाधानामतिक्रमणं करिष्यसि किन्तु यद्यहंकार कारणात् मम वचनं न श्रोष्यसि तदा विनंक्ष्यसि। परमार्थतः भ्रष्टो भविष्यसि। पुनरत्रैव बलं ददाति-

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

चेत्त्वमङ्कारस्याश्रयं नीत्वेत्थं मन्यसे यत् युद्धं नहि करिष्यामि, तदा ते अयं निश्चयः सर्वथा मिथ्यास्ति, कुतोहि तव स्वभावस्त्वां बलात् युद्धे नियोजयिष्यति।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

कौन्तेय! मोहस्य वशीभूतस्त्वं यत्कर्म कर्त्तुं नेच्छसि, तदपि स्व-स्वभावाद्युत्पन्नकर्मबन्धनबद्धः परवशो भूत्वा करिष्यसि। प्रकृतेः संघर्षतोऽ-पलायनस्य तव क्षत्रियश्रेण्याः स्वभावस्त्वं बलात् कर्मणि नियोक्ष्यति। प्रश्नोऽभवत् पूर्णः। साम्प्रतं स ईश्वरः कुत्र वर्त्तते? अत उपरि कथयति-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।।६१।।

अर्जुन! स ईश्वरः सम्पूर्ण भूतप्राणिनां हृदयदेशे निवासं करोति। एतावान् सन्निकटस्थस्तर्हि जनाः कथं न जानन्ति? मायारूपयन्त्रे समारूढा भूत्वा सर्वे जनाः भ्रमवशात् चक्रवत् परिभ्रमन्ति, अतएव नहि जानन्ति। यन्त्रमिदं बहुबाधकं यत् वारं-वारं नश्वरशरीरेषु भ्रामयति। तर्हि कस्य शरणं ग्राह्यम्-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

अतएव भारत! सम्पूर्णभावेन तस्येश्वरस्य (यो हृदयदेशे स्थितोऽस्ति) अनन्यशरणं प्राप्तं कुरु। तस्य कृपाप्रसादेन त्वं परमशान्तिं, शाश्वतं परमधाम च लप्स्यसे। अतो ध्यानं करणीयमस्ति चेत्तदा हृदयदेशे ध्यानं कार्यम्। एतत् ज्ञात्वापि मन्दिरे, मस्जिदे, चर्चे तथान्यत्रान्वेषणं समयस्य दुरुपयोगोऽस्ति। आम्, नास्त्यवबोधस्तावत् स्वाभाविकोऽस्ति मन्दिरादि गमनम्। ईश्वरस्य निवास-स्थानं हृदयमस्ति। भागवतस्य चतुःश्लोक्याः गीतायाः सारांशोऽप्ययमेव यदहं सर्वत्रास्मि, किन्तु मिलामि हृदयदेशे ध्यानात्।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

अनेन प्रकारेण गोपनीयादप्यतिगोपनीयं ज्ञानं मया त्वदर्थं कथितम्। अनेन विधिना सम्पूर्णरूपेण विचारय, पुनस्त्वं यथेच्छसि तथा कुरु। सत्यमेतत्, शोधस्थलमेतत्, प्राप्तिस्थलमेतत् किन्तु हृदयस्थित ईश्वरः न दृश्यते, अत उपायो वर्ण्यते–

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयादप्यतिगोपनीयं रहस्ययुक्तं मम वचनं त्वं पुनः शृणु! (त्वदर्थं पूर्वं कथितं यद्यपि, पुनरपि शृणु। साधकस्य कृते इष्टः सदैवोपस्थितः) कुतोहि त्वं ममातिशयप्रियः, एतस्मादिदं परमहितकारकं वचनं त्वां पुनः वक्ष्यामि। तत् किमस्ति?–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अर्जुन! त्वं मय्येवानन्यमनाः भव, ममानन्यभक्तो भव, मां प्रति श्रद्धायुतो भव (मयि समर्पणावसरेऽश्रुपातो भवेत्), मामेव नमनं कुरु, एवं विधिना त्वं मां प्राप्स्यसि। इदं सर्वं त्वां सत्यप्रतिज्ञया वदामि, कुतोहि त्वं ममात्यन्तप्रियः। पूर्वमुक्तं तेनेश्वरः हृदयदेशे वसति तस्य शरणं गृहाण, अत्र तु कथयति कृष्णः– मम शरणमागच्छ।इदमतीव गोपनीय रहस्ययुक्तं वचनं शृणु यन्मम शरणागतो भव। वस्तुतः योगेश्वरः श्रीकृष्णः किं वक्तुं वाञ्छति? एतदेव यत् साधकस्य कृते सद्गुरोः शरणं नितान्तमावश्यकमस्ति। श्रीकृष्ण आसीत् एकः पूर्ण योगेश्वरः। साम्प्रतं समर्पणस्य विधिं वर्णयति–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

सम्पूर्ण धर्मान् परित्यज्य (अर्थादहं ब्राह्मणश्रेण्याः कर्त्तास्मि, शूद्रश्रेण्याः वा क्षत्रियोऽस्मि, वैश्योऽस्मि इति विचारं त्यक्त्वा) केवलमेकं ममानन्यशरणं प्राप्नुहि। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि। त्वं शोकं मा कुरु।

पूर्वोक्त ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णस्य विचारं मा कुरु (यदस्मिन् कर्मपथे कस्य स्तरस्याहमस्मि) यो अनन्यभावेन शरणागतो भवति, इष्टादतिरिक्तं नान्यं कमपि पश्यति, तस्य क्रमशः वर्णपरिवर्तनस्य, उत्थानस्य तथा पूर्ण पापेभ्यः निवृत्तेः (मोक्षस्य) सर्वं दायित्वमिष्टः–सद्गुरुः स्वयं स्वहस्ते आदधाति।

प्रत्येकं महापुरुषैरिदमेवोक्तम्। शास्त्रं यदा लेखितुमारभ्यते तदा लगति यदिदं सर्वस्य हितायास्ति, किन्तु वस्तुतः श्रद्धावतां कृते मात्रमस्ति। अर्जुन आसीदधिकारी तस्मादेव सबलमुपादिदेश। सम्प्रति योगेश्वरः स्वयं निर्णयं ददाति यदस्याधिकारिणः के?–

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

अर्जुन! अनेन प्रकारेण तव हिताय कथितं गीतोपदेशं कस्मिंश्चिदपि काले भ्रान्तो भूत्वापि तपो विरहिताय मनुष्याय न कथनीयम्, न भक्तिरहिताय कथनीयम्, न श्रवणेच्छारहिताय कथनीयम्, यश्च मम निन्दां करोति– अयं दोषः, स दोषः– अनेन प्रकारेणालीकामालोचनां करोति तं प्रत्यपि न कथनीयम्। महापुरुष–स्त्वासीदेव, यस्य समक्षं स्तुतिकर्त्तृभिः सहैवसहैव कतिपय निन्दका अपि अभविष्यन्। एतां तु न कथनीयम्; किन्तु प्रश्नः स्वाभाविकोऽस्ति यत् सम्प्रति कथनीयम्। अत्र द्रष्टव्यम्–

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

यो मनुष्यः मयि परमप्रेमविधायेमं परमरहस्ययुक्तं गीतोपदेशं मम भक्तान् कथयिष्यति स निस्सन्देहं मां प्राप्स्यति। अर्थात् स भक्तः मां प्राप्तं करिष्यति यः श्रोष्यति, कुतोहि उपदेशं सम्यगाकर्ण्य हृदयङ्गमं करिष्यति तदा तदुपरि चलिष्यति तथा पारं प्राप्तं करिष्यति। सम्प्रति तस्योपदेशकर्त्तुःकृते कथयति–

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

ततोऽधिकं न ममातिशयप्रियः कार्यकर्त्ता मनुष्येषु कश्चित् न च ततोऽधिकं ममात्यन्तप्रियः पृथिव्यामपरः कोऽपि भविष्यति। कस्मात्? यः मम भक्तेषु ममोपदेशं करिष्यति, तान् तत्पथे चालयिष्यति, कुतोहि कल्याणस्येदमेकमेव स्रोतः राजमार्गोऽस्ति। अग्रे पश्यतु-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

यः पुरुष इममावयोः धर्ममयं सम्वादम् '**अध्येष्यते**'-सम्यग् रूपेण मननं करिष्यति तद्द्वारेणाहं ज्ञानयज्ञेन पूजितो भविष्यामि अर्थात् एतादृशो यज्ञः यस्य परिणामः ज्ञानमस्ति, यस्य स्वरूपं पूर्वं वर्णितम्, यस्य तात्पर्यमस्ति साक्षात्कारेण सह प्राप्तावबोधः, इति निश्चितं मतं मम।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

यः पुरुषः सश्रद्धम्, ईर्ष्यारहितः केवलं श्रोष्यति सोऽपि पापमुक्तो भूत्वोत्तमकर्मकर्त्तृणां श्रेष्ठं लोकं लप्स्यते अर्थात् पूर्वं पारं न प्राप्नुयात् तदा श्रवण मात्रं कुर्यात् तदाप्युत्तमलोकप्राप्तिः। कुतोहि, स चित्ते तानुपदेशान् गृहीत्वा धारयति। अत्र सप्तषष्ठिश्लोकत एकसप्ततिश्लोकं यावत् पञ्चसु श्लोकेषु भगवान् कृष्ण एतदेवोक्तवान् यद् गीताया उपदेशोऽनधिकारिभ्यो न देयः, किन्तु ये श्रद्धावन्तस्तेभ्योऽवश्यं वर्णनीयः। यः श्रोष्यति स भक्तः मां प्राप्स्यति। कुतोहि, अतीव गोपनीयं कथां श्रुत्वा पुरुषः चलितुं लगति। यो भक्तान् कथयिष्यति ततोऽधिकः प्रियः वक्ता नास्ति कोऽपि मम। योऽध्ययनं करिष्यति, तद्द्वारेण ज्ञानयज्ञतः पूजितो भविष्यामि, यस्य परिणामः ज्ञानमस्ति। यः गीतानुसारेण कर्म कर्त्तुमसमर्थः, किन्तु श्रद्धयाऽऽकर्णयिष्यति सोऽपि पुण्यश्लोकं गमिष्यति। अनेन प्रकारेण भगवान् श्रीकृष्णः गीतायाः कथनस्य श्रवणस्याध्ययनस्य फलं वर्णितवान्। प्रश्नः पूर्णोजातः। अन्ततः कृष्ण अर्जुनं पृच्छति-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

पार्थ! किमिदं मदीयं वचनं त्वमेकाग्रचित्तो भूत्वा श्रुतवान् ? किं तवाज्ञानादुत्पन्नः मोहोऽभवन्नष्टः? अत उपरि अर्जुनः वदति–

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अच्युत ! भवतः कृपया मम मोहो विनष्टोऽभवत्, अहं स्मृतिं प्राप्तवान्। (यद् रहस्यमयं ज्ञानं मनुः स्मृतिपरम्परया चालितवान् तज्ज्ञानमर्जुनः प्राप्तवान्।) सम्प्रत्यहं संशयरहितः स्थितोऽस्मि, भवत आज्ञायाश्च पालनं करिष्यामि, यदा हि सैन्यनिरीक्षणावसरे सेनयोरुभयोर्मध्ये स्वजनान् दृष्ट्वार्जुनः व्याकुलोऽभवत्। स निवेदनं कृतवान् यत् गोविन्द! स्वजनान् हत्वाऽहं कथं सुखी भविष्यामि? अनेन युद्धेन शाश्वतः कुलधर्मः नंक्ष्यति, पिण्डोदकक्रिया लुप्ता भविष्यति, वर्णसङ्करोत्पत्तिर्भविता। वयं सज्ञानाभूत्वापि पापं कर्त्तुं समुद्यताः स्म। कथं नैतस्मात् रक्षणादुपायो विधेयः। शस्त्रधारिण इमे कौरवाः शस्त्ररहितं मां घ्नन्तु तत् मरणं श्रेयस्करम् । गोविन्द! नाहं युद्धं करिष्यामि–इति कथयन् रथस्य पृष्ठभागे समुपविष्टः।

अनेन प्रकारेण गीतायामर्जुनः योगेश्वरः श्रीकृष्णस्य समक्षं प्रश्नानां परिप्रश्नानाञ्च शृंखलामुपस्थापितवान् यथा–(२/७ अध्याये) तत्साधनं मां प्रति कथय येनाहं परमश्रेयः लभै? (२/५४) स्थितप्रज्ञस्य महापुरुषस्य लक्षणानि कानि? (३/१) यदा भवतः दृष्टौ ज्ञानयोगः श्रेष्ठोऽस्ति तदा मां भयङ्करे कर्मणि किमर्थं योजयति? (३/३६) मनुष्योऽनिच्छन्नपि कस्य प्रेरणया पापाचरणं करोति? (४/४) भवतः जन्मत्विदानीमभवत्, सूर्यस्य जन्मातीव पुरातनमस्ति, तदाहं कथं मानयामि यत् कल्पादौ योगमिमं भवान् सूर्यं कथितवानासीत्? (५/१) कदाचित् भवान् संन्यासस्य प्रशंसा करोति, कदाचित्तु निष्कामकर्मणः। एतयोरेकतरं निश्चीय कथयतु येनाहं परमश्रेयो लभै। (६/३५) मनश्चञ्चलमस्ति, पुनः शिथिलप्रयत्नः श्रद्धावान् पुरुषः भवन्तं न प्राप्त्वा कां गतिं गच्छति? ८/१–२) गोविन्द! भवता यस्य वर्णनं कृतं, तद् ब्रह्म किमस्ति? तदध्यात्म किमस्ति?

अधिदैवमधिभूतञ्च किमस्ति? अस्मिन् शरीरेऽधियज्ञः कोऽस्ति? तत्कर्म किम्? अन्त समये भवान् कथं ज्ञातुं शक्यते? इति सप्तप्रश्नाः कृताः। (१०/१७) अर्जुनः जिज्ञासां कृतवान्, निरन्तरं चिन्तनं कुर्वन्नहं भवन्तं केन-केन भावेन स्मरामि? (११/४) यासां विभूतीनां भवता वर्णनं कृतं ताः सर्वाः प्रत्यक्षमहं द्रष्टुमिच्छामि? (१२/१) योऽनन्यश्रद्धया संलग्नः सन् भक्तजनः सम्यग् रूपेण भवन्तं भजन्ते, यश्चाक्षरमव्यक्तमुपासते, उभयोरुत्तमो योगवेत्ता कः? (१४/२१) त्रिभिर्गुणैरतीतः पुरुषः कैर्लक्षणैर्युक्तो भवति तथा मनुष्यः केनोपायेन गुणत्रयमतिशेते? (१७/१) यो मनुष्य उपर्युक्त शास्त्रविधिं विहाय किन्तु सश्रद्धो भूत्वा यजते तस्य का गतिर्भवति? (१८/१) महाबाहो! अहं योगसंन्यासयोर्यथार्थ स्वरूपं पृथक्-पृथग् ज्ञातुमिच्छामि।

इत्थमर्जुनः प्रश्नानकरोत्। यत् स न कर्त्तुं शक्तस्तत् गोपनीयं रहस्यं भगवान् स्वयं दर्शितवान् । प्रश्नानां समाधानोत्तरं स प्रश्नात् विरतोऽभवत्, कथितवान् च गोविन्द! सम्प्रत्यहं भवत आज्ञापालनं करिष्यामि। वस्तुत इमे प्रश्नाः मानवमात्रकृते सन्ति। एतेषां प्रश्नानां समाधानं विना कोऽपि साधकः श्रेयसो मार्गे न भवितुं शक्नोत्यग्रेसरः। अतः सद्गुरोरादेशपालनकरणाय, श्रेयसः पथि अग्रेसराय सम्पूर्ण गीतायाः श्रवणमत्यावश्यकम्। अर्जुनस्य समाधानमभवत्, सहैव योगेश्वरः श्रीकृष्णस्य श्रीमुखान्निःसृतायाः वाण्या उपसंहारोजातः। अत उपरि सञ्जय उवाच-

(एकादशेऽध्याये विराट् रूपदर्शनानन्तरं योगेश्वरः श्रीकृष्ण उक्तवान् - अर्जुन! अनन्यभक्तिद्वारेणाहमनेन प्रकारेण दर्शनाय (यथा त्वं दृष्टवान्) तत्त्वतः ज्ञानाय तथा प्रवेशकरणाय सुलभोऽस्मि (११/५४)। अनेन प्रकारेण दिदृक्षवः साक्षात् मम स्वरूपं प्राप्नुवन्ति, अत्र चेदानीमर्जुनं पृच्छति कृष्णः, किं तव मोहो नष्टो जातः? अर्जुनेन कथितं नष्टो जातः। अहं स्वस्मृतिं प्राप्तोऽस्मि। भवान् यत् कथयति, तदेव करिष्यामि। दर्शनेनैव अर्जुनेव मुक्तेन भवितव्यमुचितमासीत्। वस्तुतोऽर्जुनस्य कृते यद् भाव्यमासीत् तदभवत्, किन्तु शास्त्रं भविष्ये आगन्तुकानां पुरुषाणां कृते भवति, तस्योपयोगः सर्वस्य हेतवे एव।)

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

अनेन प्रकारेणाहं वासुदेवस्य महात्मनः अर्जुनस्य च (अर्जुन एकः महात्मास्ति, अस्ति योगी साधकश्च, न तु कश्चिद्धनुर्धरः, यः हन्तुमस्ति समुद्यतः। अत अर्जुनः महात्मास्ति) एतद् विलक्षणं लोमहर्षकं सम्वादं श्रुतवान् । भवति श्रवणक्षमता कुतः समायाता? अग्रे वदति–

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

श्रीव्यासस्य कृपया, तद् द्वारा प्रदत्तदृष्ट्या मया परमगोपनीयं योगं साक्षात् कृष्णेन कथयन्तमश्रौषम् । श्रीकृष्णं योगेश्वरं मनुते सञ्जयः। यः स्वयं योगी भवेत्, अपरेभ्योऽपि योगप्रदानस्य सामर्थ्यं धारयेत् सो योगेश्वरोऽस्ति।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

राजन्! केशवार्जुनयोरिदं परमं कल्याणकारकमद्भुतं सम्वादं पुनः-पुनः स्मृत्वा भूयोभूयोऽहं प्रसीदामि। अतः सम्वादोऽयं सदैव स्मरणीयः। अनया स्मृत्या प्रसन्नेन स्थातव्यम् । सम्प्रति तस्य स्वरूपं स्मृत्वा सञ्जयः कथयति–

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

राजन् ! हरेः (यः शुभाशुभं सर्वमपहृत्य स्वयमवशिष्यते, तस्य हरेः) अत्यद्भुतं रूपं पुनः-पुनः स्मृत्वा मम मनसि कौतूहलमुदेति वारम्वारञ्च हृष्यामि। इष्टस्य स्वरूपं वारं-वारं स्मरणीयं वस्त्वस्ति। अन्ते सञ्जयः निर्णयं ददाति–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

राजन् ! यत्र योगेश्वरः श्रीकृष्णः, धनुर्धरोऽर्जुनः (ध्यानमेव धनुरस्ति, इन्द्रियाणां दृढतैव गाण्डीवमस्त्यर्थात् स्थिरतया सह ध्यानधारको महात्मार्जुनः) अस्ति, तत्रैव श्रीः-ऐश्वर्यं, विजयः-यस्य पृष्ठे पराजयोऽस्त्येव नहि, ईश्वरीया विभूतिश्चले संसारे चाचलतया स्यातुं शक्या नीतिरस्ति- इति मम मतम्।

अद्य तु धनुर्धरो नास्त्यर्जुनः। इयं नीतिः, विजयविभूतिश्चार्जुनं यावदासीत् सीमिता। इयं स्थितिस्तात्कालिक्येव। इयं तु द्वापरे समाप्तिं गता? किन्तु नैतत्तथ्यम्। योगेश्वरेणोक्तम्, यदहं सर्वस्य हृदयदेशे निवसामि। भवतो हृदयदेशेऽप्यसावेव। अनुराग एवास्त्यर्जुनः। अनुरागो भवत अन्तःकरणस्य इष्टाभिमुखं संलग्नतायाः संज्ञा। यद्येवमनुरागोऽस्ति भवतो हृदयान्तराले, तदा तु सर्वत्र विजय एव। अचलां स्थितिं दापयितृ नीतिरपि सर्वदा स्थास्यति, न तु कदाचित्। यावत् प्राणिनः स्थास्यन्ति तावत् सर्वेषां हृदि परमात्मनो निवासः सुनिश्चितः, विकलो जीवात्मा तं परमात्मानं प्राप्तुं बहुलालायितो भविष्यति, तेषु यस्य तमुपलब्धुंभविष्यति हृदयदेशे प्रबलेच्छा, तदेवार्जुनस्य श्रेण्यां प्रवेक्ष्यति कुतोहि अनुराग एवास्त्यर्जुनः। अतोहि मानवाः सर्वे भवितुं शक्नुवन्त्यस्य प्रत्याशिनः।

निष्कर्षः-

अयमध्यायो गीतायाः समापनस्य। आरम्भ एवासीदर्जुनस्य प्रश्नो यत् प्रभो! अहं संन्यासत्यागयोर्भेदं स्वरूपञ्च ज्ञातुमीहे। योगेश्वरेणाप्यस्य प्रश्नस्योत्तररूपेण प्रचलितानि चत्वारि मतानि वर्णितानि। एतेष्वेकं मतं यथार्थं वास्तवं सत्यञ्चाप्यासीत्। तेनानुमोदितं तुल्यं मतं तेन समुपवर्णितं यत् यज्ञः, दानम्, तपश्च न कश्चिदपि काले त्यक्तुमर्हाः। यज्ञादयो मनीषिणोऽपि पावयन्ति। इमानि त्रीणि सन्धारयन्, एतेषां विरोधीनां विकाराणां परित्याग एव वास्तविको त्यागोऽस्ति। अयं सात्त्विकत्यागः कथ्यते। फलेच्छया सह कृतस्त्यागः राजसस्त्यागो, मोहवशश्च नियतकर्मण एव त्यागकरणं तामसस्त्यागः समुच्यते। संन्यासश्च त्यागस्य चरमोत्कर्षावस्थाऽस्ति। नियतं कर्म ध्यानजनितं सुखञ्च सात्त्विकं स्मृतम्। इन्द्रियाणां विषयाणाञ्च भोगः राजसः कथ्यते। तृप्तिदायकश्चान्न-स्योत्पत्तितोरहितो दुःखकरं सुखं तामसं कथ्यते।

मानवानां द्वारा शास्त्रानुकूलं प्रतिकूलञ्च कार्यसम्पादने पञ्च कारणानि सन्ति–कर्त्तुः (मनसः), पृथक्–पृथग् करणानि (यथा माध्यमेन कार्यं सम्पद्यते। शुभफलप्राप्तये विवेकः, वैराग्यम्, शमः, दमः, पृथक्–पृथग् करणानि सन्ति। अशुभार्थं कर्त्तुर्मनसः, कामः, क्रोधः, रागः, द्वेष इत्यादीनि करणानि भवन्ति), नाना प्रकारिकाः इच्छाः–इच्छाः अनन्ताः सन्ति, सकलेच्छान् न पूरयितुं शक्नुवन्ति। केवलं सेच्छा पूरयति, यया सहाधारः समुपलभ्यते। चतुर्थं कारणमस्ति–आधारः (साधनम्), पञ्चमञ्च कारणं दैवम् (प्रारब्धः संस्कारो वा)। प्रत्येकं कार्यस्य सम्पादनायेमानि भवन्ति पञ्च कारणानि। पुनरपि यः कैवल्यस्वरूपं परमात्मानं कर्त्ता मन्यते स मूढबुद्धिर्यथार्थं नावगच्छति, अर्थात् नास्ति भगवान् कर्त्ता, यदा तु पूर्वं वर्णितमस्ति, यदर्जुन! त्वं निमित्तमात्रो भूत्वा सन्नद्धो भव। कर्त्ता–धर्त्ता अहमेवास्मि। अन्ततस्तस्य महापुरुषस्य क आशयः?

वस्तुतः प्रकृतिपुरुषयोर्मध्ये आकर्षणस्य सीमा वर्तते। यावन्मनुष्यः प्रकृतौ विचरति, तावन्माया प्रेरयति, यदा च स उपर्युत्थायेष्टे समर्पितो भवति स चेष्टः यदा हृदयदेशस्थः रथवाहको भवति तदा भगवान् कर्त्ता। अस्मिन्नेव स्तरे आसीदर्जुनः, सञ्जयोप्यासीत्। सर्वस्य च कृतेऽस्मिन् लक्ष्ये गमनस्य विधानमस्ति। अत इतो भगवान् प्रेरयति। पूर्ण ज्ञातुर्महापुरुषस्य ज्ञानस्य विधेः, ज्ञेय परमात्मनश्चेति त्रयाणां संयोगतः कर्मणः प्रेरणा मिलति। अतएव कस्यचिदनुभविनो महापुरुषस्य (सद्गुरोः) सान्निध्यं सम्प्राप्यावबोधस्य प्रयासः करणीयः।

वर्णव्यवस्थायाः सम्बन्धे चतुर्थवारं प्रश्नं सन्धारयन् योगेश्वरेण कृष्णेन विवेचितम्। इन्द्रियाणां दमनम्, मनसः शमनम्, एकाग्रता, शरीरं, वाणीं मनश्चेष्टानुरूपं सन्तापनम्, ईश्वरीय ज्ञानस्य सञ्चारः, ईश्वरीय निर्देशनोपरि वर्तनस्य क्षमतेत्यादि योग्यताः ब्रह्मणि प्रवेशदायिकाः सन्ति तथा चोक्तयोग्यतायुक्तः ब्राह्मणश्रेणीकस्तस्य ब्राह्मणस्य कर्माणि सन्ति। शौर्यम्, पृष्ठाभिमुखमपलायनस्य स्वभावः, सर्वभावेषु स्वामित्वस्थापनम्, कर्मणि प्रवर्तनस्य क्षमता, क्षत्रियश्रेणीकस्य पुरुषस्य कर्मास्ति। इन्द्रियाणां संरक्षणमात्मिकसम्पत्तेः सम्वर्द्धनमित्यादि वैश्यश्रेणीकस्य पुरुषस्य कर्मास्ति, परिचर्या च शूद्रश्रेणीकस्य कर्मास्ति। शूद्रस्यार्थोऽस्त्यल्पज्ञः। योऽल्पज्ञसाधकः नियतकर्मनुसन्धाने घण्टाद्वयं

स्थित्वापि दश मिनटं यावदपि साधनं स्वपक्षे न सन्दधाति। शरीरं तु अवश्यमेवोपविष्टोऽस्ति किन्तु यस्य मनसः स्थैर्यमपेक्षते स पवनमपि पराजयते। एतादृशस्य साधकस्य कथं भवेत् कल्याणम्? तस्यास्ति कर्त्तव्यं यत् स स्वतः समुन्नतावस्थावतां सेवां कुर्यात् अथवा सद्गुरोः शरणम्। शनैः-शनैः तस्मिन्नपि संस्काराणां सृजनं भवति, गतिर्भविष्यत्यनुकूला। अतोऽस्याल्पज्ञस्य सेवातः कर्मारम्भो भविष्यति। कर्म तु एकमेवास्ति- नियतकर्म चिन्तनम्। तस्य कर्त्तुश्चतस्रः कोटयः सन्ति-अत्युत्तमः, उत्तमः, मध्यमः, निकृष्टश्च। एष एव क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्राः सन्ति। मनुष्यमण्डलं नहि, प्रत्युत् गुणानां माध्यमेन कर्माणि भागचतुष्टये विभाजितानि सन्ति। गीतोक्तः वर्ण एतावानस्ति।

तत्त्वं सुस्पष्टयन् तेनोक्तं यत् अर्जुन! तस्य परमसिद्धे विधिं वक्ष्यामि, यो विधिः ज्ञानस्य पराकाष्ठा कथ्यते। विवेकः, वैराग्यम्, शमः, दमः, अनवरत चिन्तनम्, ध्यानस्य प्रवृत्तिश्चेत्यादयः ब्रह्मणि प्रवेशदायिकाः समस्ताः योग्यताः यदा भवन्ति परिपक्वाः कामः, क्रोधः, मोहः, रागः, द्वेषादयः बलात् प्रकृतौ प्रेरिताः प्रवृत्तयः यदा पूर्णरूपेण शान्ताः भवन्ति, तस्मिन् समये व्यक्तिरसौ ब्रह्मज्ञानयोग्यो भवति। तस्या एव योग्यताया नाम पराभक्तिरस्ति। पराभक्तिद्वारेणैव स तत्त्वमवगच्छति। किमस्ति तत् तत्त्वमवदत्- यदहमस्मि, यद् विभूतियुक्तोऽस्मि तत्सर्वं जानाति, अर्थात् यदस्ति परमात्माव्यक्तः, शाश्वतः, अपरिवर्तनशीलः, यदलौकिकगुणधर्मसम्पन्नोऽस्ति तज्जानाति, ज्ञात्वा च तत्क्षणं मयि भवति स्थितः। अतस्तत्त्वमस्ति परमतत्त्वं न तु पञ्चतत्त्वानि पञ्चविंशति तत्त्वानि वा। प्राप्त्या सहात्माऽपि तस्मिन्नेव स्वरूपे भवत्यवस्थितः, तद्गुणधर्मयुक्तो भवति।

ईश्वरस्य निवासं वर्णयन् सन् योगेश्वरेण कृष्णेनोदीरितम्- अर्जुन! स ईश्वरः समस्त भूतानां हृदयदेशे निवसति, किन्तु मायारूप यन्त्रमारुह्य जना इतस्ततः परिभ्रमन्ति अतएव न बुद्ध्यन्ते। अत अर्जुन! त्वं हृदयं स्थितस्य तस्येश्वरस्य शरणं व्रज। इतोऽपि गोपनीयमपरमेकं रहस्यं वरीवर्ति यत् सर्वेषां धर्माणां चिन्तां विहायैकं मम शरणमागच्छ। त्वं मां प्राप्स्यसि। इदं रहस्यमनधिकारिणं न कथनीयम्, ये न सन्ति भक्तास्तानपि च न ज्ञापनीयम्। किन्तु ये सन्ति भक्तास्तानवश्यमेव वदेत्। भक्तात् गोपनं न कार्यं कृते सति

गोपने तस्य कल्याणं कथं भविष्यति? अन्ततोगत्वा योगेश्वरः कृष्ण अर्जुनमपृच्छत्– अर्जुन! मया यदीरितं तत्सर्वं त्वं श्रुतवान् ज्ञातवान् च? तव मोहो नष्टोऽभवन्नवा? अर्जुनः कथितवान्– भगवन्! मम मोहः सर्वथा नष्टः। अहं स्वस्मृतिं प्राप्तोऽस्मि। यदुच्यते भवता तदेव सत्यम्, अहमपि तदेव करिष्यामि।

सञ्जयः येन श्रीकृष्णार्जुनयोः सम्वादो सम्यगश्रावि, स्वनिर्णयं ददाति यत् श्रीकृष्णः महायोगेश्वर अर्जुनश्चैको महात्मा। तयोः सम्वादमाकर्ण्य भूयो-भूयः कृतस्मरणः स अतीव प्रमुदति। अतोऽनयोः सम्वादः सर्वदा स्मर्तव्यः। तं हरिरूपमपि स्मृत्वा भूयोभूयः हर्षति। अतो भूयोभूयः स्वरूपस्य स्मरणं करणीयं ध्यानं च निरन्तरं विदधीत्। यत्र योगेश्वरः कृष्णः राजते, यत्र च महात्मार्जुनः शोभते, तत्रैव श्रीः, विजयो विभूति, ध्रुवनीतिश्च तत्रैव विलसति। सृष्टे नीतयोऽद्य वर्त्तन्ते, श्वो न भविष्यति। ध्रुवन्त्वेकमेव परमात्मास्ति, तस्मिन् परमात्मनि प्रवेशदायिका नीतिः ध्रुवानीतिश्च कथ्यते। श्रीकृष्णमर्जुनञ्च द्वापरकालोद्भवं व्यक्तिविशेषं स्वीक्रीयात्तदा नाद्यार्जुनः न च श्रीकृष्णः। भवते न विजयः प्राप्तव्यः, न च विभूतिः प्राप्तव्या तदा तु भवतः कृते गीतेयं निष्प्रयोजना? किन्तु नहि, श्रीकृष्ण एक आसीत् योगी, अनुरागपूरित हृदयवान् महात्मैवासीदर्जुनोऽपि। इमौ सदैव स्तः स्थास्यतश्च। श्रीकृष्णः स्वपरिचयं ददानः कथितवान् यदहमव्यक्तः, किन्तु यं भावं प्राप्तोऽस्मि स ईश्वरः सर्वेषां हृदयदेशे निवसति। स सदैवास्ति स्थास्यति च। तस्य शरणं ग्राह्यं सर्वैः शरणगः मनुष्यः महात्मास्ति, अनुरागी अस्ति, अनुरागश्चार्जुनोऽस्ति। एतदर्थं कस्यचित् स्थितप्रज्ञस्य महापुरुषस्य शरणमनिवार्यम्, कुतोहि अस्य स एव प्रेरकोऽस्ति।

अस्मिन्नध्याये संन्यासस्य स्वरूपं चित्रितम् यत् सर्वस्वस्य न्यासः (त्यागः) संन्यासः समुच्यते। केवलं संन्यासिनः कृते दण्ड, गैरिकवाससः धारणमेव नास्ति संन्यासः। प्रत्युत् एभिः सहैकान्तसेवनं कुर्वन् सन् नियतकर्मणि स्वशक्तिं सम्बुध्य समर्पणेन साकं सततं प्रयत्नं भवत्यपरिहार्यम्। प्राप्त्या सह समस्त कर्मणां त्यागः संन्यासोऽस्ति, यो मोक्षस्य पर्यायोऽस्ति। इयमेव संन्यासस्य पराकाष्ठा समुच्यते, अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‌भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संन्यासयोगो' नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संन्यासयोगो' नाम अष्टादश-ऽध्यायः।।१८।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।

उपशमः

प्रायष्टीकासु जनाः नूतनं वृत्तान्तं मार्गन्ते, किन्तु वस्तुतः सत्यन्तु सत्यमेव। तत्सत्यन्तु न भवति नूतनं पुरातनञ्च। नवीनाः वृत्तान्तास्तु समाचारपत्रेषु प्रकाशिताः दृश्यन्ते, ते वृत्तान्ताः समतीताः विद्यमानाश्च घटनाः सन्ति। सत्यमपरिवर्तनशील–मस्ति, तर्हि अन्यः कश्चित् किं वक्तुं शक्ष्यति। यदि कश्चित् किमपि ब्रूते, तदा स सत्यस्य साक्षात्कारं न प्राप्तवान्। प्रत्येकं महापुरुषाः यदि साधनाबलेन तल्लक्ष्यं यावत् अगच्छन्, तदा सर्वे ते एकमेव सत्यम् वर्णयिष्यन्ति। ते महापुरुषाः समाजस्यान्तराले भेदं न कुर्वन्ति। यदि भेदं कुर्वन्ति तदा सिद्धमस्ति यत् ते सत्यम् न प्रापुः। श्रीकृष्णोऽपि तत् सनातनं सत्यमेव कथयति, यत्सत्यं पूर्व मनीषिभिर्दृष्टमासीत् तथा प्राप्तमासीत्, भविष्येऽपि च आगन्तुकाः महापुरुषा अपि यदि सत्यं साक्षात्करिष्यन्ति तदा इदमेव कथयिष्यन्ति यत् सत्यं सत्यमेवाऽस्ति।

महापुरुषास्तथा तेषां कार्यप्रणालयः–

महापुरुषाः संसारे सत्यस्य नाम्नाव्याजेन वा प्रसृतानां सत्यवत् प्रतीतिंगतानां कुरीतिनां शमनं कृत्वा कल्याणस्य पन्थानं प्रशस्तं कुर्वन्ति। अयमपि पन्थाः संसारे पूर्वकालतः प्रचलितः प्रसिद्धश्च सुशोभते, किन्तु तस्यैव पथः समानान्तरास्तद्वद्भासिता अनेके पन्थानः प्रचलिता भवन्ति। तेषु पथबहुलेषु सत्यस्य निर्वचनमतीव कठिनं भवति यत् यथार्थतः सत्यं किमस्ति। महापुरुषाः सत्ये स्थिताः सन्तस्तत्र सत्यान्वेषणं कुर्वन्ति, तत् सत्यं निश्चिन्वन्ति तथा समाजं सत्योन्मुखं कर्त्तुं प्रेरयन्ति। इदमेव प्रेरणाप्रदं कर्म रामेणाचरितम्, महात्मना बुद्धेनाऽपि तदेव विहितम्, महावीरेणाऽपि तथैव कृतम्, ईसा महानुभावेन मुहम्मदसाहबेन च जनहितकारिणीरीतिः प्रचालिता। कबीरगुरुनानकादिमहापुरुषाः पूर्वतः प्रचलितं प्रेरणात्मकं पन्थानमनुजग्मुः। महापुरुषाः यदा शरीरं विहाय धरातलतः पृथक् भवन्ति, तदा तदनुयायिनो महात्मभिर्निर्दिष्टं सुपथं परित्यज्य

तेषां जन्मस्थलं, मृत्युस्थलं तथा यात्रास्थलं बहु मन्यन्ते। क्रमानुसारेणान्धानुकारिणस्तेषां प्रतिमां प्रकल्प्य समर्चन्ति। यद्यप्यादौतेऽन्धानुकारिण उपर्युक्त महापुरुषाणां स्मृतिं दृढयन्ति, किन्तु कालान्तरे भ्रमनिबद्धा भवन्ति स एव भ्रमो रूढेः रूपं गृह्णाति।

योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽपि तत्सामयिके समाजे सत्यस्य नामोपरि प्ररोहित रीतिमतीनां खण्डनं कृत्वा निखिलं समाजं प्रशस्तपथे स्थितमकरोत्। द्वितीयाध्यायस्य षोडशतमे श्लोके श्रीकृष्णः प्रावोचत्– अर्जुन! असत्वस्तुनः कुत्रापि नास्त्यस्तित्वम्, सद्वस्तुनश्च कालत्रयेऽपि नाभावः परिलक्ष्यते। योगेश्वरः निगदति यत् भगवत्तया ब्रवीमि प्रत्युत् सदसतोरन्तरं तत्त्वदर्शिभिर्दृष्टं तदेवाहमपि वक्तुं आरभे। त्रयोदशेऽध्याये श्रीकृष्णेन क्षेत्र–क्षेत्रज्ञविवेचनं तथैव कृतं यथा ऋषिभिर्बहुधागीतमर्थात् ऋषिभिर्बहुधावर्णितम्।अष्टादशाध्याये त्याग–संन्यासयोस्तत्त्वं वर्णयन्नसौमतचतुष्टयेषु मतमेकं चयनितवान् स्वानुमोदनञ्च प्रादात्।

संन्यासः–

श्रीकृष्णकाले अग्निस्पर्शमकर्त्तारं तथा चिन्तनस्यापि त्यागं कृत्वात्मानं योगिनं संन्यासिनं कथयितृणां सम्प्रदायोऽपि समभवदङ्कुरितः। अस्य मतस्य खण्डनं कुर्वन्नसौ सुस्पष्टं चकार यत् ज्ञानमार्गस्य तथा भक्तिमार्गस्य च विधाने कस्यापि मार्गस्यानुसारेण कर्मणस्त्यागस्य विधानं नास्ति। कर्म तु करणीयमेव भविष्यति। सततं कर्म कुर्वन् साधनेयती सूक्ष्मा सम्पद्यते यत् निखिल–सङ्कल्पानामभावो जायते, स एव पूर्णसंन्यासोऽस्ति। मध्यमार्गे संन्यासनामकं किमपि वस्तु न विद्यते। केवलं क्रियात्यागेन, अग्नेः स्पर्शाभावेन न तु कश्चित् संन्यासी भवति न च योगी– यस्य वर्णनं द्वितीये, तृतीये, पञ्चमे, षष्ठे तथा विशेषरूपेण अष्टादशेऽध्याये द्रष्टुं शक्यते।

कर्म–

एतादृश्येव भ्रान्तिः कर्मणः सम्बन्धेऽपि मिलति। द्वितीयाध्याये ३९ संख्याके श्लोके श्रीकृष्णेन कथितं यदर्जुन इदानीं यावत् ज्ञानमेतद्त्वदर्थं सांख्ययोगस्य विषये कथितं साम्प्रतञ्चेदं ज्ञानं त्वं निष्कामकर्मविषये शृणु। अनेन युक्तो भूत्वा

त्वं कर्मणां बन्धनं सम्यक् नाशं कर्त्तुं शक्ष्यसि। अस्य अल्पमप्याचरणं महज्जन्ममरणभयादुद्धारकारको भवति। अस्मिन्निष्कामकर्मणि निश्चयात्मक-क्रियैकैवास्ति, बुद्धिरप्यैकैवास्ति, दिशाऽपि एकैव, किन्तु अविवेकिनां बुद्धिरनन्तशाखान्विता भवति, एतस्मात् ते कर्मणः नामोपरि बहूनां क्रियाणां विस्तारं कुर्वन्ति। अर्जुन! त्वं नियतं कर्म कुरु। अर्थात् क्रियाः नैकाः सन्तिः किन्तु ताः न सन्ति कर्माणि, कर्म निर्धारित दिशा बोध्यमस्ति। कर्म किमप्येतादृशं वस्त्वस्ति यत् जन्म-जन्मान्तरतः चलच्छरीरयात्रायाः करोत्यन्तम्। यद्येकमपि जन्मग्रहणमभवत् तदा क्व यात्रा पूर्तिर्जाता।

यज्ञः-

नियतं कर्म कीदृशञ्च तत्? अत्र श्रीकृष्णेन स्पष्टं कृतं यत् 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः', अर्जुन! यज्ञस्य प्रक्रियैवाऽस्ति कर्म। एतदतिरिक्तं संसारे यत् किञ्चित् कर्म विधीयते, तत् सर्वमेतस्य लोकस्य बन्धनमस्ति, न तु कर्म। कर्म त्वस्मात् संसारबन्धनान्मोक्षं दापयति। सम्प्रति सो यज्ञः किमस्ति यस्य क्रियान्वयनेन कर्म सम्पादितं भवेत्? चतुर्थाध्याये श्रीकृष्णेन त्रयोदश-चतुर्दश विधिना यज्ञस्य वर्णनं कृतम्, यत् सर्वं सम्मेल्य परमात्मनि प्रवेशं दापयतृ विधिविशेषस्य चित्रणमस्ति। यो हि यज्ञः श्वासेन, ध्यानेन, चिन्तनेन तथेन्द्रियसंयमादिभिर्सिद्धिं प्राप्नोति। श्रीकृष्णेनेदमपि सुतरां प्रपञ्चितं यद्भौतिकद्रव्यैः साकमेतस्य यज्ञस्य न कोऽपि सम्बन्धः। भौतिक-द्रव्यद्वारेण सम्पद्यमाना यज्ञा अत्यल्पाः कत्थ्यन्ते, कोऽपि कोट्यबुर्द मितद्रव्यैः करोतु नाम हवनम्। सर्वे यज्ञाः मनस इन्द्रियाणाञ्चान्तःक्रियया सिद्धिं लभन्ते। परिपूर्णे जाते यज्ञः यस्य सृष्टिं करोति, तदमृततत्त्वस्य बोधस्य नाम ज्ञानमस्ति। तस्य ज्ञानामृतस्य पानकर्त्तारो योगिजनाः सनातने ब्रह्मणि प्रवेशं प्राप्नुवन्ति। यत्र प्रवेशमासीदपेक्षितं तत्प्राप्तं, तर्हि पुनः तस्य पुरुषस्य कर्मसम्पादनस्य न किमपि प्रयोजनम्। अतो यावन्मात्रं कर्म तस्मिन् साक्षात्कारसहिते ज्ञाने शेषायते। कर्मविधिबन्धनादसौ मुक्तो भवति। अनेन प्रकारेण निर्धारित यज्ञस्य कार्यरूप प्रदानं कर्मास्ति। कर्मणः शुद्धो अर्थः- आराधना।

अस्य नियतकर्मणो, यज्ञार्थ कर्मणस्तथा तदर्थ कर्मणः व्यतिरिक्तं गीतायां

नान्यत्र किमपि कर्म वर्त्तते। अस्मिन् विषये श्रीकृष्णः स्थले-स्थले बलं दत्तवान्। षष्ठाध्याये तदेव कार्यं कर्म कथितवान्। षोडशाध्याये तेनोक्तं यत् कामक्रोधलोभानाञ्च त्यागे सत्येव तत्कर्मणः भवत्यारम्भः, यत् परमश्रेयः दापयति। सांसारिककर्मसु यः यावान् व्यस्तोऽस्ति, तस्य सन्निकटे कामक्रोधलोभाश्च तावन्त एव अधिकाः सुसज्जिताः दृष्टिपथायन्ते, समृद्धाश्च मिलन्ति। अस्य कर्मणः शास्त्रविधानोक्त कर्मसंज्ञा श्रीकृष्णेन दत्ता। गीताग्रन्थः स्वस्मिन् पूर्णं शास्त्रमस्ति। सर्वोपरि शास्त्रं वेदोऽस्ति, वेदानां सारा उपनिषदः सन्ति, तासामुपनिषदां सारांशो योगेश्वरः श्रीकृष्णस्येयं वाणी गीता कथ्यते। सप्तदशे तथाष्टादशेऽध्यायेऽपि शास्त्रविधिना निर्धारितं कर्म, नियतकर्म, कर्तव्यकर्म, पुण्यकर्म च इति संकेतयित्वा स योगेश्वरः भूयोभूयो अदृढयत् यत् नियतकर्मैव परमकल्याणकारकमस्ति।

योगेश्वरश्रीकृष्णेन सबलं नियतकर्मोपदेशे कृतेऽपि नियतं कर्माकृत्वा श्रीकृष्णस्योपदेशमवहेल्य विपरीतां कल्पनां कुर्वन्ति, वदन्ति च यत्किञ्चित् कर्म संसारे क्रियते तत्सर्वं कर्म समुच्यते। तस्यापि त्यागस्य नास्त्यावश्यकता केवलं फलकामनां त्यज, एतेन सम्पन्नो निष्कामकर्मयोगः। कर्त्तव्यभावनया कर्म विधेहि, तेन कर्त्तव्ययोगः परिपूर्णः। किमपि कर्म कृत्वा नारायणाय समर्पय तेन निष्पन्नः समर्पणयोगः। अनेन प्रकारेण यज्ञस्य नाम समकालं वयं भूत-यज्ञस्य, पितृयज्ञस्य, पञ्चयज्ञस्य, विष्णुमुद्दिश्य विहितयज्ञस्य कल्पनां कुर्मः, उक्त यज्ञस्य क्रियायां स्वाहापदमुच्चार्य प्रसीदामः। यदि कृष्णेन सुस्पष्टं कथितं भवेत्तदा वयं किमपि कुर्मः। यदि कृष्ण उपादिदेश तर्हि यावत् उपदिष्टवान्तावदेव स्वीकुर्मः। किन्तु अस्माभिः सदुपदेशः न स्वीक्रीयते। पूर्वजानामुत्तराधिकार-रूपेण नैकाः नीतयः, रीतयः, पूजापद्धतयश्च अस्माकं मस्तिष्कं आच्छादितवन्तो वर्तन्ते। वाह्यवस्तूनि कदाचित् विक्रीय वयं पलायितुं शक्नुयामः किन्तु पूर्वोक्त पूर्वाग्रहाः मस्तिष्कमारुह्य अस्माभिः सह चलन्ति। श्रीकृष्णस्य उपदेशवाक्यान्यपि वयं तदनुरूपं प्रकल्प्य ग्रहणं कुर्मः। गीता तु अत्यन्त बोधगम्ये सरल संस्कृते समुल्लिखिता वर्तते। कश्चिज्जन अन्वयार्थमपि धारयेत् हृदि तदा न क्वापि सन्देहावसरः। प्रस्तुतपुस्तके तथैव प्रयासः कृतो वर्तते।

युद्धम्–

यदि यज्ञ, कर्मसम्बद्धौ द्वौ प्रश्नौ यथार्थरूपेण बुद्धिपथं समागच्छेतां तदा किमस्ति युद्धं, का वर्णव्यवस्था, कश्चवर्णसङ्करः, कश्च ज्ञानयोगः, कः कर्मयोगः अथवा समासेन सम्पूर्णा गीता भवतो बुद्धिकक्षे बोध्या स्यात्। अर्जुनो युद्धं नेच्छति स्म। सः कार्मुकं परित्यज्य रथस्य पृष्ठभागे समुपविष्टः, किन्तु योगेश्वरः कृष्णो योगमात्रस्य शिक्षां दत्वा न तु केवलं कर्मणो दृढतां प्रदर्श्य विरराम प्रत्युत पार्थं तस्मिन् कर्मणि नियोजयामास। युद्धं बभूव नाऽत्र सन्देहः। गीतायां पञ्चदशविंशतिसंख्याकाः सन्त्येदृशाः श्लोका येषु मुहुर्मुहुर्युद्धं कर्त्तुं परामर्शो वर्णितो विद्यते। अर्जुनं त्वं युद्धं कुरु। किन्त्वेकोप्यादृशः श्लोको न मिलति यः वाह्य घातप्रतिघातं समर्थयेत्। (द्रष्टव्यमस्ति अध्याय २, ३, ११, १५ तथा १८) किन्तु यत् कर्मोपरि बलं प्रदत्तं तदासीन्नियतं कर्म, यत् कर्म सततमेकान्तदेश सेवनेन, चित्तं सर्वतः समाकृष्य ध्यानेन भवति। यदा कर्मणः स्वरूपमिदमेवाऽस्ति चेतस्तु सदैकान्ते ध्याने च संलग्नं भवेत्तदा युद्धं कीदृशम्? यदि गीतोक्तं कल्याणं योद्धुमेवाऽस्ति तदा गीतानुशीलनं त्यजनीयम्। भवतः समक्षमर्जुनवत् युद्धस्य काऽपि परिस्थितिर्न विद्यते। वस्तुतः सा स्थितिस्तदाऽप्यासीदद्याऽपि यथावत् वर्तते। यदा चित्तं सर्वतः समाकृष्य भवान् हृदयदेशे ध्यानं कर्त्तुं यतिष्यते, तदा कामक्रोधरागादिविकाराः भवतश्चित्तं विचालयिष्यन्ति। तैः पूर्वोक्तैर्विकारैः संघर्षकरणं तेषां समापनमेव युद्धमस्ति। संसारे सततं युद्धानि भवन्ति किन्तु तेन न कल्याणं प्रत्युत् विनाश एव भवति। तां स्थितिं शान्तिं जानीयात् परिस्थितिं वा। अस्मिन् संसारे नान्या काऽपि शान्तिर्लभ्यते। शान्तिस्तु तदैव मिलति, यदाऽयमात्मा स्वशाश्वतं परमात्मानं प्राप्नुयात्। इयमेवेकमात्रं शान्तिरस्ति, यदनु नाशान्तिस्तिष्ठति। किन्त्वियं शान्तिरस्ति साधनगम्या, तदर्थमेव नियतकर्मणो विधानमस्ति।

वर्णः–

पूर्वोक्तं कर्मैव वर्णचतुष्टये विभाजितम्। चिन्तने तु लगन्ति सर्वे जनाः, किन्तु कश्चन श्वासप्रश्वासयोर्गतिं रोद्धुं भविष्यति सक्षमः, कश्चित्तु आरम्भतः घण्टाद्वयम् चिन्तने स्थित्वा दशमिनटमपि स्वपक्षे न लभते। एतादृशः

स्थितवानल्पज्ञः साधकः शूद्रश्रेणीकः कथ्यते। स स्व-स्वाभाविकक्षमतानुसारेण परिचर्यया कर्म समारभेत्। क्रमशः वैश्यक्षत्रियविप्राणां श्रेणिस्था क्षमता तस्य स्वभावे प्रादुर्भविष्यति। स उन्नतिं गमिष्यति, किन्तु सा ब्राह्मणश्रेणी दोषयुक्ता विद्यते, कुतोहि अधुना तत् ब्रह्म पृथक् वर्तते। ब्रह्मणि प्रवेशे प्राप्ते स ब्राह्मणो नावशिष्यते। वर्णस्यार्थोऽस्ति आकृतिः। इदं शरीरं नास्ति भवतः आकृतिः। आकृतिस्तु भवतस्तथैव यथा भवद् वृत्तिः। श्रीकृष्णो वदति- अर्जुन! पुरुषः श्रद्धामयोऽस्ति, अतः क्वचिन्नक्वचित् श्रद्धा अवश्यं भविष्यति। यादृशी श्रद्धा-युक्तः पुरुषोऽस्ति तथैव स्वयमपि भवति। यथावृत्तिस्तथा पुरुषः। वर्णः कर्मक्षमताया आन्तरिकमापदण्डोऽस्ति, किन्तु मानवसमाजः नियतकर्म त्यक्त्वा वाह्यसमाजे जन्माधारोपरि जातिसमूहं वर्णं मत्वा तेषां जीविकां च निर्धारितवन्तः, या सामाजिकव्यवस्थायाः प्रतीकभूता आसीत्। ते कर्मणः यथार्थरूपं परिवर्तयन्ति येन तेषां दुर्बला सामाजिकमर्यादाजीविका च प्रभाविता न भवेदिति। कालान्तरे वर्णस्य निर्धारणं जन्मना समारब्धः। नैतत्समीचीनम्। कृष्णेनोक्तं यत् चत्वारो वर्णा मया सृष्टा। किं भारताद् बहिर्देशे न वर्तते सृष्टिः? अन्यत्र तु एतासां जातीनामस्तित्वं न मिलति। भारतवर्षे नैकाः जातयश्च मिलन्ति। किं श्रीकृष्णो मानवान् विभाजितवान्? नहि, 'गुणकर्म विभागशः'-गुणानुसारेण भवत्कर्म विभाजनम्। 'कर्माणि प्रविभक्तानि'- कर्म विभाजितम्। कर्मणो बोधो यदा भवेत्तदा वर्णस्यापि ज्ञानमागमिष्यति, वर्णस्य च ज्ञानं बुद्धिपथायितम्, तदा वर्णसङ्करस्य यथार्थस्वरूपं बोध्यं भविष्यति।

वर्णसङ्करः-

उक्त कर्मपथश्च्युतिरेव वर्णसङ्करः। आत्मना शुद्धवर्णः परमात्मा कथ्यते। परमात्मनि प्रवेशदायककर्मणः पृथक् भूयः प्रकृतौ सन्निवेशनमेव वर्णसङ्करः। श्रीकृष्णेन स्पष्टीकृतम्, यत् उक्त नियतकर्मविधानं विना तत्परमात्मस्वरूपं न कोऽपि लभते। परमात्मप्राप्तिकर्तॄणां महापुरुषाणां कृते कर्मविधानेन न कोऽपि लाभो न च त्यागेन काऽपि हानिः। पुनरपि ते महापुरुषाः लोकसंग्रहाय कर्मणि रमन्ते। पूर्वोक्तमहापुरुषाणामिव प्राप्यहं मह्यमपि किमपि वस्तु दुर्लभं नास्ति, पुनरपि अनुनायिनां हितेच्छया कर्मणि वर्ते। यदि कर्म न करोमि तदा सर्वे

भविष्यन्ति वर्णसङ्कराः। लोके श्रुतमासीत् दूषितासु नारीषु जायते वर्णसङ्करः, किन्तु श्रीकृष्ण अत्र कथयति यत् स्वरूपस्थाः महापुरुषाः चेन्न कर्म कुर्युस्तदा लोके वर्णसङ्करः प्रभवति। तस्य महापुरुषस्यानुकरणं कृत्वाराधनामवरुद्ध्य प्रकृतौ भ्रान्ता भविष्यन्ति, वर्णसङ्कराः भविष्यन्ति कुतोहि उक्त कर्म कृत्वैव तत्परमनैष्कर्म्यस्य स्थितिं स्वशुद्धवर्णः परमात्मनः प्राप्तिः कर्त्तुं शक्नोति।

ज्ञानयोगस्तथा कर्मयोगः–

कर्म एकमेवाऽस्ति– नियतकर्म, आराधना किन्तु तस्य विधानार्थं दृष्टिकोण द्वयमस्ति। स्वशक्तिमवबुद्ध्य हानिलाभयोः सुनिर्णयं विधाय कर्मसम्पादनं ज्ञानयोगोऽस्ति। अस्य मार्गस्य साधको जानाति यदद्य मदीयेयं स्थितिस्तथाऽग्रे परां भूमिकां प्राप्स्यामि, पुनः स्वस्वरूपं प्राप्तं करिष्यामि–अनया भावनया कर्मणि प्रवर्त्तते, स्वस्थितिं ज्ञात्वैवाग्रे वर्धते एतदर्थं ज्ञानमार्गी समुच्यते। ससमर्पणं तस्मिन् कर्मणि प्रवृत्तिं तथा हानिलाभयोर्निर्णयं स्वेष्टोपरि समर्प्य साधना–प्रगतिः निष्कामकर्मयोगो भक्तिमार्गः कत्थ्यते। उभयोः प्रेरकः सद्गुरुर्भवति। एकस्मादेव शिक्षां गृहीत्वा एकत्र निर्भरो भूत्वा तस्मिन् प्रवृत्तो भवत्येकः अपरस्तु तस्मात् गृहीत्वा शिक्षां तदुपरि निर्भरीभूय प्रवर्त्तते। केवलं पूर्वोक्तमन्तरः। एतस्मादेव योगेश्वरेणोक्तम्– अर्जुन! सांख्यद्वारा यत् परमसत्यं लभ्यते, तत् परमसत्यं निष्कामकर्मयोगेनापि प्राप्यते। य उभयमेकः पश्यति स एव यथार्थ द्रष्टा। द्वयोः क्रियोपदेशकस्तत्त्वदर्शी कत्थ्यत एक एव, क्रियाऽपि द्वयोरेकैव ज्ञेया, या समुच्यते समाराधना। कामनानां त्यागमुभौ कुरुतः परिणामश्चैक एव, केवलं कर्मणो दृष्टिकोणौ द्वौ।

एकः परमात्मा–

नियतकर्म मनसस्तथेन्द्रियाणामेकानिर्धारिताऽन्तःक्रिया समुच्यते। यदा कर्मणः स्वरूपमुपर्युक्तमेव तदा बहिर्देशे मन्दिरमस्जिदचर्चाणि विनिर्माय देवी–देवानां प्रतिमायाः प्रतीकस्य पूजनं कियत् संगतमस्ति? भारते हिन्दूसमाजः (वस्तुतस्ते सनातनधर्मिणः सन्ति। तेषां पूर्वजाः परमसत्यस्य शोधं कृत्वा देशे विदेशे च तस्य प्रचारं चक्रुः। तस्मिन् पथि गन्तारः विश्वस्मिन् कुत्रापि तिष्ठन्तु ते सनातनधर्मिणः सन्ति। एतावान् गौरवशाली हिन्दूसमाजः) कामनाभिर्विवशीभूय विविधभ्रान्तिषु ग्रस्तोऽभवत्। श्रीकृष्णः कथयति, अर्जुन! देवतानां स्थाने देवता

नाम्नः न काऽपि शक्तिर्वर्तते। यत्र कुत्राऽपि मनुष्यस्य श्रद्धा नमति, तस्यान्तराले स्थितो भूत्वा अहमेव फलम् ददामि, तस्य श्रद्धां पोषयामि, कुतोहि अहमेव सर्वत्र वर्ते, किन्तु तस्य तत्पूजनं विधिविहीनमस्ति, तस्य फलमपि नश्वरमस्ति। कामनाभिर्येषां ज्ञानं अपहृतं ते मूढबुद्धय एव अन्य देवानर्चन्ति। सात्विकजनाः देवान् पूजयन्ति, राजसवृत्तयः यक्षराक्षसान् पूजयन्ति तथा तामसाः भूतप्रेतान् यजन्ते। घोरं तपस्तपन्ति। किन्तु अर्जुन! ते शरीरे संस्थितं भूतसमुदायं अन्तःकरणे च स्थितं मां परमात्मानं कृशं कुर्वन्ति, न तु पूजयन्ति। तान् सर्वान्तु आसुरीस्वभावयुक्तान् जानीयाः। अतः परं श्रीकृष्णः किं कथयति? तेन स्पष्टमुक्तम्- अर्जुन! ईश्वरः सर्वप्राणिनां हृदये वसति, केवलं तस्यैव शरणं व्रज। पूजायाः स्थलं हृदयदेशे वर्तते न तु बहिः। पुनरपि जनाः प्रस्तरस्य, जलस्य, मन्दिरस्य, मस्जिदस्य, देवी-देवसमूहस्य अनुगमनं कुर्वन्ति। तैः साकं श्रीकृष्णस्यापि एकां प्रतिमां विरचयन्ति। श्रीकृष्णस्यैव साधनाया उपरि बलं ददानास्तथाजीवनं मूर्तिपूजायाः खण्डनं कर्त्तुः बुद्धस्यापि मूर्तिं बौद्धाः विरचयामासुः पूजाञ्च कर्त्तुमारेभिरे, यदा तु बुद्धेनोक्तमासीत्, आनन्द! तथागतस्य शरीरपूजायां समयो न यापनीयः।

मन्दिरमस्जिदचर्चतीर्थमूर्तिस्मारकैः पूर्ववर्ति महापुरुषाणां स्मृतयः सुसज्जितानि भवन्ति, येन तेषां उपलब्धयः स्मृतिपथं विलसन्ति। महापुरुषेषु नार्यः नराश्च सर्वे समभवन्। जनकस्य पुत्री सीता पूर्वजन्मनि एकस्य ब्राह्मणस्य कन्यासीत्। सा स्वपितुः प्रेरणया परमब्रह्म प्राप्तये तपस्यामकरोत्, किन्तु सफला नाभवत्। अपरे जन्मनि सा रामं लेभे तथा चिन्मय, अविनाशी, आदिशक्तिरूपेण प्रतिष्ठिता जाता। इत्थमेव राजकुलोत्पन्नायां मीरायां परमात्मभक्तेः प्रस्फुटनं जातम्। सर्वं त्यक्त्वा सा भगवच्चिन्तने संलग्ना जाता। अनेक विघ्नान् सोढ्वा बभूव सफला। एतेषां पूर्वोक्तानां स्मृति संरक्षणाय मन्दिराणि स्मारकभवनानि च विरचितानि, येन समाजः तेषामुपदेशेनानुप्राणितः स्यात्। मीरासीतातथास्य पक्षस्य शोधकर्ता प्रत्येकं महापुरुषः ममादर्शोऽस्ति। अस्माभिः तेषां पदचिह्नानामनुसरणं करणीयम्। किन्त्वितो महती त्रुटिः किं भविष्यति यदि वयं केवलं तच्चरणेषु पुष्पार्पणं कृत्वा चन्दनं चर्चयित्वा स्वकर्तव्यस्य समाप्तिं स्वीकुर्मः।

प्रायः यो यस्य आदर्शो भवति, तस्य मूर्तिम्, चित्रम्, पादुकाम्, स्थानम्, तत्सम्बद्धमपरमपि दृष्ट्वा श्रुत्वा मनसि श्रद्धा जागर्ति। एतदुचितमप्यस्ति। अहमपि स्वगुरुदेवस्य चित्रं भ्रष्टस्थले नहि प्रक्षितुम् शक्नोमि, कुतोहि स ममादर्शोऽस्ति। तस्य प्रेरणया तथा कथनानुसारेण भविष्यति मम यात्रा। यादृशं तस्य स्वरूपमस्ति क्रमशश्चलित्वा तस्य प्राप्तिर्ममाभीष्टोऽस्ति। इयमेव च तस्य यथार्थपूजा। इयत् यावत्तु समीचीनमस्ति यत् यो वस्तुतः आदर्शोऽस्ति तस्य निरादरो न करणीयः, किन्तु तदुपरि पत्रपुष्पार्पणकरणमेव भक्तिं मत्वा स्थिरतया कल्याण- पथो लक्ष्यतो वा स्खलनं भविष्यति।

स्वकीयादर्शानामुपदेशं हृदयङ्गमं कर्त्तुं तथा तदुपरि चलितुं प्रेरणा ग्रहणाय स्मारकानां प्रयोजनमस्ति कामं तमाश्रमं, मन्दिरं, मस्जिदं, चर्चं, मठं, विहारं, गुरुद्वारान् तथा अपर नाम्ना जानीयाम। वस्तुतः तेषां केन्द्राणां सम्बन्धो धर्मेणाऽस्ति, तर्हि यस्यास्ति प्रतिमा तेन किं कृतम्? किं लब्धम्? कथं तपस्तप्तम्? कथं प्राप्तिः जाता? केवलं एतत्सर्वं शिक्षितुं वयं तत्र गच्छामः, गन्तव्यञ्चाऽपि, किन्तु यदि पूर्वोक्तस्थानेषु महापुरुषाणां पदचिह्नानि न निर्मितानि स्युः, कल्याणस्य व्यवस्था यत्र न भवेत्तत्स्थानं त्रुटिपूर्णम्। तत्र केवलं रूढिलाभः। तत्र गमने हानिरेव। व्यक्तिगतरूपेण गृहे-गृहे, प्रतिवीथिं गत्वा उपदेश प्रदानापेक्षया सामूहिकोपदेशकेन्द्ररूपेणोक्तधार्मिकसंस्थानानां स्थापना कृता, किन्तु कालान्तरे पूर्वोक्त प्रेरणास्थलेभ्यः मूर्तिपूजा तथा रूढयः धर्मस्य स्थानं जगृहुः। इत एव भ्रमस्य प्रादुर्भावः।

ग्रन्थः-

अनेन प्रकारेण पुस्तकानामध्ययनमावश्यकमस्ति, येन भवान् तन्निर्दिष्ट-क्रियां बोद्धुं शक्नुयात्, यत् योगेश्वरः श्रीकृष्णेन नियतकर्मोदीरितम्, यदा च बोधे समागच्छेत्तदा त्वरितं कर्तुं प्रवृत्तो भवतु। विस्मरणस्य स्थितिः समागच्छेच्चेत् तदा पुनरध्ययनं कर्त्तव्यम्। नैतत्संगतं यत् करबद्धः सन् पुस्तकोपर्यक्षतं चन्दनादिकं समर्प्य विरामो मन्तव्यः। पुस्तकम्मार्गनिर्देशकचिह्नमस्ति, यत् पूर्तिपर्यन्तं सहायतां करोति। अध्ययनशीलाः स्वगन्तव्यम्प्रति वर्धन्तामग्रे। यदा हृदयं इष्टं ग्रहीष्यति, तदा स इष्ट एव पुस्तकं भविष्यति। अत आदर्शानां स्मृतिः हानिकारकं न भवति, किन्त्वेतेषां स्मृतिचिह्नानां पूजया सन्तुष्टता हानिकारिकाऽस्ति।

धर्मः–

(अध्याय २/१६–२९) योगेश्वरश्रीकृष्णस्यानुसारेण असद्वस्तुनः अस्तित्वं नास्ति, सद्वस्तुनश्च न भवति कदाप्यभावः। परमात्मैव सत्यमस्ति, शाश्वतमस्ति। अजरः, अमरः, अपरिवर्तनशीलः, सनातनश्चास्ति; किन्तु स परमात्मा अचिन्त्योऽगोचरश्चास्ति। चित्तानां तरङ्गेभ्यः परोऽस्ति। इदानीं चित्तस्य निरोधः कथं भवेत्? चित्तस्य निरोधं कृत्वा तस्य परमात्मनः प्राप्तेः विधिविशेषस्य नाम कर्मास्ति। इदं कर्म कार्यरूप प्रदाने धर्मोऽस्ति।

गीतायाः द्वितीयाध्यायस्य चत्वारिंशत्तमे श्लोके कृष्णेन कथितं यदर्जुन! अस्मिन् कर्मयोगे आरम्भस्य नाशो न भवति। अस्य कर्मस्वरूपस्य धर्मस्य किञ्चिन्मात्रसाधनं जन्मरणयोः महद् भयादुद्धारको भवति। अर्थादस्य कर्मणः कार्यरूप प्रदानमस्ति धर्मः।

इदं नियतकर्म, साधकस्य स्वभावान्तर्गदुपलब्धक्षमतानुसारेण भागचतुष्टये विभाजितमस्ति। कर्मबुद्ध्वा मनुष्यो यतो आरम्भं करोति तस्यां प्रारम्भिकावस्थायामसौ शूद्रोऽस्ति। क्रमशो विधे उपरिजाते स्वाधिकारे स एव वैश्यः। प्रकृतेः संघर्षं सोढुं क्षमतायाः शौर्यस्य च आगते सत्यसौ क्षत्रियः। ब्रह्मणस्तद्रूपतायाः क्षमतायाः जागृते सति स एव ब्राह्मणः। अतएव योगेश्वरः श्रीकृष्णः गीताया अष्टदशाध्याये ४६/४७ संख्याके श्लोके कथयति यत् स्वभावे प्राप्तव्यक्षमतानुसारेण कर्मणि संल्लग्नता स्वधर्मोऽस्ति।। न्यूनता सत्यपि स्वभावादुपलब्धः स्वधर्मः श्रेयस्करो भवति तथा च क्षमतार्जनं विनैव परेषामुन्नत कर्मणः परिपालनं हानिकारकं भवति। स्वधर्मे मरणमपि श्रेयस्करोऽस्ति, कुतोहि वस्त्रपरिवर्तनेन परिवर्तनकर्त्तुः परिवर्तनं न भवति। तस्य साधनस्य क्रमः तदेव पुनरारम्भो भविष्यति यतः खण्डित आसीत्। सोपानतः चलित्वासौ परम–सिद्धिं अविनाशिपदं प्राप्स्यति।

अस्योपरि पुनः बलं ददाति यत् यस्मात् परमात्मनः समस्त प्राणिनामभूत् प्रादुर्भावः, यः सर्वत्र व्याप्तोऽस्ति, स्वभावज क्षमतानुसारेण तं सम्यक् पूजयित्वा मानवः परमसिद्धिं अवाप्नोति। अर्थात् निश्चितविधिना एकस्य परमात्मनः चिन्तनमप्यस्ति धर्मः।

धर्मे प्रवेशस्याधिकारः कस्य? अस्य पालनस्य अधिकारः कस्य? इमं विषयं सुस्पष्टयन् योगेश्वरऽवादीत्- अर्जुन! अत्यन्तदुराचारोऽपि अनन्य- भावेन मां भजते (अनन्यः- अर्थात् नापरः), मां त्यक्त्वापरं कमपि नोपास्य केवलं मां भजति तदा 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'-स शीघ्रमेव धर्मात्मा भवति, तस्यात्मा धर्मे संलग्नो भवति। अतः श्रीकृष्णानुसारेण धर्मात्मासावस्ति, य एकस्मिन् परमात्मनि अनन्यनिष्ठया संलग्नो भवति। सोऽस्ति धर्मात्मा, य एकस्य परमात्मनः प्राप्तये नियतकर्मण आचरणं करोति। असावस्ति धर्मात्मा, यः स्वभावतः नियत क्षमतानुसारेण परमात्मनः शोधे संलग्नो वर्तते।

अन्ते कथयति कृष्णः यत् "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"- अर्जुन! सर्वेषां धर्माणां चिन्तां विहाय एकमात्रं मम शरणं आगच्छ। अतः एकं परमात्मानं प्रति समर्पितो व्यक्तिरेव धार्मिकोऽस्ति। एकस्मिन् परमात्मनि श्रद्धायाः स्थिरीकरणमेव धर्मोऽस्ति, तस्यैकस्य परमात्मनः प्राप्तेः निश्चितक्रियायाः विधानमपि धर्मः समुच्चते। इमां स्थितिं प्राप्तः महापुरुषः, आत्मतृप्तमहापुरुषाणां सिद्धान्त एव सृष्टौ एकमात्र धर्मोऽस्ति। परमात्मनः शरणं गन्तारो महापुरुषाः तं परमात्मानं कथं लब्धवन्तः? केन पथा गन्तव्यम्? स पन्थाः सदा एक एवास्ति, तत्पथे गमनं धर्मोऽस्ति।

धर्मो मनुष्याणामाचरणानां वस्त्वस्ति, इदं आचरणं केवलमेकमेव, "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन" (२।४१) अस्मिन् कर्मयोगे निश्चयात्मिका क्रिया एकैवास्ति- इन्द्रियाणां चेष्टां मनसो व्यापारञ्च संयमितं कृत्वा आत्मनि परमात्मनः प्रवाहितकरणम् (४।२७)।

धर्मान्तरणम्-

सनातनधर्मस्यादिदेशे भारते कुरीतय इयद्विस्तारंगता यत् यवनानां आक्रमणकाले तेषां धर्म आक्रामकानां हस्तस्य एक ग्रासस्य ओदन खादनेनेषदपि जलपानेन नष्टो भवितुमारब्धवान्। धर्मभ्रष्टघोषिताः सहस्राधिकहिन्दव आत्महत्यां चक्रुः। धर्मार्थे ते प्राणत्यागं कर्त्तुं जानन्ति स्म, किन्तु वस्तुतः कोऽस्ति धर्म इति जानियुस्तदा धर्मबोधः। धर्मस्त्वभवत् लज्जावती नाम्नी लता। लज्जावत्याः लतायाः पुञ्जः कृते स्पर्शे संकुचितायते, किन्तु स्पर्शमुक्ते सति विकसति।

भारतीयानां सनातनधर्मस्तु इत्थं संकुचितो जातः यदद्यावधि न लब्धवान् विकासम्। यस्य सनातनस्यात्मनः स्पर्शं भौतिकवस्तूनि कर्तुं न समर्था, स सनातनः क्व स्पर्शेन अदनेन नष्टो भवति! भारतीयाः खड्‍गेन मृता, धर्मः स्पर्शेण मृतः! किं सच्चामुचं धर्मो नष्टो जातः? कदापि नहि, धर्मस्य नामोपरि काचित् कुरीतिरासीत् विकसिता, सा नष्टा बभूव। फिरोजतुगलकयवनस्य शासनकाले बयाना वास्तव्यः काजी मुगिशुद्‍दीनः व्यवस्थां दत्तवान् यत् हिन्दवः यवनान् दृष्ट्‍वा व्याप्तमुखा भवन्तु। यदि कश्चित् मुसलमानः ष्ठीवनं चिकीर्षति, तदासौ हिन्दू दीनदारो भविष्यति, कुतोहि तस्य सविधे नाऽस्ति कोऽपि धर्मः। तेन यवनशासकेन किमनुचितं कृतम्? मुखे ष्ठीवनेन तु एक एव हिन्दू 'मुसलमान' भवति स्म, कूपेषु ष्ठीवनेन सहस्राधिकाः हिन्दवः मुसलमाना भवन्ति स्म। वस्तुतः स मुगिशुद्‍दीन आततायी आसीदथवा तत्कालीनः हिन्दूसमाजः?

ये जना इत्थं धर्मपरिवर्तनं कृतवन्तः किन्ते कमपि धर्मं प्रापुः! हिन्दूतः मुस्लिमधर्म स्वीकरणमथवा स्वकीय दिनचर्यातः भिन्नदिनचर्यायां गमनं तु धर्मो नास्ति। अनेन प्रकारेण योजनाबद्धं षड्‍यन्त्रकुशासनेन ये यवनाः धर्म-परिवर्तनं कृतवन्तः किं ते धर्मात्मान आसन्? ते तु महत् कुरीतिग्रस्ता आसन्। हिन्दवस्तत्रैव गत्वा निबद्धाः। अविकसितानां पथभ्रान्तानां कबीलाजातीनां सदस्यान् सभ्यं निर्मातुं मोहम्मद साहबः विवाहे, तलाके, वसीयते, ऋणस्यादानेप्रदाने, ब्याजे, साक्ष्ये, शपथे, प्रायश्चित्ते, जीविकायाम्, अशने पाने, दिनचर्येत्यादि विषये एकां सामाजिकीं व्यवस्थां दत्तवान् तथा मूर्तिपूजायां शिर्के, व्यभिचारे, चौर्ये, मद्यपाने, द्यूते, मा-दादी इत्यादिभिः विवाहवारणाय प्रतिबन्धं कृतवान्। समलैंगिकमैथुने, रजस्वलामैथुने च निषेधं कृत्वा रोजा (व्रतस्य) दिनेष्वपि सुविधां दत्तवान्। जन्नते नैकाः समवयस्का अक्षतयोनयः किशोर्यः किशोर-बालकाश्च प्राप्स्यन्ति-इति प्रलोभनं प्रदत्तम्। नेयं काचिद्धर्मव्यवस्था, एक प्रकारस्यासीत् सामाजिकव्यवस्था। उपर्युक्त प्रशासनेन स वासनानिमग्नं समाजं ततः परावर्त्य स्वाभिमुखमकरोत्। नार्यः जन्नते कैः पुरुषैः सह सहवासं करिष्यन्ति, अस्मिन् विषये मोहम्मदः कदाऽपि विचारं न कृतवान्। अयं दोषस्तु मोहम्मदस्य न, दोषस्तु देशकालपरिस्थितेरासीत्, यत्र नारीणां आकांक्षा पूर्त्यर्थं न कस्यापि ध्यानं जातम्।

मोहम्मदसाहबेन यो धर्मः निरूपितः तत्र कस्यापि ध्यानमेव नास्ति। तेन कथितमासीत्–यस्य पुरुषस्य एकोऽपि श्वासः खुदानां स्मरणं विना निष्फलं याति, तं कयामते खुदा तथैव पृच्छति यथा कमपि पापिनं पापस्य सन्दर्भे भवति प्रश्नः, यदर्थमस्ति दण्डः– तेषां कृते अनन्तकालाय दोजखवासः। कियन्तो वास्तविकाः मुसलमानाः सन्ति येषां एकोऽपि श्वासः निरर्थकं न गतो भवेत्? कोटिमितेषु कदाचित् कोप्येवं स्यात्? शेषास्तु सर्वे निरर्थकं श्वासं त्यजन्ति, तेषां कृते सैव दण्डोऽस्ति यः पापिनां कृते वर्तते। दोजखवर्णनस्य नास्त्यावश्यकता। मोहम्मदः व्यवस्थां दत्तवान् यत् यः कोऽपि कमपि न सन्तापयति, पशून् न पीडयति स आकाशतः खुदा–वाणीं शृणोति। अयं निर्देशः सार्वत्रिकः; किन्तु पृष्ठानुवर्तिनो यवना एकमपरं मार्ग निस्सारयामासुः यत् मक्कायां एको मस्जिदो वर्तते, यत्र हरितान् घासान् नोत्पाटयेत्, तस्मिन् मस्जिदे कमपि पशुं कोऽपि न मारयेत्, तत्र कमपि सन्तापं न दद्यात्। अन्ततः मुहम्मदसाहबस्य नियमं स्वार्थानुकूलं व्याख्याय प्राचीन क्रूरनियमेषु अभूवन् स्वस्थाः। किं खुदायाः वाणी श्रवणात्पूर्वं मुहम्मदः कमपि मस्जिदं व्यरचयत्? कदाचित् कस्मिन्नपि मस्जिदे कोऽपि कुरानस्य आयत अवतरितः? अयं मस्जिदस्तु मोहम्मद साहबस्य वासस्थल्यासीत् यत्र तस्य स्मृतिः सुरक्षिता वर्तते। मोहम्मदस्याभिप्रायं तरवेज–मंसूर–इकबालादयः यवनाः ज्ञातवन्तः, किन्तु तैः मजहबग्रस्तैः यवनैः द्वारा मारिता। सुकरातं विषं पायितवन्तः, कुतोहि स सर्वान् नास्तिकं रचितुं आरब्धवान्, इत्थमेवारोप ईसोपरि समारोपितः तदर्थं मृत्युदण्डो दत्तः, कुतोहि स अवकाशदिनेऽपि कार्यं करोति स्म, अन्धेभ्यः दृष्टिप्रदानं करोति स्म। भारतेऽपि इत्थमेवास्ति। यदापि कश्चित्प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषः सत्यम्प्रति समाजं संकेतयति तदा पूर्वोक्तेषु मन्दिरमस्जिदमठसम्प्रदायतीर्थेषु च येषां जीविका चलति, आ आः कर्त्तुं आरभन्ते, अधर्म अधर्म इति चीत्कर्तुं लगन्ति। एतेषु केषांचिदायः लक्षमितः केषांचित कोटिमितः केचनतु उदरं पूरयन्ति। वास्तविकतायाः प्रचारेण तेषां जीविका विपन्ना दृश्यते। ते सत्यस्य विकासं अवरोधयन्ति। इतः परं तेषां विरोधस्य न किमपि कारणम्। चिरकालत इयं स्मृतिः किमर्थं सुरक्षिता एतस्य ज्ञानं नास्ति तेषाम्।

गृहस्थानामधिकारः–

प्रायः जनाः पृच्छन्ति यत् यदा एकान्तदेशसेवनमिन्द्रियसंयमः, निरन्तरं परमात्मचिन्तनम्, ध्यानार्पणमेव यदा कर्मणः स्वरूपमस्ति तदा तु गीता गृहस्थानां कृतेऽनुपयोगिनी वर्तते, तर्हि गीता केवलं साधूनां कृते सुसंगता किन्तु नैतद् किमपि। गीता मूलतः कृतेऽस्ति यो अस्य पथः पान्थोऽस्ति, अंशतश्च तदर्थमप्यस्ति, यो अस्य पथः पथिको भवितुमिच्छति। गीतामानवमात्रस्य कृते समानमाशयन्दधाति। सद्गृहस्थानां कृते त्वस्याः विशेषोपयोगः, यतोहि तत् एव कर्मारम्भो भवति।

श्रीकृष्णेन कथितमासीत्–अर्जुन! अस्मिन्निष्कामकर्मयोगे आरम्भस्यापि नाशो न भवति। अस्या अल्पमपि साधनं जन्ममरणयोः महद्भयादुद्धारं कारयित्वैव विरमति। निगदतु भवान् एव, अल्पं साधनं कः करिष्यति? गृहस्थ अथवा विरक्तः? गृहस्थ एव एतदर्थं ईषत् समयं दास्यति, इयं तदर्थैव। चतुर्थाध्यायस्य ३६तमे श्लोके कृष्णेनोक्तम्– अर्जुन! यदि त्वं सर्वेभ्यो पापिभ्योऽपि प्रचुरपापकर्त्ताऽस्ति तदापि ज्ञानरूपया नौकया निस्सन्देहं पारयिष्यति। अधिकः पातकी कोऽस्ति? योऽनवरतं संलग्नो वर्त्तते अथवा सो यो सम्प्रति लगितुमिच्छति? अतः सद्गृहस्थाश्रमादेव कर्मारम्भो भवति। षष्ठाध्यायस्य ३७तमे ४५तमे श्लोके अर्जुनः कृष्णं अपृच्छत्– भगवन्! शिथिलप्रयत्नवान् श्रद्धावान् पुरुषः परमगतिं अलब्ध्वा कां दुर्गतिं प्राप्नोति? श्रीकृष्णेनोक्तम्– अर्जुन! योगात् चलायमानाः शिथिलप्रयत्नाः पुरुषाः स्वकर्मारम्भं सफलं लभन्ते एव। असौ योगभ्रष्टः श्रीमतां (शुचीनां) गेहे जन्म गृहीत्वा योगिनां कुले प्रवेशं लभते। साधनं प्रत्याकर्षितो भवति, अनेकजन्मसु च चलित्वा तत्रैव गच्छति, यस्य नाम परमगतिरर्थात् परमधामास्ति। इमं शिथिलप्रयत्नः कः करोति? योगभ्रष्टो भूत्वा सः कुत्र जन्म लभते? गृहस्थ एव बभूव सः। तत एव स साधनोन्मुखो भवति। नवमाध्यायस्य ३०तमे श्लोके कृष्णेनोक्तं यत् परमदुराचारोऽपि चेदनन्यभावेन मां भजितुमारभेत्, तदा स साधुरेव मन्तव्यः, कुतोहि स निश्चयेन सह सत्यमार्गोन्मुखो जातः। अत्यन्तदुराचारः को भविष्यति? यो भजने प्रवृत्तो वर्त्तते सोऽथवा यः साम्प्रतं यावदारम्भमेव न कृतवान्। नवमाध्यायस्य ३२तमे श्लोके कृष्णेन घोषितम्

यत् स्त्रियः, शूद्राः, वैश्याः, पापयोनय एव कथं न भवेयुः, ममाश्रितो भूत्वा साधन विधानेन परमगतिं लभन्ते। हिन्दुः स्यात्, ईसाई स्यात्, मुसलमानः स्यात् इति भेदं न करोति कृष्णः। अत्यन्तो दुराचारः पापप्रमुखः कथन्न भवेत्, मम शरणं समागत्य परमगतिं भजते। अतोहि गीता मानवमात्रस्य कृते परमोपादेया। सद्गृहस्थाश्रमत एवास्य कर्मण आरम्भो भवति। क्रमशः स एव सद्गृहस्थ योगी भवति, परमत्यागी भवति तत्त्वस्य दिग्दर्शनेन परमे प्रविशति, यं श्रीकृष्णः कथितवान् यत् ज्ञानी मम स्वरूपमस्ति।

स्त्री–

गीतानुसारेण शरीरं एकं वस्त्रमस्ति। यथा मनुष्यः प्राचीनं वस्त्रं परित्यज्य नूतनं धारयति, तथैव भूतादीनां स्वाम्ययमात्मा शरीररूपिणं वस्त्रं विहायापरं शरीररूपिणं वस्त्रं धारयति। पिण्डरूपे वर्तमानाः नार्यो नराश्च वस्त्राकाराः सन्ति।

संसारे पुरुषस्य प्रकारद्वयमस्ति, क्षरोऽक्षरश्च। सर्वेषां प्राणिनां शरीरं क्षरं परिवर्तनशीलश्च। यदा मनसासहितेन्द्रियाणि कूटस्थानि भवन्ति, तदा सैव क्षरोऽक्षरो भवति। तस्य कदापि न भवति विनाशः। या भजनावस्थाऽस्ति।

नारीणाम्प्रति कदाचित् सम्मानस्य कदाचिदपमानस्य भावना समाजे नयनगोचरी भवति, किन्तु गीताया अपौरुषेय वाण्यामस्तीदं यत् शूद्राः, वैश्याः, नार्यः, पुरुषाश्च कोऽपि कथन्नभवेत् मम शरणं समागत्य परमगतिं प्राप्नोति। अत अस्मिन् कल्याणपथे नारीणां कृते तदेव स्थानमस्ति यदेकस्य पुरुषस्यस्यात्।

भौतिकसमृद्धिः–

गीतातु परमकल्याणं ददाति, सहैव मानवानां कृते आवश्यक भौतिक-वस्तूनाञ्चापि विधानं करोति। नवमाध्यायस्य २०-२२ तमे श्लोके योगेश्वरः श्रीकृष्ण भणति यत् बहवो जनाः निर्धारित विधिना मां अभ्यर्च परिणामे स्वर्गं कामयन्ते। ते विशालतमं स्वर्गलोकं प्राप्नुवन्ति, ददामि चाहम्। यत् किमपि याचिष्यसे तत्सर्वं मत्तः प्राप्स्यसि, किन्तु उपभोगानन्तरं प्राप्तं वस्तु समाप्तिमेष्यति, कुतोहि स्वर्गभोगाः सन्ति नश्वराः। ते सर्वे पुनः जन्म ग्रहीष्यन्ति। आम्, मत्तः सम्बन्धकारणेन ते न नङ्क्ष्यन्ति, कुतोहि कल्याणस्वरूपो अहमस्मि।

अहं तेभ्यः भोगं ददामि। शनैः-शनैश्च भोगान्निवृत्तं कृत्वा पुनस्तान् कल्याणे नियोजयामि।

क्षेत्रम्-

यस्य परमात्मनः श्रीमुखस्य वाणीयमस्ति गीता तेन स्वयं परिचयः प्रदत्तः 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।' अर्जुन! इदं शरीरमेव क्षेत्रपदबोध्यमस्ति, यस्मिनुप्तं श्रेष्ठमधञ्च बीजं संस्काररूपेणाङ्कुरति, कालान्तरे सुख-दुःखयोः स्वरूपमादाय भोगरूपेण मिलति। आसुरीसम्पद् अधम योनिषु नेतुमस्ति, यदा दैवीसम्पद् परमदेवे परमात्मनि प्रवेशं दापयति। सद्गुरुणां सान्निध्ये निर्णायकयुद्धस्यारम्भो भवत्येतेषु इदमेव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संग्रामः।

टीकाकाराः कथयन्ति-एकं कुरुक्षेत्रं बहिरस्ति द्वितीयञ्च मनसोऽन्तराले। गीताया एकोऽर्थः वाह्यो द्वितीयश्चाभ्यन्तरः किन्तु नैवं किमपि। वक्ता एकमेव तथ्यं वर्णयति, किन्तु श्रोतारः स्व-स्व बुद्ध्यनुसारेण तत्तथ्यं गृहीतुं प्रभवन्ति अतएव बहवोऽर्थाः प्रतीयन्ते। साधनपथारूढः क्रमशश्चलित्वा योऽपि पुरुषः श्रीकृष्णस्य स्तरे स्थितो भविष्यति तदा श्रीकृष्णस्य समक्षं यद्दृश्यमासीत्तदेव दृश्यं तस्यापि समक्षं स्थास्यति। स एव महापुरुषः श्रीकृष्णस्य मनोगतभावान्, गीतायाः संकेतानवगन्तुं शक्नोति, बोधयितुं चापि प्रभवति। गीतायाः न कोऽपि श्लोकः वाह्यविषयस्य चित्रणं करोति। अशनं, परिधानं, निवसनञ्च भवन्तो जानन्त्येव। दैनन्दिन आवास-प्रवास, मान्यतायां, लोकरीतिनीतिषु च देशकाल-परिस्थित्यनुसारेण परिवर्तनं प्रकृतेरनुदानमस्ति। अस्मिन्विषये श्रीकृष्णः कां व्यवस्थां प्रददेत? कुत्रचित् बालिकानां बाहुल्यमस्ति, बहुविवाह प्रथापि वर्तते, क्वचिच्च तासां संख्या न्यूना वर्तते। कुत्रचिदनेकभ्रातृणां मध्ये मात्रैका पत्नी दरीदृश्यते। अत्र विषये श्रीकृष्णः कीदृशीं व्यवस्थां कर्तुं प्रभविष्यति? द्वितीय-विश्वयुद्धानन्तरं जापानदेशे जनसंख्यातीव न्यूना जाता, तर्हि काचिदेका महिला चेत् त्रिंशत् संख्याकान् संतति समूहं जनयेत्तदा तस्याः कृते जापान सर्वकारेण 'मदरलैण्ड' (देशस्य जननी) इत्युपाधिना सम्मानिता भवति स्म। वैदिककालीन भारते पूर्वं प्रत्येक दम्पतेः दससंख्याकः पुत्रीः पुत्रान् जनयितुं विधानमासीत्, साम्प्रतं 'गेहे एक द्वि शिशव भवन्ति देशाय हितकराः' तत्र घोषणा स्वरूपं अवलोकयतु। कदाचित्ते न जायन्तां तदा देशस्य कृते नास्ति चिन्तायाः विषयः,

प्रत्युत् समस्यायाः समाधानं निस्सरति। अस्यां स्थितौ श्रीकृष्णः कां व्यवस्थां दातुं शक्ष्यति?

श्रेयः–

कामक्रोधलोभमदमोहेर्ष्यादि दुर्गुणानां न कुत्राऽपि सन्ति विद्यालयाः, पुनरपि पूर्वोक्त तेषु विकारेषु वृद्धेभ्यो युवानोऽधिकप्रवीणाः मिलन्ति। श्रीकृष्णोऽत्र किं शिक्षयेत्? एतत्सर्वन्तु प्रकृत्या स्वयं चालितमस्ति। कदाचित् वेदाः पाठ्यन्ते स्म, धनुर्वेदगदायुद्धादयः शिक्ष्यन्ते स्म, अद्यैतद्सर्वं कः ज्ञातुमिच्छति? अद्य तु पिस्टलञ्चालयन्ति। स्वचालितयन्त्राणां युगोऽस्ति। कदाचिद्रथसंचालन शिक्षणं भवति स्म, घोटकानां लेण्डं प्रक्षेपणीयं भवति स्म, अद्य मोटराख्य वाहनस्य तैलस्य संशोधनं भवति। अस्मिन्विषये श्रीकृष्णः किमुपदिशेत्? कथयेत् श्रीकृष्ण अश्वानित्थं मा मर्दय? वाह्यक्षेत्रे कीदृशीं व्यवस्थां ददेत्? पुरा स्वाहोच्चारणेन वर्षा भवति स्म, सम्प्रति अभीष्टं शस्यं प्राप्यते। योगेश्वरः कथयति– प्रकृतिजगुणपरवशः पुरुषः परिस्थित्यनुसारेण परिवर्तते। गुणाः स्वतः तान् परिवर्तयितुं सन्ति सक्षमाः। भौतिकशास्त्रम्, समाजशास्त्रम्, शिक्षाशास्त्रम्, अर्थशास्त्रं, तर्कशास्त्रञ्चासौ विरचयन् न विरमति। एकमेवैतादृशं वर्तते वस्तु, यन्न जानाति मानवः, न च परिचिनोति। यद्यपि तद् वस्तुमानवस्यान्तिके वर्तते, किन्तु तेन विस्मृतमस्ति। गीतां श्रुत्वार्जुनस्य सा स्मृतिः जागृताभवत्। सा स्मृतिरस्ति परमात्मनः, या हृदयदेशे स्थिताऽपि तस्माद् बहुदूरमस्ति। तदेव मनुष्यः प्राप्तुं वाञ्छति, किन्तु पन्थानं न प्राप्नोति। केवलं कल्याणमार्गादेव मनुष्यो अनभिज्ञोऽस्ति। मोहस्यावरणं इयत् सघनमस्ति यद् तस्मिन् विषये चिन्तनस्य समय एव न मिलति। स महापुरुष भवत्कृते समयमददात्, तत्कर्म स्पष्टं कृतवान्, यस्य विधानस्य निर्देशो गीतायामस्ति। गीता प्रमुखतः तदेव ददाति। भौतिकवस्तून्यपि ततो मिलन्ति, किन्तु श्रेयसस्तुलनायां प्रेयो नगण्यमस्ति।

योग-प्रदाता–

योगेश्वरः श्रीकृष्णानुसारेण कल्याणपथावबोधः, तस्य साधनं तत्प्राप्तिश्च सद्गुरोरेव भवति। इतस्ततः तीर्थेषु बहुभ्रमणेनातिपरिश्रमेण वा नैतत्तावन्मिलति, यावत् कस्माच्चित् सन्ततः न प्राप्तं कुर्वीत। तृतीयाध्यायस्य ३४ तमे श्लोके प्रोवाचश्रीकृष्णः– अर्जुन! त्वं कस्यचित्तत्त्वदर्शिनो महापुरुषस्यान्तिके गत्वा,

सम्यक् रूपेण दण्डप्रणामं विधेहि, निश्छलभावनया सेवां कृत्वा, प्रश्नं कृत्वा तद्ज्ञानं प्राप्नुहि। प्राप्तेरेकमात्र उपायोऽस्ति, कस्यचित् महापुरुषस्य सान्निध्यं तस्य सेवा च। तदनुसारेण चलित्वा योगस्यसंसिद्धिं कालान्तरे प्राप्स्यसि। अष्टादशाध्यायस्याष्टदशतमे श्लोके तेन कथितं यत् परिज्ञाता अर्थात् तत्त्वदर्शी महापुरुषः, ज्ञानमर्थात् ज्ञातुं विधिं, ज्ञेयस्य परमात्मनश्च त्रिविधकर्मप्रेरकोऽस्ति। अतः श्रीकृष्णानुसारेण महापुरुष एव कर्मणो माध्यमोऽस्ति, न तु केवलं पुस्तकम्। पुस्तकन्तु एकश्चिकित्सायोगोऽस्ति, चिकित्सायोगस्य रटनेन न कोऽपि भवति रोगरहितः, प्रत्युत् योगस्य प्रयोगो विधेयः।

नरकः–

षोडशाध्यायस्य षोडशतमे श्लोके आसुरीसम्पदं वर्णयता योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन कथितं यत् नाना प्रकारेण भ्रमितचेतसः मोहमग्ना आसुरीस्वभावाः मनुष्या अपवित्रनरके पतन्ति। प्रश्नोऽस्ति स्वाभाविकः यन्नरकोऽस्ति कीदृशः? का च परिभाषा तस्य? अस्मिन् क्रमे सुस्पष्टयति कृष्णो यत् मत्तो द्वेषकारिणः नराधमानहं वारम्वारमासुरीयोनिषु पातयामि, अजस्रमासुरीयोनिषु प्रक्षिपामि। अयमेवाऽस्ति नरकः। अस्य नरकस्य द्वारं किमस्ति? तेनोक्तं यत्कामक्रोधलोभाश्च त्रिविधं द्वारमस्ति नरकस्य, यत्रासुरी सम्पदो गठनं भवति। अतो मुहुर्मुहुः कीटपतंगपश्वादि योनिषु आगमनमेव नरकोऽस्ति।

पिण्डदानम्–

प्रथमाध्याये विषादग्रस्तस्यार्जुनस्य मानसे समुत्थिता शंका यत् युद्धप्रभाव–प्रसूतनरसंहारतः पितरः पिण्डदानतर्पणादि वञ्चिताः भविष्यन्ति, पितरः तर्पणादिरहिताः पतिष्यन्ति। प्रसङ्गेऽस्मिन् श्रीकृष्णः कथितवान् यदर्जुन! इदमज्ञानं त्वयि कुतः समागतम्? पिण्डोदकक्रियां योगेश्वरोऽज्ञानं कथितवानवादीच्च यत् यथा जीर्णशीर्णवस्त्राणि त्यक्त्वा मानवः नूतनं वस्त्रमादधाति, तथैवायमात्मा जीर्णशरीरं विहाय तत्कालं शरीररूपिणं नवीनवस्त्रं गृह्णाति। अत्र शरीरं मात्रैकवस्त्रस्थानीयः यदा च आत्मा केवलं वस्त्रं परिवर्तितवानसौ न मृतः, नश्वरं शरीरं त्यक्तवान्, तस्य व्यवस्थाः पूर्ववत् सन्ति तदा अनेन भोजनेन (पिण्डदानेन), आसनेन, शय्यया, वाहनेन, आवासेन, जलादिभिर्वा कस्तर्प्यते? इदमेवास्ति कारणं यत् योगेश्वरः कृष्णः पिण्डदानमज्ञानमघोषयत्।

पञ्चदशाध्यायस्य सप्तमे श्लोके अस्मिन् विषये बलं ददानः ब्रवीति कृष्णः यदयमात्मा ममैवांशोऽस्ति सनातनः, ममैव स्वरूपोऽस्ति। मनसासहित–पञ्चेन्द्रियाणां कार्यकलापजन्यं संस्कारं गृहीत्वा द्वितीयं शरीरं धारयति। मनसासहितषडेन्द्रियाणां माध्यमेनाग्रिमशरीरे विषयान् भुनक्ति। आत्मायच्छरीरं दधार, तत्रापि भोगसामग्री समुपलब्धा वर्तते, पुनः पिण्डदानस्यावश्यकता का?

अत्रैकं शरीरं त्यक्तं तत्र द्वितीयं शरीरं धृतं, स आत्मा सुतरामपरशरीरे प्रविशति, मध्ये न कुत्रापि विश्रामस्थलं, यदा नास्ति किमपि स्थानं तदा सहस्राधिकं पूर्वजानामनादिकालतस्तत्र वसतिस्तथा तेषां जीविकावंशपरम्परायाः हस्ते निर्धारणं तथा पिञ्जरस्थ पक्षीवत् तेषां रुदनं, पतनमेकमज्ञानमात्रमस्ति। अतः श्रीकृष्णः पिण्डदानमज्ञानमकथयत्।

पापंपुण्यञ्च–

अस्मिन् प्रश्नोपरि समाजे नैकाः भ्रान्तयः सन्तिः किन्तु योगेश्वरः श्रीकृष्णानुसारेण रजोगुणोद्भवः कामोऽयं क्रोधश्च भोगैः कदापि तृप्तिरहितौ महत् पापिनौ स्तः। अर्थात् काम एव एकमात्रास्ति पापः। पापस्योद्गमः कामोऽस्ति कामनाश्च। इमाः कामनाः वसन्ति क्व? श्रीकृष्णः कथितवान् यदिन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिश्चास्य वासस्थानं कथ्यते। यदा विकाराः शरीरे न वर्तन्ते, मनस्येव भवन्ति तर्हि शरीरमार्जनेन किं भविष्यति?

श्रीकृष्णानुसारेणास्य मनसः शुद्धिः नामजपाद् भवति, ध्यानाद् भवति समकालीनस्य कस्यचित्तत्त्वदर्शिनो महापुरुषस्य सेवया च, तं प्रति समर्पणेन, यदर्थं स चतुर्थाध्यायस्य ३४ तमे श्लोके प्रोत्साहयत् यत् 'तद्विद्धिप्रणिपातेन' सेवां प्रश्नञ्च कृत्वा तज्ज्ञानं लभस्व, येन सर्वाणि पापानि विनश्यन्ति।

तृतीयाध्यायस्य त्रयोदशतमे श्लोके स उक्तवान् यत् यज्ञशेषान्न भोक्तारः सन्तजनाः सम्पूर्णपापेभ्यः मुञ्च्यन्ते, ये च शरीरयात्रार्थं कामनां कुर्वन्ति ते पापाः पापं भुञ्जन्ति। अत्र यज्ञश्चिन्तनस्यैका निश्चिता क्रिया अस्ति, यया मनसि निहिता चराचरजगतस्य संस्काराः भस्मी भवन्ति। केवलं ब्रह्मैवावशिष्यते।

अतः शरीरस्य जन्मनो यत्कारणमस्ति, तदेव पापमस्ति। यच्च तदमृततत्त्वस्यास्ति दापयिता, यदनु कदापि न भवति शरीरधारणम्, तदेव पुण्यमस्ति।

सप्ताध्यायस्य २९ तमे श्लोके कथयति कृष्णः–मम शरणागतो भूत्वा जरामरणादि दोषेभ्यः मुक्तये पापरहिताः पुण्यकर्माणः सम्पूर्णं ब्रह्म, सम्पूर्णं कर्म, सम्पूर्णमध्यात्म तथा माञ्च सम्यक् जानन्ति, माञ्च ज्ञात्वा मयि भवन्ति स्थिताः। अतः पुण्यकर्म तदस्ति यत् जरामरणादि दोषाच्चोपरि प्रतिष्ठाप्य शाश्वतस्यावबोधं तस्मिंश्च शाश्वतकीं स्थितिं दापयति यच्च जन्म–मृत्युः, जरा–मरण, दुःख–दोषाणां परिधौ भ्रामयित्वा स्थापयति, तदेव पापकर्माऽस्ति।

दशमाध्यायस्य तृतीये श्लोके कथयति कृष्णः–यः पुरुषः मां जन्ममृत्यु–रहितं, आद्यन्तमुक्तं, सर्वलोकस्यमहान्तमीश्वरं साक्षात्कारसहितं विजानाति स पुरुषो मरणधर्मेषु मनुष्येषु ज्ञानवानस्ति, एवं च ज्ञाता समस्त पापेभ्यः मुक्तो भवति। अतः साक्षात्कारेण सहैव सर्वपापेभ्यः जायते निवृत्तिः।

सारांशतो वारम्वारं जन्म–मरणयोः कारणं पापमेवाऽस्ति, यच्च ततोऽभिरक्ष्य शाश्वतस्य परमात्मनः उन्मुखं कुर्यात्, परमशान्तिं कारयेत् तदेव पुण्यकर्म। सत्यभाषणं, केवलं स्वपरिश्रमार्जितभोगस्य भोगः, स्त्रीषु मातृभावः, नैतिकव्यवहारादयोप्यस्य पुण्यकर्मणः सहायकाङ्गानि सन्ति, किन्तु सर्वोत्कृष्ट पुण्यमस्ति– परमात्मनः प्राप्तिः। यत् मात्रैक परमात्मश्रद्धां भञ्जयति तदेव पापमस्ति।

सर्वे सन्तः एकैव–

गीतायाः चतुर्थाध्यायस्य प्रथमश्लोके भगवान् श्रीकृष्ण उक्तवान् यत् अमुमविनाशिनं योगं कल्पादौ अहं सूर्यमकथयम्, किन्तु श्रीकृष्णस्य पूर्वकालीने इतिहासे अथवा अन्येषु केष्वपि शास्त्रेषु कृष्णनाम्नः न मिलति समुल्लेखः।

वस्तुतः श्रीकृष्ण एकः पूर्ण योगेश्वरोऽस्ति। स एकस्याव्यक्तस्याविनाशी भावस्य स्थितेरस्ति। यदा कदाऽपि परमात्मनः मेलापिका क्रियाया अर्थात् योगस्य सूत्रपातः कृतः तदा एतद् स्थितिवान् कश्चिद् महापुरुषः कृतवान्, कामं स रामो भवति, ऋषिः जरथुस्त्रो वा कथन्न स्यात्। परवर्तिकाले तदेवोपदेशः

ईसामसीहः, मुहम्मदः, गुरुनानकादिभिः येन-केन द्वारा प्रदत्तः, तमुक्तवान् श्रीकृष्ण एव।

अतः सर्वे महापुरुषाः एक एव सन्ति। आदितः सर्वे एकस्यैव विन्दुनः स्पर्शं कृत्वा एकमेव स्वरूपं लभन्ते। इदं पदं एकं लक्ष्यमस्ति। अनेके पुरुषा अस्मिन् मार्गे चलिष्यन्ति; परन्तु यदा प्राप्स्यन्ति एकमेव पदं प्राप्स्यन्ति। एतद-वस्थाप्राप्तमहात्मनः शरीरं एकगृहमात्रं मन्यन्ते, ते शुद्धात्मस्वरूपा सन्ति। एवं स्थितिवन्तः कदापि किञ्चिदुक्तवन्तः तदा योगेश्वर एव अगादीत्।

सन्तः क्वचिन्नक्वचित्तु जन्मगृह्णन्त्येव। पूर्वे तथा पश्चिमे, कृष्णे गौर-परिवारे वा पूर्व प्रचलितानां केषांचित् धर्मावलम्बिनां मध्येऽथवा मूढकबीला-कुले, सामान्यजीवनयापयितृणां, धनहीनानामथवा श्रेष्ठिनां गृहे जन्मगृहीत्वाऽपि सन्तः तस्य परम्परायाः अनुसरणं न कुर्वन्ति। स तु आत्मलक्ष्यं परमात्मानं निधायहृदि स्वरूपोन्मुखं अग्रेसरो भवति, स स एव वोभवीति। तेषामुपदेशेषु जातेः, पंक्तेः, वर्गभेदस्य, धनिनः निर्धनस्य च भेदभित्तिका न भवति। किमधिकं तेषां दृष्टौ स्त्री-पुरुषयो भेदोऽपि न तिष्ठति (पश्यन्तु गीतायाः १५/१६- "द्वाविमौ पुरुषौ लोके")।

महापुरुषाणां पश्चात् तेषामनुयायिनः स्वसम्प्रदायं निर्माय संकुचितविचाराः भवन्ति। कस्यचिन्महापुरुषस्य पृष्ठानुगामिनः यहूदयो भवन्ति, तर्हि कस्यचिदनुयायिन ईसाई, मुसलमान, सनातनीत्यादि भवन्ति, किन्तु अनया भेदभित्तिकया तस्य सम्बन्धः कदाऽपि न भवति। सत्पुरुषस्य न तु कश्चित् सम्प्रदायोऽस्ति न च काचिज्जातिः। साधु तु साधुरेव। तं कस्यचित् सामाजिक संगठने माकर्षयन्तु।

अतः समस्तभूमण्डले गृहीतजन्मना साधुनां कामं कबीलाकुले तेषां जायेज्जन्म, कामं कस्यचिन्मजहबस्यानुयायिजनास्तस्य सत्पुरुष स्याधिकपूजन सम्मानं कुर्वन्तु, कस्यचित् सम्प्रदायविशेषस्य प्रभाव-प्रभावितस्य तस्यालोचना न कर्त्तव्या, कुतोहि ते सन्ति निरपेक्षाः। संसारे कस्मिंश्चित् स्थाने समुत्पन्नः साधुः न निन्दनीयः। यदि कश्चिदेवं करोति तदाऽसौ स्वान्तराले स्थितं परमात्मानं क्षीणयति, आत्मना परमात्मनो दूरीं वर्धयते, स्वयञ्च स्वां हानिं करोति। संसारे

गृहीतजन्मनां चेद्भवतः कश्चिद् हितैषी मेलिष्यति तदा स साधुरेव भविष्यति। अतस्तेषां प्रति सुहृदयता-सहृदयताधारणं समस्तलोकस्य मूलकर्त्तव्यमस्ति। अस्माद्विधितो वञ्चितता स्वस्यैव प्रवञ्चनम्।

वेदाः-

गीतायां वेदस्य वर्णनं बाहुल्येनायातमस्ति, किन्तु सर्वं सम्मेल्य वेदाः मार्गनिर्देशकचिह्नमात्राणि सन्ति। लक्ष्यं यावत् प्राप्ते सति तस्य जनस्य कृते वेदानामुपयोगः समाप्तो भवति। द्वितीयाध्यायस्य ४५ तमे श्लोके श्रीकृष्णः न्यगादीत्- अर्जुन! वेदाः त्रिगुणं यावत् प्रकाशं कर्त्तुं पारयति, त्वं वेदानां कार्यक्षेत्रादूर्ध्वं चल। द्वितीयाध्यायस्य ४६ तमे श्लोके कथितवान्- सर्वतः परिपूर्णं विमलजलाशयं सम्प्राप्य लघुजलाशयैः सह मनुष्यस्य यन्मितं प्रयोजनमवशिष्यते सम्यक् प्रकारेण ब्रह्मज्ञ महापुरुषस्य अर्थात् ब्राह्मणस्य वेदैरियदेव प्रयोजनं शेषायते; किन्तु परेषां कृते तु तेषां उपयोगोऽस्त्येव। अष्टमाध्यायस्य २८ तमे श्लोके कथितवान्, अर्जुन! मां तत्त्वतः सम्यक् प्रकारेण ज्ञाते सति योगिनः वेदानां, यज्ञानां, तपसां, दानादीनाम्पुण्यफलानि पारयित्वा सनातनपदं प्राप्नुवन्ति। अर्थात् यावत् सन्ति वेदाः जीविताः तावत् यज्ञविधानं शेषायितमस्ति, तावत् सनातनपदस्य प्राप्तिः नास्ति। पञ्चदशाध्यायस्य प्रथम-श्लोके कथितं तेन- ऊर्ध्वं परमात्मैव यस्यास्ति मूलं, अधः कीटपतंगपर्यन्ताः प्रकृतिः यस्य शाखाः-प्रशाखाः सन्ति, संसार एतादृशः पिप्पलस्य एकोऽविनाशी वृक्षोऽस्ति। य इमं मूलसहितं जानाति स वेदस्यास्ति ज्ञाता। अस्य ज्ञानस्य स्रोतो महापुरुषोऽस्ति, तद्द्वारा निर्दिष्टं भजनमस्ति, पुस्तकानि विद्यालयाश्चापि तन्मुखीकरणाय प्रेरयन्ति।

ओम्-

श्रीकृष्णस्य निर्देशने 'ॐ' इत्यस्य जपस्य विधानं प्राप्यते। सप्तमाध्यायस्य ८तमे श्लोके-अहमोंकारोऽस्मि, अष्टमाध्यायस्य त्रयोदशे श्लोके- ॐ इत्यक्षरं जप मां चिन्तय। नवमाध्यायस्य सप्तदशे श्लोके-ज्ञातुं योग्यं अहम् पवित्र ओंकारोऽस्मि। दशमाध्यायस्य ३३तमे श्लोके- अक्षरेष्वहमकारोऽस्मि। दशमाध्यायस्य २५तमे श्लोके-वचनानां मध्ये अहं एकाक्षरोऽस्मि। सप्तदशाध्यायस्य २३तमे श्लोके- ॐ, तत् सत् च ब्रह्मणः परिचायकमस्ति।

सप्तदशाध्यायस्य २४तमे श्लोके–यज्ञस्य, दानस्य, तपसश्च क्रियाः ॐ इत्यतः प्रारम्भा भवन्ति। अतः श्रीकृष्णानुसारेण ॐ इत्यस्य जपः नितान्तावश्यकोऽस्ति, यस्य विधिं कस्माच्चिदनुभविनः महापुरुषाज्जानीहि।

गीतामाता मनुस्मृतेः–

गीता आदिमानवान्महाराजमनोरपि पूर्वं प्रकटिता बभूव–"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।" (४/१) अर्जुन! इममविनाशिनं योगमहं कल्पादौ सूर्यमकथयं तथा सूर्यो मनुं प्रोवाच। मनुस्तं श्रुत्वा स्वस्मृतौ दधार, कुतोहि श्रवणकृतं वस्तु मनसः स्मृतावेव सुरक्षितुं शक्यते। इममेव योगं मनुः राजानमिक्ष्वाकुमवादीत्। इक्ष्वाकोः राजर्षयोऽशिक्षयन्–अस्मात्महत्वपूर्ण–कालाच्चायमविनाशी योगः पृथिव्यामस्यां लुप्तो जातः। आदिकाले प्रवचनस्य श्रवणस्यचासीत् परम्परा। लिखितुमपि शक्यते, एतादृशी कल्पना नासीत्। महाराज मनुरिमं योगं निजस्मृतौ धारणं चकार तथा स्मृतेः नूतनाम्परंपरां जनयामास, अतएव गीतोक्तमिदं योगमूलकं ज्ञानमेव विशुद्धा मनुस्मृतिः कथ्यते।

भगवानिदं ज्ञानं मनोरपि पूर्वं सूर्याय प्रादात् तर्हि इमं योगं सूर्यस्मृतिरिति संज्ञा कथन्न दत्ता? वस्तुतः सूर्यः परमात्मनो ज्योतिर्मयः स अंशोऽस्ति यस्मादस्य मानवसृष्टेः प्रादुर्भावो बभूव। भगवान् श्रीकृष्णः कथयति– 'अहमेव परम–चेतन बीजरूपेण पिताऽस्मि, प्रकृतिः गर्भधारणकर्त्री जनन्यस्ति।' सो बीजरूपः पिता सूर्योऽस्ति। सूर्यः परमात्मनः सा पराशक्तिरस्ति या मानवस्य संरचनां कृतवती। तत्तेजः न काचिद् व्यक्तिः यस्मात्परमात्मनः ज्योतिर्मयतेजसो मानवस्याभूत् प्रादुर्भावः तस्मिन्नेव तेजसि तद् गीतोक्तं ज्ञानमपि प्रसारितं कृतमर्थात् सूर्यमुपादिशत्। सूर्यः स्वपुत्रं मनुमशिक्षयत्। अत इयं मनुस्मृतिरिति संज्ञां लेभे। सूर्यो न कश्चिद् व्यक्तिविशेषः, प्रत्युत् ज्ञानस्य बीजं, तेजसः बीजं, सृष्टेः बीजं 'सूर्यात्मा जगतस्तस्थुषश्च' इति वेदः।

भगवान् श्रीकृष्णः कथयति– अर्जुन! तदेव योगं तां मनुस्मृतिं वा अहं त्वां वक्तुं सन्नद्धोऽस्मि। त्वमसि प्रिय भक्त अनन्यः सखा च। अर्जुनः मेधावी सत्योपासक अधिकार्यासीत्। सः प्रश्न–प्रतिप्रश्नानां शृंखलां प्रास्तौत्। यत् भवज्जन्म इदानीमभवत् सूर्यस्य च जन्मः बहुपूर्वं जातम्, इमं योगं भवानेव सूर्यमवादीत्, इमामसंगतिमहं कथं स्वीकरोमि? अनेन प्रकारेण विंशतिपञ्चविंशति प्रश्ना अर्जुनेन कृताः। गीतासमापनं यावत् समाप्तेषु सर्वेषु प्रश्नेषु तदा भगवान्

यं प्रश्नं अर्जुनः न कृतवान्, न कर्तुं शक्तो वा, योऽर्जुनस्य हितार्थमासीत् तत्प्रश्नं स्वयं प्रास्तौत्, समादधे च। अन्ततो भगवता प्रोक्तमर्जुन! किं त्वं ममोपदेशं एकाग्रचेतसा श्रवणं कृतवान्? किं मोहादुत्पन्नं तवाज्ञानमभवन्नष्टम्? अर्जुनः कथितवान्–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।१८/७३।।

भगवन्मम मोहः नष्टो जातः, अहं स्मृतिं प्राप्तवानस्मि। केवलं श्रवणमात्रं न कृतवान् अपितु स्मृतौ धारितवानस्मि। अहं भवदादेशस्य पालनं करिष्यामि, युद्धं करिष्यामि। स धनुर्गृहीतवान्, अभवद् युद्धम्, विजयश्रीः प्राप्ता, एकस्य विशुद्धस्य धर्मसाम्राज्यस्य सम्पन्ना स्थापनातथैकधर्मशास्त्ररूपेण सैवादिधर्मशास्त्रगीता पुनः प्रचारे-प्रसारे च स्थानं गृहीतवती। गीता सर्वेषामादि-धर्मशास्त्रमस्ति। इयमेव मनुस्मृतिरस्ति, यां अर्जुनः स्वस्मृतौ धारितवान्। मनोः कार्यकाले ग्रन्थद्वयस्य समुल्लेखो मिलति– एका तु पितुरुपलब्धा गीता, अपरो वेद समुदायः मनोः समक्षमवातरत्। तृतीया काऽपि कृतिर्मनोः समये न रचिता। तस्मिन्समये लेखनस्य प्रचलनं नासीत्। करगजलेखन्योः प्रचारः न स्मृते, अतो ज्ञानं श्रवणेन स्मृतिपटलोऽपरि धारणेन सुरक्षितकरणस्य परम्परासीत्। यस्माद् मानवाः प्रादुर्भूताः सृष्टेः प्रथमो मानवः स मनुः वेदस्य 'श्रुति' संज्ञया गीतायाः 'स्मृति' नाम्ना सम्मानं चकार।

वेदाः मनोः समक्षमवतरिता, इमे श्रोतुं योग्याः सन्ति, पश्चात्काममिमां विस्मरन्तु, न काचित्क्षति, किन्तु गीता स्मृतिरस्ति, सदा स्मरणे संरक्षणीया। इयं प्रत्येकमानवाय सनातनजीवनं, शाश्वतीं शान्तिं, अव्ययां समृद्धिं, ऐश्वर्य-सम्पन्नजीवनं प्रदात्री ईश्वरीयगीतिरस्ति।

भगवता कथितम्– अर्जुन ! यदि त्वं अहंकारवशो ममोपदेशं न श्रोष्यसि तदा विनष्टो भविष्यति। अर्थात् गीतोपदेशस्यावलेहनाकर्ता विनश्यति। पञ्चदशाध्यायस्यान्तिमे श्लोके भगवानुवाच–**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।१५/२०।।** इदं गुह्यतमादपि बहुगोपनीयं शास्त्रं मया कथितम्। इदं ज्ञानं तत्त्वतः ज्ञात्वा त्वं समस्तज्ञानस्य परमश्रेयश्च प्राप्तिं करिष्यति। षोडशाध्यायस्यान्तिमश्लोकद्वये

कथितवान्–'**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।**। इमं शास्त्रविधिविहाय कामनाप्रेरित अशास्त्रविधिभिः यो मां भजते तस्य जीवने सुखसमृद्धिपरमगतीनां च कदाऽपि नोपलब्धिः।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि।।१६/२४।। अत अर्जुन! तव कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः व्यवस्थायां इदं शास्त्रमेव प्रमाणमस्ति। एतस्य सम्यक् रूपेणाध्ययनं कुरु, तदनु करोत्वाचरणं तदा मयि निवासं करिष्यसि, अविनाशि पदं लप्स्यसे, तदा स्थायी जीवनं, चिरशान्तिं, अक्षुण्ण समृद्धिं च प्राप्स्यसि।

गीता मनुस्मृतिरस्ति। भगवतः श्रीकृष्णस्य चानुसारेण गीतैव धर्मशास्त्रमस्ति, नान्यदपरं किमपि शास्त्रं, न काप्यन्या मनुस्मृतिः। समाजे प्रचलिताः नैकाः स्मृताः गीतायाः विस्मरणस्य कुपरिणामाः सन्ति। स्मृतयः केषांचित् राज्ञां संरक्षणे समुल्लिखिताः समाजे उत्तमाधमस्य उच्चनीचस्य वा भित्तिकां निर्मातुं तां दृढीकर्तुं च उपायाः सन्ति। मनोः नाम्ना प्राप्तप्रचाराः लब्धप्रसराच मनुस्मृतिः मनुकालीनवातावरणस्य साक्ष्यं नोपस्थापयति। मूलमनुस्मृतिः गीता एकं परमात्मानमेव सत्यं मानयति, तस्मिन् परमे प्रवेशं दापयति, किन्तु वर्तमानकाले प्रचलिताः न्यूनाधिकाः १६४ स्मृतयः परमात्मनः नाम ग्राहेऽपि ताः सन्ति मौनाः। न तु परमात्मप्राप्तौ कमप्युपायमाहुः, ताः केवलं स्वर्गस्यारक्षणे परिकरबद्धाः सत्यः यस्यास्तित्वं नाऽस्ति तदर्थप्रोत्साहनं ददति, तासु मोक्षस्योल्लेखोऽपि न दृष्टिपथायते।

महापुरुषाः–

महापुरुषो वाह्यस्य तथान्तरिकस्य, व्यावहारिकस्य तथाध्यात्मिकस्य लोकरीतेः, यथार्थ वेदरीतेश्च द्वयोः ज्ञानं धारयति। इदमेवास्ति कारणं यत् समस्त समाजस्य कृते महापुरुषाः दैनन्दिनाचरणस्य विधानमुपदिष्टवन्तः एकां मर्यादितां व्यवस्थां च दत्तवन्तः। वशिष्ठः, शुक्राचार्यः, स्वयं योगेश्वरः श्रीकृष्णः, महात्मा बुद्धः, मूसा, ईसा, मुहम्मदः, रामदासः, दयानन्दः, गुरुगोविन्दसिंहादयः सहस्रमिताः महापुरुषाः व्यवस्थां ददुः, किन्तु इमा व्यवस्थाः सामयिक्यो

भवन्ति। सन्तप्त समाजेभ्यः भौतिकवस्तुप्रदानं यथार्थं नास्ति। भौतिक बाधाः क्षणिकाः सन्ति न तु शाश्वतिका। एतदर्थं तेषां समाधानमपि तत्सामयिकम्भवति। चिरंतन व्यवस्थारूपेण तस्य ग्रहणं न कर्तुं शक्यते।

व्यवस्थाकाराः–

सामाजिकविकृतिसमूहं महापुरुषाः समादधति। चेदेतेषां समाधानं भवेत्तदा ज्ञानवैराग्यजनितस्य परमस्य साधनां कः श्रोष्यति। मानवो यस्मिन् वातावरणे निबद्धोऽस्ति, तं ततः निस्सार्य यथार्थं ज्ञातुं स्थितौ समानयनाय अनेकानेक प्रलोभनाः दीयन्ते। एतदर्थं महापुरुषाः यान् शब्दान् प्रयुञ्जन्ते, काश्चित् व्यवस्थाः ददन्ते न स धर्मः। तस्मात् शत्–द्विशत् वर्षाणां व्यवस्था चलति पञ्चषाशत् वर्षस्य कृते उदाहरणं निर्मीयते, सहस्र–द्विसहस्रवर्षान्तराले स सामाजिकः आविष्कारो नूतना–नूतना परिस्थितिभिः सह भवति निर्जीवः। गुरुगोविन्दसिंहस्य सामाजिकव्यवस्थायां शस्त्रमासीदनिवार्यम्। किमिदानीं तस्य खड्‌गस्य शस्त्र–स्थाने किमौचित्यम्। ईसा गर्दभमारुह्य चलति स्म। (मत्ती, २१) गर्दभानां सम्बन्धे तद्दत्त व्यवस्थायाः साम्प्रतं किमस्त्युपयोगः। उक्तवान्– कस्याऽपि गर्दभं मा चोरय। अद्य गर्दभं कः पालयति? इत्थमेव योगेश्वरः श्रीकृष्णः तात्कालिकसमाजं व्यवस्थितं कृतवान्, यस्य समुल्लेखः महाभारते भागवतादि ग्रन्थेषु लभ्यते, सहैवेषु ग्रन्थेषु स यथार्थस्यापि यत्र–तत्र चित्रणमकरोत्। परमकल्याणकारी साधनायाः, भौतिकव्यवस्थायाश्च निर्देशानेकत्रमेलनेन समाजस्तत्वनिर्णायकक्रमं पूर्णतया बोद्धुं न शक्नोति। भौतिकव्यवस्थां सः यथार्थेन नहि, प्रत्युत् आधिक्येन प्रकल्प्य गृह्णाति, कुतोहि स भौतिकोऽस्ति। 'महापुरुषस्य कथनमस्ति' एवं कथयित्वा एतासां व्यवस्थानां कृते महापुरुषान् आर्तध्वनिभिः स्मरन्ति। ते महापुरुषाणां वास्तविकक्रियां छिन्नं–भिन्नं कृत्वा तां क्रियां भ्रामकीं कुर्वन्ति। वेदस्य, रामायणस्य, महाभारतस्य, बाइबिलस्य, कुरानादेः सर्वेषां कृते पूर्वाग्रहयुक्ता शिथिलाः धारणाः शेषाः सन्ति।

गीता मनुष्यमात्रार्थम्–

पतञ्जलीत्यादयो नैके महापुरुषाः परमश्रेयसो यथार्थविधिं सामाजिक–व्यवस्थातोऽपसार्य पृथक् प्रस्तुतं कृतवन्तः। योगेश्वरः श्रीकृष्णोऽपि पृथक्करणं

कल्याणकरममन्यत। उत्तमाधिकारिणः प्रत्येव स तदभिव्यक्तं कृतवान्। श्रीकृष्णः वारम्वारमुक्तवान् यदतिशयप्रीतिधारकं त्वां भक्तं प्रति हितेच्छया कथयामि। इदं परमगुह्यमस्ति। अन्ततस्तेनोक्तम्– यदि भक्तो नास्ति तर्हि प्रतीक्षस्व, तं तत्पथोपरि समानय, पुनस्तं बोधय। इयं गीता मनुष्यमात्रस्य कृते यथार्थकल्याणस्य एकमात्रं साधनमस्ति, यस्य क्रमबद्धवर्णनं श्रीकृष्णोक्त 'गीता' अस्ति।

प्रस्तुत टीकाः–

योगेश्वरश्रीकृष्णस्याशयं याथातथ्येनाभिव्यक्तिकरणकारणात् प्रस्तुत–टीकायाः नाम 'यथार्थगीता' अस्ति। गीता स्वस्मिन् पूर्णरूपेण साधनग्रन्थोऽस्ति। सम्पूर्णगीतायां सन्देहस्य एकमपि स्थलं न वर्तते। यत्र कुत्राऽपि सन्देहो विद्यते, स बौद्धिक स्तरद्वारेण ज्ञातुं न शक्यते, अतः सन्देहः प्रतीयते। अतः कुत्रचित् गीताशयः बुद्धिपथे नागच्छेत्तदा कस्यचित्तत्त्वदर्शिनो महापुरुषस्य सान्निध्यमाश्रित्य बोद्धुं प्रयासः करणीयः।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

निवेदनम्

इयं 'यथार्थगीता' योगेश्वरश्रीकृष्णस्य परमपवित्रवाण्याः श्रीमद्भवद्गीताया एवार्थोऽस्ति। अस्यां गीतायां भवतां हृदयस्थ परमात्मनः प्राप्तेर्विधानस्य, प्राप्तेः पश्चाच्च विहितं चित्रणमस्ति। अवहेलनायाः दृष्टयाऽस्योपयोगो वर्जितोविद्यते, अन्यथा वयं स्वलक्ष्यबोधात् वञ्चिता भविष्यामः। अस्याः श्रद्धापूर्वकाध्ययनेन मानवः स्वकल्याणसाधनैः परिपूरितो भवति, तथाचेतो यत् किञ्चित् ग्रहणं करिष्यति तदा परमश्रेयसः प्राप्तिं करिष्यति; कुतोहि परमात्मनः पथ्यस्मिन् कदाप्यारम्भस्य विनाशो न भवति।

–स्वामी अड़गड़ानन्दः

'कैसेट' प्रसारणेऽध्यायानां पूर्वस्य भूमिका

(१) केवलमेकस्मिन् परमात्मनि श्रद्धायाः समर्पणस्य च सन्देशदात्री गीता सकलं मानवसमाजं पवित्रं कर्तुमनावृत्तमामन्त्रणं ददाति। सृष्टौ कुत्राऽपि निवसतां लब्धभौतिकभोगसुखानामथवा भौतिकसुखविहीनानां, कुलीनानां तथा आदिवासिनां, पुण्यात्मानां पापिनां च, नारीणां नृणां च, सदाचारिणा-मत्यन्तदुराचारिणां च- सर्वेषां तस्मिन् परमात्मनि वर्तते सहजः प्रवेशः। विशेषतः गीता पापिनामुद्धारस्य सुगमं पन्थानं प्रकाशयति, पुण्यात्मनस्तु भजन्त्येव। तस्याः गीतायाः अद्वितीयव्याख्यास्वरूपायाः 'यथार्थगीतायाः' कैसेट प्रसारणस्य प्रस्तुतिः।

(२) शास्त्रस्य रचनोभाभ्यां दृष्ट्या क्रियते- एका तु सामाजिकव्यवस्थायाः संस्कृतेश्च संरक्षणात्मिका, यया जनाः पूर्वजानां पदचिह्नानि समनुकर्तुं शक्नुयुः, अपराचेयं यत्ते जनाः शाश्वतीं शान्तिप्राप्तौ भवन्तु समर्थाः। रामचरितमानसे, बाइबिले, कुरानप्रभृतिषु ग्रन्थेषु पक्षद्वयस्य समावेशः परिलक्ष्यते, किन्तु भौतिक-दृष्टिप्रधानतया मानवः समाजोपयोगिनींव्यवस्थामेव संगृह्णाति। आध्यात्मिक सूक्तिपुञ्जमप्यसौ सामाजिकव्यवस्थासन्दर्भे परिपश्यति, कथयति च शास्त्रेष्वित्थं लिखितमस्ति। एतस्मात् कारणात् वेदव्यासः उभयार्थमेकएव महाभारतं ग्रन्थं विलिखन्सनप्याध्यात्मिकक्रियायाः संकलनं गीतायाः रूपेण पृथक् कृतवान्, येन जना अस्मिन् कल्याणपथे भ्रान्तेः सम्मिश्रणं न कर्तुं शक्नुयुः। तैराध्यात्मिक-मूल्यैः सह प्रस्तुतमस्ति गीतायाः दिव्यसन्देशः।

(३) गीता कस्याऽपि विशेषव्यक्तेः, कस्याऽपिजातेः, कस्याऽपि वर्गस्य, कस्यापि पथः, देशकालस्य तथा रूढिग्रस्तसम्प्रदायस्य ग्रन्थो नाऽस्ति, प्रत्युत् गीतेयं सार्वलौकिकं तथा सार्वकालिकं धर्मशास्त्रमस्ति। इयं गीता प्रत्येकदेशस्य कृते, सर्वजाति हिताय, नानायुयुक्त प्रत्येकं नारी नराणां कृते किं बहुना समस्त मानवस्य कृतेऽस्ति। सच्चामुचं गीता सम्पूर्णमानवजातीनां धर्मशास्त्रमस्ति। अतः परं कियद् गौरवस्य वृत्तमिदं यत् गीता भवतां धर्मशास्त्रमस्ति।

(४) पूज्यभगवान् महावीरः, तथागतभगवान्बुद्धश्चोभौ परमविज्ञौ सन्तावपि

स्वस्वोपदेशप्रयुक्त लोकभाषामाध्यमेन गीताया एव संदेशवाहकौ स्तः। अयमात्मा सत्यमस्ति तथा च पूर्णसंयमेन आत्मस्थितिप्राप्तेः विधानमस्ति, अयं विचारः गीतायामेव समुल्लसति। महात्माबुद्धः गीतोक्त 'ॐ' इति अनादि तत्त्वं सर्वज्ञपदेन, अविनाशी पदेन च व्याख्याय गीताया एव विचारं परिपोषितवान्। एतावदेव नहि, प्रत्युत् विश्वसाहित्ये धर्मस्य नामोपरि यावत् किमपि सार– सर्वस्वमस्ति– यथा हि ईश्वर एकः, प्रार्थना एका, पश्चाताप एकः, तप एकमित्यादि गीताया एव सन्त्युपदेशाः। तदेवोपदेशः स्वामिनः श्रीअड़गड़ानन्दस्य मुखारविन्दादवतरितः 'यथार्थगीतायाः' कैसेटरूपे मानवमात्रस्य मुक्तेर्दिव्यसन्देशो भूत्वा उपस्थितो वर्तते।

(५) भारतस्य लोकगाथासु वर्णनमस्ति यत् सुकरातस्य शिष्यपरम्पराया उत्कृष्टमनीषी, अरस्तू स्वपरमशिष्यसिकन्दरमादिष्टवान् यत् भारतवर्षात् गीताज्ञानसम्पन्न गुरुमानय। गीताया एव एकेश्वरवाद मतं विश्वस्य विविध भाषासु मूसा, ईसा तथा अन्य सूफी महात्मानः प्रचारितवन्तः। भाषान्तरकारणादत्र पृथकता प्रतीयते; किन्तु सिद्धान्तस्य बीजं गीताया एवास्ति। अतो गीता मानव मात्रस्य अतर्क्यं धर्मशास्त्रमस्ति। गीताया आशयं 'यथार्थगीतायाः' रूपेण प्रस्तूय स्वामिश्रीअड़गड़ानन्दमहाराजो मानवमात्रस्य कृते बहुमूल्यामेकां निधिमददात्, यस्य कैसेटीकरणं भाई श्रीजीतेन महोदयस्य सौजन्येन समभवत्। गीतायाः दशसहस्राधिकानुवादानां मध्ये दैदीप्यमानाया व्याख्याएतद्लोके भवन्तः सर्वे परमश्रेयसः साधका भवन्तु।

(६) संसारे प्रचलिताः सर्वे धर्माः गीताया दूरस्थप्रतिध्वनेर्मात्रं सन्ति प्रतीकाः। स्वामिश्रीअड़गड़ानन्दमहाराजेन कृताया अस्याः व्याख्यां 'यथार्थगीतां' संश्रुत्य जैनकुलोत्पन्नः श्रीभाईजीतेनः महोदयो व्रतं जग्राह यत् कैसेटानां माध्यमेनैतस्याः प्रसारणं करवाणि, कुतोहि भगवतो महावीरस्य, भगवतो गौतमबुद्धस्य, गुरुनानकस्य, कबीरादि महापुरुषाणां च श्रद्धापूरित तपः सिद्धान्तानां सर्वोच्चतमा अभिव्यक्तिरस्ति गीता। गीताया एव तानि कैसेट कुसुमानि भवतां समक्षमात्मदर्शनार्थं प्रस्तुतानि सन्ति।

(७) गीतावतारस्य द्विसहस्त्रवर्षावधौ धर्मनामोपरि सम्प्रदायस्य निर्माणो न जातः। अस्मात् कारणात् गीता सम्प्रदायसीमामुक्तास्ति। तस्मिन्काले विश्व–बुद्धिवैभवसंसारे एकमेव शास्त्रं गुञ्जायमानमासीत्– उपनिषदां सारं गीता ! मोक्षस्य समृद्धेश्च स्त्रोतो गीता ! शास्त्राध्ययनापेक्षया तस्य श्रवणमधिकं लाभदायकमस्ति, कुतोहि उच्चारणस्य शुद्धताविचारविषये मनस एकाग्रता विच्छिन्ना भवति। एतस्मात्कारणात् सरलभाषायां रूपान्तरितानि यथार्थ गीतायाः कैसेटानीमानि भवतसेवायां सन्ति प्रस्तुतानि। एतेषां श्रवणेन प्रति शिशुषु, पार्श्ववर्तिषु परमात्मनः शुभसंस्कारस्य सञ्चारो भविष्यति, भवतो भवनस्य प्रांगणस्य च वायुमण्डलमपि तपोभूमिवत् सुरभितं भविष्यति।

(८) तद्गृहं श्मशानतुल्यं यत्र न भवेत् परमात्मनश्चर्चा। आधुनिक–मानव ईयान् व्यस्तो वर्तते यदिच्छन्नपि भजनार्थं समयं न निस्सारयितुं शक्नोति। अस्यां परिस्थितौ गीतायाः सन्देशाः कर्णविवर गोचराश्चेत् भवेयुस्तदापि परमश्रेयसः समृद्धेश्च संस्काराणां बीजारोपणं वोभवीतीति। भगवद्वाण्याः प्रतीकैरेभिः कैसेटैः प्रतिदिनं तस्य परमात्मनः स्मरणं जागरिष्यति– इयमेव च भजनस्याधारशिलाऽस्ति।

(९) स्वशिशून् वयं शिक्षांदापयामः यत्ते सुसंस्काराणामर्जनं कुर्वन्तु। सुसंस्काराणामाशयं जना इत्थं मन्यन्ते यत्तते स्वजीविका भोजनावासविकास–सम्बद्धसमस्यानां समाधानं ईहन्ते। ईश्वरं प्रति न भवति कस्यापि ध्यानम्। केषांचिन्नराणां सन्निधौ एतावद्वैभवं वर्तते, यत्तेषां कृते परमात्मनः स्मरणाय न प्रतीयते काचिदावश्यकता, किन्तु, एतत्सर्वं पार्थिवमेवास्ति। अनिच्छन्नपि सर्वं वैभवं इहैव विहाय गमनं भवत्यनिवार्यम्। अस्यां स्थितौ ईश्वरस्य परिचयैव एकमात्रं सम्बलमस्ति, यस्य वितरणं करोति 'यथार्थगीतायाः' एतत् कैसेट प्रसारणम् :–

(१०) संसारे यावन्तो धार्मिकमतमतान्तराणि सन्ति, सर्वाणि तानि कस्यचि–न्महापुरुषस्य पृष्ठानुगामी श्रद्धालुनांसंघटितः समाजो बोधव्यः। महापुरुषाणां एकान्तभजनस्थल्येव कालान्तरे तीर्थस्य, आश्रमस्य, मठस्य, मन्दिरस्य च

रूपमादधाति, यत्र महापुरुषाणां प्रस्थानानन्तरं तेषां स्मृतौ सिद्धपीठस्य स्थापनं भवति, एवमुक्तसिद्धपीठाश्रमेण न भवति कोऽपि महापुरुषः। एतस्माद्धर्मः चिरतः एव प्रत्यक्षदर्शीमहापुरुषस्य क्षेत्रगतवस्त्वासीत्। गीता एतादृशस्यैव निर्विवादमहापुरुषयोगेश्वरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्यामरवागस्ति, यस्य चिरन्तन-सत्यसमूहैर्भवतां साक्षात्कारं कारयति 'यथार्थगीतायाः' एतत् कैसेट प्रसारणम्।

'गीता' भवतां धर्मशास्त्रमस्ति।

विश्वे प्रचलितानां समस्त
धार्मिकविचाराणां
प्रथमोद्‌गमस्थलभारतस्य
निखिलाध्यात्मज्ञानस्य
आत्मस्थितिः
दापयितृणामखिलशोधानां च
साधनक्रमस्य स्पष्टं वर्णनमस्यां
गीतायामस्ति। यस्यामीश्वर
एकः, तत्प्राप्तेः क्रियाप्येका,
प्राप्तिमार्गे अनुकम्पाप्येका
तथा परिणामश्चैकोऽस्ति-
तदस्ति प्रभुदर्शनम्,
भगवत्स्वरूपस्य प्राप्तिः,
कालातीतानन्तजीवनञ्च।
द्रष्टव्या- 'यथार्थगीता'।

शास्त्रम्

परमात्मनि प्रवेशयितुं क्रियात्मकानुशासनानां नियमानां संकलनमेव शास्त्रमस्ति। अनया दृष्ट्या भगवता श्रीकृष्णेनोक्ता गीता सनातन-शाश्वतधर्मस्य शुद्धशास्त्रमस्ति। या चतुर्णां वेदानां, उपनिषदां, समस्तयोगशास्त्राणां, रामचरितमानसस्य तथा विश्वस्य निखिलदर्शनशास्त्रणामेकाकिन्येव प्रतिनिधित्वं करोति। गीता मानवमात्रस्य कृते धर्मस्यातर्क्यं शास्त्रमस्ति।

परमात्मनिवासः

स सर्वसमर्थोऽविनाशी परमात्मा मानवस्य हृदये निवसति। सम्पूर्णभावेन तस्य शरणं गन्तुं विधानमस्ति, येन शाश्वतं धाम, सदाविद्यमाना-शान्तिस्तथानन्तजीवनस्य, प्राप्तिर्भवति।

सन्देशः

सत्यवस्तुनः, त्रिषु कालेषु नास्त्यभावः, असत्यवस्तुनश्चास्तित्वं नास्ति। परमात्मैव त्रिषु कालेषु सत्यमस्ति, शाश्वतमस्ति, सनातनमस्ति।

–स्वामी अड़गड़ानन्दः

५२००

वर्षाणां
दीर्घान्तरालानन्तरं
श्रीमद्भगवद्गीतायाः
शाश्वती व्याख्या

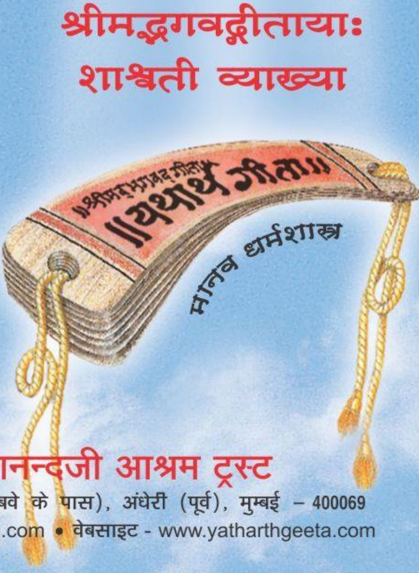

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069
फोन - (022) 28255300 • ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com • वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com